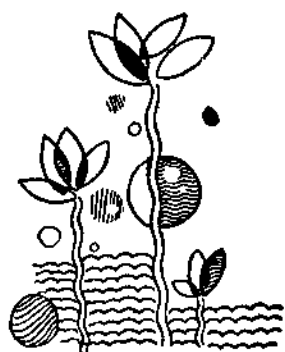


आनन्द प्रवचन

आचार्य श्री आनन्द ऋषि



आनन्द प्रवचन

तृतीय भाग

भगवान महावीर की पच्चीसवीं निवर्णि शताब्दी समारोह के उपलक्ष में

आनन्द प्रवचन

तृतीय भाग

प्रवचनकार :

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज

संप्रेरक :

श्री कुन्दन ऋषि

सम्पादिका :

कमला जैन 'जीजी'

प्रकाशक :—

श्रीरत्न जैन पुस्तकालय

बुरुडगाँव रोड—ग्रहमदनगर

आनन्द प्रवचन : तृतीय भाग

पृष्ठ : ३४८

प्रकाशक :

श्रीरत्न जैन पुस्तकालय

बुरुडगाँव रोड—अहमदनगर (महाराष्ट्र)

प्रकाशन :

वि० सं० २०२६, बसन्त पंचमी

१६७३, फरवरी

द्वितीय संस्करण १६८३

व्यवस्था—

जैन भारती प्रकाशन,

जैन नगर मेरठ—२

मुद्रक :

प्रेमभूषण जैन के लिये

सनराईज प्रिन्टर्स,

५४६, सुभाष नगर, मेरठ १

मूल्य : १५/ (पन्द्रह रुपये मात्र)

प्रकाशकीय

श्रमण संघ के द्वितीय पट्टधर परमश्रद्धेय आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० सा० के प्रवचनों का संग्रह पाठकों में लोकप्रिय होता जा रहा है, अध्यात्म-रसिक जिज्ञासुओं में उसकी माँग बढ़ती जा रही है—यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।

आचार्य श्री की प्रवचन माला का योजनाबद्ध प्रकाशन हमने गत वर्ष ही प्रारम्भ किया था। इसकी मूल प्रेरणा तो हमें जिज्ञासु पाठकों से ही मिली, उसी से प्रभावित होकर आचार्य श्री के अंतेवासी एवं सुयोग्य शिष्य श्री कुन्दन-ऋषि जी ने प्रवचन-प्रकाशन की भावना विगत खुशालपुरा चातुर्मास में श्रावक संघ के समक्ष व्यक्त की। वहाँ के उत्साही श्रावक संघ ने इन प्रवचनों के संकलन एवं सम्पादन-प्रकाशन में उचित उत्साह प्रदर्शित किया और यह कल्पना साकार रूप लेने लगी। अल्पसमय में ही “आनन्द प्रवचन” के दो भाग प्रकाशित हो गये और यह तृतीय भाग आपके समक्ष है।

प्रवचनों का संपादन बहन कमला जैन ‘जीजी’ ने बड़ी ही कुशलता तथा शीघ्रता के साथ किया है। इनके प्रकाशन में भी अनेक सद्गृहस्थों ने सहयोग प्रदान किया है (जिनकी शुभ नामावली अगले पृष्ठों पर अंकित है) साथ ही श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना ‘सरस’ ने इनको सुन्दर व शीघ्र मुद्रित कराकर पुस्तकाकार रूप दिया है। पंडितरत्न श्री विजयमुनि जी शास्त्री ने इसका आदि वचन लिखकर पुस्तक के गौरव में चार चाँद लगा दिये हैं। इन सबके उदार सहयोग के प्रति हम कृतज्ञ हैं।

द्वितीयावृत्ति के प्रकाशन

प्रसन्नता की बात है कि पूज्य आचार्य श्री के प्रवचनों को जैन-अजैन जनता ने हृदय से अपनाया है। तृतीय भाग की प्रतियाँ समाप्त हो जाने पर श्री जैन भारती प्रकाशन के संचालक श्री प्रेमभूषण जी जैन ने अपनी देख-रेख में इसका पुनर्मुद्रण अल्प समय में कराया है, जिसके लिए हम हृदय से इनके अत्यन्त आभारी हैं।

मन्त्री

श्रीरत्न जैन पुस्तकालय,
बुहडगाँव रोड, अहमदनगर

हमारा महत्वपूर्ण साहित्य

- + अध्यात्म दशहरा
 - + समाजस्थिति दिग्दर्शन
 - + ज्ञानकुँजर दीपिका
 - + अमृत काव्य-संग्रह
 - + तिलोक काव्य-संग्रह
 - + चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न
 - + संस्कार (उपन्यास)
 - + ध्रमण संस्कृति के प्रतीक
 - + ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास
 - + आनन्द प्रवचन (१ से १२ भाग तक)
 - + स्याद्वाद सिद्धान्त : एक अनुशीलन
 - + श्री तिलोक शताब्दी अभिनन्दन ग्रन्थ
 - + भावना.योग
 - + तीर्थंकर महावीर
-

जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति का सार ज्ञान देने वाला प्रतिनिधि मासिक—

सुधर्मा

आप पढ़िए, औरों को प्रेरणा दीजिए। सम्पूर्ण साहित्य के लिए पत्र-व्यवहार करें—

श्रीरत्न जैन पुस्तकालय

बुरुडगाँव रोड—अहमदनगर (महाराष्ट्र)

आजीवन सदस्यता—१५१

आनन्द प्रवचन—तृतीय भाग के प्रकाशन में उदारतापूर्वक सहयोग

देने वाले सद्वृहस्थों की

शुभ नामावली

- १००१) राजमलजी बाफना, गौतमपुरा
१००१) मानकचन्दजी राजमलजी जैन, इन्दौर
११०१) मैनाबाई जैन, देहली
५०१) सौ० चन्द्रकुंवर बाई चन्दनमल जी जैन, सुजालपुर मण्डी
५०१) मुन्सीराम टेकचन्दजी जैन, देहली
५०१) फूलचन्दजी फूलफगर, औरंगाबाद
५०१) पृथ्वीराजजी चन्दूलाल जी बोधरा, चाकन
५०१) रामा जैन हौजरी, लुधियाना
५०१) गेनमलजी मानकचन्द जी भलगट, नारायणगाँव
५००) भिकचन्दजी चन्दनमल जी रांका, खुशालपुरा
५०१) पानकुंवर बाई C/o पन्नालाल जी जांगड़ा, जालना
५०१) बिरजीबाई C/o चम्पालाल जी बैद, चन्द्रपुर
५०१) सौ० सन्तोषदेवी प्रेमसागर जी जैन, गोविन्दगढ़
५०१) जमनालाल जी रामलाल जी किमती, इन्दौर
२५०) ज्ञानचन्द जी चमन लाल जी जैन, मालेर कोटला
२५०) पन्नादेवी C/o खेरातीलाल जी जैन, "
२५०) टेकचन्द्र जी जैन, "
२५०) विरुमल जी रामधारीलाल जी जैन "
२५०) श्रीराम जी सराफ जैन,
२५०) हकुमचन्द्र जी जैन ओसवाल, "
१५१) लखमीचन्द जी हस्तीमल जी ओसवाल, शाजापुर
१५०) जगन्नाथ जी सुरेन्द्र कुमार जी जैन, मालेरकोटला
१०१) गण्डाराम जी जैन "
२५१) जवाहरलाल जी सायरचन्द्र जी धोका, यादगीरी

विषय-सूची

१ कल्याणकारिणी क्रिया	१
२ पुरुषार्थ से सिद्धि	२१
३ निद्रा त्यागो !	३३
४ अल्पभोजन और ज्ञानार्जन	४४
५ मौन की महिमा	५३
६ सत्संगति दुर्लभ संसारा	६५
७ ज्ञान प्राप्ति का साधन : विनय	६७
८ तपो हि परमं श्रेयः	६४
९ असार संसार	१०३
१० स्वाध्याय : परम तप	१२०
११ दीप से दीप जलाओ !	१३०
१२ इन्द्रियों को सही दिशा बताओ !	१४१
१३ आत्म-शुद्धि का मार्ग : चारित्र	१५२
१४ तपश्चरण किसलिए ?	१६५
१५ विनय का सुफल	१७६
१६ सत्य का अपूर्व बल	१६३
१७ आत्म-साधना का मार्ग	२०४
१८ मुक्ति का मूल : श्रद्धा	२१७
१९ समय का मूल्य आँको !	२२६
२० मानव जीवन की सफलता	२३६
२१ समय कम : मंजिल दूर	२५२
२२ समय से पहले चेतो !	२६१
२३ व्रत की वाञ्छा मत करो	२७८
२४ रुकोमत ! किनारा समीप है	२९१
२५ काँटों से बचकर चलो !	३०१
२६ मुनकर हृदयंगम करो !	३१४
२७ जीवन को नियन्त्रण में रखो !	३२६
२८ विजयादशमी को धर्ममय बनाओ !	३३६

आदिवचन

परमश्रद्धेय आचार्य सम्राट् पूज्यप्रवर श्री आनन्दऋषि जी महाराज से आज कौन व्यक्ति अपरिचित होगा ? उनके परिचितों को खोज निकालना कठिन नहीं है । लेकिन उस व्यक्ति को खोज निकालना सरल बात नहीं होगी, जो उनके जादू-भरे व्यक्तित्व से आज तक अपरिचित रहा हो । समग्र जैन समाज ही आज उन्हें अपना द्वेष नहीं मानता, बल्कि जो जैन नहीं हैं, वे जैनों से भी अधिक तन्मयता के साथ, अपार निष्ठा के साथ, उन्हें अपना पूज्य मानते हैं, उन्हें अपना देवता मानते हैं, उन्हें अपना भगवान मानते हैं । वस्तुतः आचार्य श्री अपने में महानतम हैं ।

अभी पिछले वर्ष तक मैं महाराष्ट्र में था । महाराष्ट्र प्रान्त के नगर-नगर में और ग्राम-ग्राम में मैंने परिभ्रमण किया है । आचार्यश्री की जन्मभूमि और दीक्षाभूमि भी देखने का सद्भाग्य मुझे मिला । मैं यह देखकर चकित रह गया कि महाराष्ट्र की जनता के मन पर उनके जादू-भरे व्यक्तित्व की एक अमिट छाप है । वहाँ के लोग आनन्द-विभोर होकर कहते हैं—“मानव जीवन का चरम लक्ष्य है आनन्द ! और वह हमें मिल गया है । इस आनन्द को पाकर हम स्वयं आनन्दमय चित्त में इतने निमग्न हो चुके हैं कि अब हमें किसी अन्य आनन्द की न आकांक्षा है, और न अभिलाषा ही ।” इसी को मैं व्यक्तित्व का चमत्कार कहता हूँ । यही है, जीवन की उच्चतम दशा ।

आज का बुद्धिवादी व्यक्ति इस भावना को श्रद्धा का अतिरेक भी कह सकता है । परन्तु, यदि किसी मानव ने आज तक कुछ पाया है, तो यह सत्य है कि वह उसे श्रद्धा के अतिरेक में से ही उपलब्ध हो सका है । अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो कुछ पाया, गौतम ने महावीर से जो कुछ पाया, तथा आनन्द ने बुद्ध से जो कुछ पाया, वह सब कुछ श्रद्धा की चरम-परिणति है । श्रद्धा-शून्य व्यक्ति को कुछ भी उपलब्ध करने की निश्चित ही असंभावना है । आचार्यश्री स्वयं ही श्रद्धामय पुरुष हैं । श्रद्धा ही उनका जीवन है, और श्रद्धा ही उनका प्राण है । श्रद्धा में से श्रद्धा ही उपलब्ध हो सकती है, अश्रद्धा कभी नहीं ।

महाराष्ट्र संतों की पावन-भूमि रहा है । महाराष्ट्र की भूमि के कण-कण में श्रद्धा, प्रेम और सद्भाव परिव्याप्त है । यदि महाराष्ट्र का वास्तविक

परिचय पाना हो, तो आपको कम से कम वहाँ के तीन संतों का परिचय पाना ही होगा—संत ज्ञानेश्वर, संत तुकाराम, और संत समर्थरामदास । संत ज्ञानेश्वर ने गीता पर जो ज्ञानेश्वरी टीका लिखी है, वह उनकी शिक्षा का फल नहीं है, वह उनके अनुभव का परिणाम है । संत तुकाराम ने जो अभंग छन्दों में पद्यों की रचना की है, वह किसी स्कूल की शिक्षा नहीं है, वह उनके जीवन की गहराई में से मुखरित हुआ है । संत समर्थरामदास ने अपने दास बोध में जो कुछ लिखा है, जो कुछ बोला है, और जो कुछ उपदेश दिया है, वह कहीं बाहर से नहीं, उनके हृदय के अन्तस्तल से ही अभिव्यक्त हुआ है । महाराष्ट्र के संतों की इस पावन-परम्परा की जीवन्त कड़ी है परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट आनन्दकृषि जी महाराज । गुरु कौन हैं ? संत का लक्षण क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में अध्यात्मयोगी श्रीमद राजचन्द्र जी ने अपने आत्मसिद्धि ग्रन्थ में कहा था—

आत्म-ज्ञान समदर्शिता,
विचरे उदय प्रयोग ।
अपूर्ववाणी परमश्रुत,
सद्गुरु लक्षण योग्य ॥

आचार्य श्री इस अर्थ में वे गुरु हैं, जिसमें समस्त लक्षण घटित हो जाते हैं । उनकी वाणी निश्चय ही अपूर्व है । उनका श्रुत निर्मल है । आत्म-ज्ञान ही उनके जीवन का लक्ष्य है । शान्त स्वभाव होने के कारण और उदार भावना के कारण समदर्शिता भी उनमें मुखरित हो उठी है । संत तुकाराम के शब्दों में वे जब महाराष्ट्र की जनता को अपनी वाणी से मन्त्र-मुग्ध कर देते हैं, तो जनता झूम उठती है । जिन लोगों ने उनकी अमृत वाणी का पान मराठी भाषा में किया है, वे कहा करते हैं कि जितना माधुर्य और जितना ओज, उनकी मराठी भाषा में है, उतना अन्य भाषा में नहीं । अपने प्रवचन के मध्य में जब वे ज्ञानेश्वर की ओड़ी और संत तुकाराम का अभंग तथा समर्थ रामदास जी का “मनांचे श्लोका” बोलते हैं तो ऐसा लगता है कि वे तीनों संत ही साक्षात् अपने सहज भाव में और सहज स्वर में बोल रहे हों । यही कारण है कि उनके प्रवचनों में मराठी भाषा की कविताएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं । जैसे—

पोटा साठी खटपड करिशी अवधा बोल ।
राम नाप धेता तुझी बसती दातखील ॥

पेट के लिए तो तुम हर समय खटपट करते हो। कभी भाषणवादी, कभी लोगों को भुलावा देनेवाली चटपटी बातें, और कभी धन-कुबेरों की अथवा अफसरों की खुशामद करने में नहीं चूकते। किन्तु जब ईश्वर-भजन करने का अथवा राम-नाम लेने का समय आता है, तो मानो तुम्हारी जबान गूँधी हो जाती है, अथवा तुम्हारे दाँत एक-दूसरे से चिपक जाते हैं। संत तुकाराम का एक दूसरा अंभंग भी पढ़िए और उसका आनन्द लीजिए—

द्रव्याच्चि या आशा तुजला दाही दिशा न पुरती ।

कीर्तनाशी जाता तुझी जड़ झाली माती ॥

इस धन की अभिलाषा लिए हुए तो तुम दसों दिशाओं में जाने के लिये सदा तैयार रहते हो, यहाँ तक कि दस दिशाएँ भी तुम्हारे लिये पूरी नहीं पड़तीं। किन्तु, धर्म की साधनारूपी एक दिशा में जाना तुम्हारे लिये कठिन हो जाता है। संत तुकाराम अपने एक दूसरे अंभंग में संसारी आत्माओं को उद्बोधन देते हुए कहते हैं कि—

“आशान्तृष्णा माया अपमानाचे बीज,

नाशिल या पूज्य होइजे ते ।”

आशा, तृष्णा और माया ये तीनों अपमान के बीज हैं इनका नाश करने पर ही मनुष्य पूजनीय हो सकता है। वस्तुतः भारतीय संतों ने जहाँ वैराग्य-सरिता प्रवाहित की है, वहाँ उन्होंने इच्छा, तृष्णा एवं माया का भी विरोध किया है। आचार्य श्री की वाणी में, उनके अमृतमय प्रवचनों में इस प्रकार के उद्धरण स्थान-स्थान पर मोती के समान जड़ित होते रहते हैं, और उनका प्रभाव श्रोताओं के मन एवं मस्तिष्कों पर गहरी छाप छोड़ जाते हैं। इसी प्रकार आचार्य श्री के प्रवचनों में प्राकृतभाषा, संस्कृतभाषा, हिन्दी भाषा और फारसी भाषा के पद्य भी यथा-प्रसंग और यथावसर सहजभाव से उनके श्री मुख से फूल जैसे झरते रहते हैं। यह उनके अपने प्रवचनों की एक विशेषता ही है कि वे अपने अनुभाव का समन्वय अपने से पूर्व आचार्यों एवं संतों की वाणी से करते जाते हैं। यही कारण है कि उनके प्रवचनों में माधुर्य एवं गांभीर्य प्रस्फुटित होता रहता है। आचार्य श्री की प्रवचन शैली बड़ी अद्भुत है, उनकी भाषा बड़ी मधुर है, और उनके भाव गम्भीर होने पर भी सर्व सामान्य जनता की पकड़ में आसानी से आ जाते हैं वक्तृत्वकला की यह सबसे बड़ी सिद्धि एवं सबसे बड़ी सफलता मैं मानता हूँ।

आचार्य श्री के प्रवचनों का संकलन, संपादन एवं प्रकाशन होना प्रारम्भ

हो चुका है। यदि आज से बहुत वर्षों पहले यह कार्य प्रारम्भ हो गया होता तो अभी तक जनता काफी लाभान्वित हो चुकी होती। आनन्द-प्रवचन के प्रथम भाग एवं द्वितीय भाग प्रकाशित हो चुके हैं और अब तृतीय भाग प्रकाशित हो रहा है। इस तीसरे भाग में जीवनोपयोगी तथा हृदय-स्पर्शी अनेक विषयों का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। जैसे—क्रिया, ज्ञान और श्रद्धा। पुरुषार्थ से सिद्धि, निद्रा त्यागो, अल्प भोजन और ज्ञान साधना, मौन की महिमा, सत्संगति दुर्लभ संसारा, ज्ञान प्राप्ति का साधन : विनय, तपो हि परमं श्रेयः, असार-संसार, स्वाध्याय : परम तप, दीप से दीप जलाओ, इन्द्रियों को सही दिशा बताओ, तपश्चरण किसलिए ? विनय का सुफल, सत्य का अपूर्व बल, आत्म-साधना का मार्ग, मुक्ति का मूल : श्रद्धा आदि-आदि अनेक नैतिक एवं धार्मिक विषय इस तृतीय भाग में संकलित एवं सम्पादित किये गए हैं।

आनन्द-प्रवचन के तृतीय भाग में संपादक ने जो श्रम किया है, निश्चय ही वह सफल हो गया है। प्रकाशक ने इन प्रवचनों का प्रकाशन करके धार्मिक जनता के मानस में सुसंस्करणों का जो बीज-वपन किया है, वे अवश्य ही धन्य-वाद के पात्र हैं। परम स्नेही मुनिवर पं० प्रवर श्री कुन्दनऋषिजी ने इतने सुन्दर प्रवचनों का संकलन कराने का जो श्रेय किया है, उनके लिए मैं परम प्रसन्न हूँ। आशा है, भविष्य में भी वे अपने इस प्रयत्न को गतिशील रखेंगे। प्रसिद्ध साहित्यकार एवं लेखक श्रीचन्द्रजी सुराणा 'सरस' के परिश्रम ने एवं उनकी मुद्रण कला ने प्रस्तुत प्रकाशन में निश्चय ही सोने में सुगन्ध का कार्य किया है। ये सभी सहयोगी बड़े भागी हैं, इस अर्थ में कि इन्होंने एक महा-पुरुष की वाणी को सामान्य जनता तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है।

जैन भवन

विजयमुनि शास्त्री

मोती कटारा, आगरा

२६-१२-७२

अपनी बात

पाठको !

आपने कहीं पढ़ा होगा कि स्वामी विवेकानन्द जी घूमते-घूमते एक बार किसी ऐसे स्थान पर जा पहुँचे, जहाँ किसी भवन का निर्माण कार्य चल रहा था। अनेकों कारीगर और मजदूर अपने-अपने कार्य में जुटे हुए थे।

स्वामी जी कुछ देर ठहर कर यह देखते रहे। इतने में एक व्यक्ति ईंटें और पत्थर अपने मस्तक पर ढोकर लाता हुआ दिखाई दिया। विवेकानन्दजी ने कुतूहलवश उससे पूछ लिया—“भाई ! यहाँ क्या बना रहे हो तुम ?”

उस व्यक्ति ने स्वामी जी को देखा तो अपने मस्तक पर रखा हुआ ईंटों का तसला नीचे पृथ्वी पर रख दिया और हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए अत्यन्त गद्गद् स्वर से बोला—“महाराज ! यहाँ भगवान का मन्दिर बन रहा है। वग जाने पर सैकड़ों-हजारों व्यक्ति आकर देव-दर्शन करेंगे तथा भक्तिपूर्वक पूजा-पाठ करके मनवाञ्छित फल पाएँगे। मैं भी बड़ा भाग्यवान हूँ कि मुझे पहले ही भगवान के इस मन्दिर के निर्माण कार्य-में अपना थोड़ा-सा सहयोग देने का सुअवसर मिल गया है।”

बन्धुओ, इसी प्रकार श्रमण संघ के आचार्य सम्राट अपने सदुपदेशों के द्वारा जो आध्यात्मिक साहित्य का भंडार भर रहे हैं उसका वर्तमान में भी मुमुक्षु लाभ उठा रहे हैं और चिरकाल तक उठाते रहेंगे। किन्तु इसके सृजन सम्पादन के रूप में मुझे भी पहले ही जो लाभ मिल रहा है उसके लिये मेरे हृदय में आन्तरिक एवं असीम प्रसन्नता है।

आपके समक्ष “आनन्द-प्रवचन” का यह तीसरा भाग आया है और मुझे परम सन्तोष है कि इससे पूर्व मेरे द्वारा सम्पादित दोनों भागों को भी आप लोगों ने पसंद किया है। यही कारण है कि इस तीसरे भाग के सम्पादन में मेरा उत्साह बढ़ा है।

मुझे आशा है कि इसे भी आप पसंद करेंगे तथा भविष्य के लिये मुझे प्रेरणा तथा उत्साह प्रदान करेंगे ।

इस तृतीय भाग के सम्पादन में प्रकाण्ड विदुषी महासती श्री उमराव कुँवर जी 'अर्चना' का जो सहयोग और सद् प्रेरणा मिली है उसके लिये मैं बहुत आभारी हूँ ।

अन्त में केवल इतना ही कि "आन्नद-प्रवचन" के प्रथम दोनों भागों के समान ही इस तीसरे भाग से भी पाठक अधिकाधिक लाभ खटाएँगे तो मैं अपना प्रयत्न सार्थक समझूँगी ।

—कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

आनन्द प्रवचन

तृतीय भाग



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हम विचार करेंगे कि जीवन में क्रिया का क्या महत्त्व है तथा इसे किस प्रकार शुद्ध और दृढ़ बनाया जा सकता है ?

भगवान् महावीर ने क्रिया-रुचि के बारे में कहा है :—

दंसण-नाण चरित्ते, तव विणए सच्च समिइ गुत्तीसु ।

जो किरिया भावसूई, सो खलु किरियारूई नाम ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २८ गाथा २५

दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप, विनय, सत्य, समिति एवं गुप्त आदि की सहायता से जीवन को शुद्ध रखते हुये धर्माधन करने की भावना रखना ही क्रिया-रुचि कहलाती है ।

क्रिया-रुचि का संक्षिप्त अर्थ है—क्रिया अर्थात् कर्म में रुचि रखना । किन्तु कर्म से तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य कुकर्म और सुकर्म की पहचान किये बिना ही अन्धाधुंध चाहे जैसा कार्य किये चला जाये । उसे प्रत्येक कार्य को अपने सम्यक्ज्ञान की कसौटी पर कसते हुये सत्य, शील, तप आदि से निर्दोष बनाते हुये तथा व्रत नियमों की सीमा में बाँधकर उसे उच्छृंखलता की ओर जाने से बचाते हुये सम्पन्न करना चाहिये । तभी उसका जीवन पवित्र बन सकता है तथा आत्मा अपने चिर-अभीप्सित लक्ष्य की ओर बढ़ सकती है । स्पष्ट है कि मनुष्य में ज्ञान हो तथा शुभ क्रियाओं के द्वारा आत्मा को निरन्तर कर्म-बन्धन रहित करते जाने की रुचि हो । तभी वह मोक्ष-मार्ग पर गति कर सकता है अर्थात् ज्ञान के विद्यमान होने पर भी अमर अपने आचरण या कर्म से वह मोक्ष-मार्ग पर बढ़े नहीं तो उसका ज्ञान पंगु के समान निरर्थक साबित होता है और वह अपने लक्ष्य की ओर चाहते हुये भी बढ़ नहीं सकता । कहा भी है :—

गतिं बिना पथज्ञोऽपि नाप्तोऽपि पुरभीप्सितम् ।

मार्ग का ज्ञाता भी यदि गन्तव्य स्थान की ओर चले नहीं तो अपने इष्ट नगर में नहीं पहुँच सकता ।

संसार कहां है ?

एक गम्भीर प्रश्न उठता है कि मनुष्य अगर निरन्तर कर्म में प्रवृत्त रहे तो वह शान्ति कैसे प्राप्त कर सकता है ? दूसरे शब्दों में, अगर वह सदा ही सांसारिक कार्यों में लगा रहे तो संसार-मुक्त कैसे हो सकता है ?

इसका उत्तर यही है कि वही व्यक्ति आदर्श व्यक्ति बहला सकता है जो कर्म करते हुये भी उनमें लिप्त न हो। उसका प्रत्येक कर्म निष्काम और निःस्वार्थ भाव से किया जाय। उदाहरणस्वरूप व्यक्ति माता-पिता अथवा अन्य दीन-दुःखी या रोगियों की सेवा का कार्य करे किन्तु उसके द्वारा वह सुपुत्र कहलाने की अथवा परोपकारी की उपाधि पाने की भावना न रखे अथवा उसके प्रति मोह से गूढ़ होकर अपना संसार न बढ़ाये। गम्भीरतापूर्वक मोचा जाय तो संसार बाहर नहीं है, वह मनुष्य के अन्दर ही है। संसार-परिभ्रमण के बढ़ने का कारण बाह्य क्रिया-कलाप नहीं हैं वरन् आत्मा में रहे हुये मोह, ममता, आसक्ति तथा यश-प्राप्ति की कामना आदि त्रिभाव ही हैं। अतः एक वन का वासी संयासी भी अगर इन दुर्भावनाओं से नहीं बच पाता तो वह संसारी है और दूसरा इस संसार में रहते हुये तथा निरन्तर घोर कर्म करते हुये भी अपने आप में वन की-सी शान्ति और निर्जन्मता का अनुभव करता है। वह सच्चा संसारत्यागी और संयासी है।

तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि शान्ति प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अकर्मण्य बनने की अथवा संसार से भागने की आवश्यकता नहीं है, और भागकर वह जायेगा भी कहां ? संसार तो उसके अन्दर छिपा हुआ उसके साथ ही चलेगा। अतः अगर व्यक्ति सच्ची शान्ति चाहता है तो उसे अपने अन्दर के संसार को निकाल देना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि वह जहाँ भी रहेगा संसार-मुक्त रहेगा तथा उसका प्रत्येक कर्म और आचरण शुद्ध होकर आत्मा की उन्नति में सहायक बनेगा। आवश्यकता केवल यही है कि उनकी समस्त क्रियायें सच्चे ज्ञान के साथ की जाये ताकि वे शुभ फल प्रदान करें तथा अपनी क्रियाओं के द्वारा वह ज्ञान को सफल बनाए। अन्यथा उसका प्राप्त होना न होना बराबर हो जायेगा। शास्त्रों में कहा गया है:—

“क्रियाविरहितं हन्त ! ज्ञान मात्रमनर्थकम् ।”

—ज्ञानसार

अर्थात्—वह ज्ञान निरर्थक ही है जो व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि उत्तम क्रियाओं से रहित है।

आचरण का महत्त्व

मनुष्य के जीवन में आचरण का बड़ा भारी महत्त्व है। वही मानव महामानव बन सकता है जिसका चरित्र उच्च कोटि का हो।

बहुत समय पहले मैंने अंग्रेजी की एक पुस्तक देखी थी जिसके चारों कोनों पर चार वाक्य लिखे हुये थे। आपको भी मैं बताना चाहता हूँ कि वे वाक्य कौन-कौन से थे और उनके द्वारा जीवन का किस प्रकार विश्लेषण किया गया था।

पुस्तक के पहले कोने पर दिया था—“Blood is life.” खून ही जीवन है। हम जानते भी हैं कि खून का शरीर के लिये अनन्यतम महत्त्व है। अगर वह नहीं है तो शरीर का अल्पकाल के लिये टिकना भी कठिन हो जाता है। जो कुछ मनुष्य खाता है उसका पाचन होने पर रस बनता है और उसी से रक्त का और बीर्य का निर्माण होता है जो कि जीवन को टिकाने के लिये अनिवार्य है। जिस व्यक्ति के शरीर में खून का बनना बन्द हो जाता है उसका शरीर किसी भी हालत में अधिक दिन नहीं टिकता। इसलिये कहा गया है कि खून ही जीवन है।

अब पुस्तक के दूसरे कोने पर लिखा हुआ वाक्य सुनिये। वहाँ लिखा था—“Knowledge is life.” अर्थात्—ज्ञान ही जीवन है। ज्ञान के अभाव में जीना कोई जीना नहीं है। पशुओं के शरीर में खून का ही तादाद में होता है किन्तु उनका जीवन क्या जीवन कहला सकता है? कठिन परिश्रम किया, विवशतःपूर्वक बोझा ढोया और मिलने पर चर लिया; बस प्रतिदिन यही क्रम चलता है। तो उन शरीरों में खून रहने पर भी क्या लाभ है उससे? पशु के अलावा मनुष्य को भी लें तो संसार में अनेकों मूर्ख तथा अज्ञानी व्यक्ति पाये जाते हैं जो कि पशुओं के समान ही पेट भरने के लिये परिश्रम कर लेते हैं और उदरपूर्ति करके रात्रि को सोकर बिता लेते हैं। ऐसे व्यक्ति धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, लोक-परलोक तथा जीव-अजीव आदि किसी भी तत्त्व की समझने का प्रयत्न नहीं करते। अपनी आत्मा के भविष्य की चिन्ता न करते हुये धर्मा-राधन की ओर फटकते ही नहीं, किसी भी शुभ क्रिया को करने की उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। यह सब क्यों होता है? सिर्फ ज्ञान के अभाव के कारण। तो ऐसी जिन्दगी पाकर भी पाना सार्थक कहलाता है क्या? नहीं! जीवन वही सफल कहलाता है जिसे ज्ञान के आलोक से आलोकित किया जाय। अर्थात् मानव को ज्ञान की प्राप्ति करके उसकी सहायता से अपनी आत्मा को जानना-पहचानना चाहिये, उसके विकास और विशुद्धि का विचार करना चाहिये तथा उसमें छिपी हुई अनन्तशक्ति और अनन्तशान्ति की खोज करनी चाहिये, तभी वह अपने मनुष्य-जन्म को सार्थक कर सकता है यानि मुक्ति-पथ पर बढ़ सकता है। कहा भी है:—

“तपसा कित्विषं हन्ति, विद्यायाऽमृतमश्नुते।”

मनुस्मृति

तप की साधना करने से पाप नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान की आराधना करने से “आत्मा की अमृतता” प्राप्त होती है ।

कोई प्रतिबन्ध नहीं

इस संसार में हम प्रायः देखते हैं कि मनुष्य ज्ञान की प्राप्ति में बहुत शीघ्र निराशा का अनुभव करने लगता है । वह धन-प्राप्ति की आशा, स्वास्थ्य लाभ की आशा और पुत्र-पौत्रादि की बढ़ोतरी की आशा का कभी त्याग नहीं करता किन्तु ज्ञान-प्राप्ति की आशा तनिक-सा कारण बनते ही त्याग देता है । घर-गृहस्थी का कर्तव्य-भार मस्तक पर आते ही अथवा उम्र के थोड़ा सा बढ़ते ही वह अपने आपको ज्ञान-प्राप्ति के अयोग्य समझने लगता है ।

किन्तु यह उसकी महान् भूल है । ज्ञान-प्राप्ति में समय, काल अथवा उम्र का कोई प्रतिबन्ध नहीं है । उसके लिये तो ‘जब जागे तभी सबेरा’ साजित होता है । अतः जितना भी समय और जैसी भी सुविधा मिले, उसे ज्ञान का छोटे से छोटा अंश भी ग्रहण करते रहना चाहिये । नीतिजों का कथन भी है:—

“क्षणशः कणशः चैव विद्यामर्थं च साधयेत् ।”

धनवान बनने के लिये तो एक-एक कण का भी संग्रह करें और विद्वान् बनने के लिये एक-एक क्षण का भी सदुपयोग करें ।

ऐसा क्यों कहा जाता है ? इसीलिये कि सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने पर ही मनुष्य मुक्ति-रूप सिद्धि को हासिल कर सकता है और ऐसी महान् सिद्धि एक जन्म के प्रयत्न से नहीं, अपितु अनेक जन्मों तक प्रयत्न करने पर प्राप्त हो सकती है । जैसा कि कहा गया है:—

“अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ।”

सिद्धि का द्वार अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक प्रयत्न करने पर ही खुल पाता है ।

इस कथन से स्पष्ट है कि मानव को जीवन के अन्त तक भी अगर ज्ञान-प्राप्ति का अवसर मिले तो चूकना नहीं चाहिये तथा किसी भी प्रकार की निराशा का अनुभव नहीं करना चाहिये ।

आत्मा का एकमात्र साथी

जैन दर्शन के महान् ज्ञाता श्री वादिदेव सूरि के पास एक वृद्ध पुरुष ने संयम ग्रहण किया । संयम ग्रहण करने के पश्चात् श्री वादिदेव सूरि ने अपने बयः प्राप्त शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति की प्रेरणा दी ।

वृद्ध संत ने अपने गुरु की आशा शिरोधार्य करके ज्ञानाभ्यास करना प्रारम्भ किया और वे प्रतिदिन एकांत में बैठकर कुछ न कुछ याद करने लगे ।

उन्हें ऐसा करते देखकर पड़ोस में रहने वाले एक व्यक्ति ने यह सोचकर कि बूढ़ा तोता अब क्या राम-राम पढ़ेगा, उनका उपहास करना प्रारम्भ किया ।

एक दिन उसने जहाँ वे वृद्ध सन्त जानाभ्यास करते थे वहीं पर एक मूसल लाकर जमीन में गाड़ दिया और प्रतिदिन उसको पानी से सींचने लगा ।

सन्त को उस व्यक्ति का यह कार्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ । कुतूहल न दबा सकने के कारण उन्होंने एक दिन पूछ लिया—“भाई, इस मूसल को सींचने से क्या लाभ होगा ?”

व्यक्ति बोला—“मैं इसे इसलिये सींचता हूँ कि किसी दिन यह हरा-भरा हो जायेगा और इसमें फूल व फल लग जाएँगे ।”

संत चकित हुए और बोले—“भला यह सूखी लकड़ी का मूसल कभी भी हरा-भरा हो सकता है ?”

“क्यों नहीं, जब आप जैसे बूढ़े व्यक्ति भी अब विद्या प्राप्त कर सकते हैं तो इस मूसल में फल-फूल क्यों नहीं लग सकते ? जरूर लग सकते हैं ।”

संत को यह सुनकर अपनी ज्ञान-प्राप्ति के विषय में बड़ी आशंका और निराशा हुई । वे अपने गुरुजी के समीप पहुंचे और अपने प्रयत्न के विषय में निराशा व्यक्त की ।

गुरुजी ने दृढ़तापूर्वक कहा—“यह कैसी बात है ? मूसल जड़ है, परन्तु तुम चैतन्यशील हो । उसकी और तुम्हारी तुलना कैसे हो सकती है ?”

संत पुनः बोले—“गुरुदेव, मैं वृद्ध हो गया हूँ, अब कैसे ज्ञान प्राप्त कर सकता हूँ ?”

श्री वादिदेव मूरि मुस्कराये और बोले—“तुम्हारा यह शरीर बूढ़ा हो सकता है किन्तु इसके अन्दर रही हुई आत्मा बूढ़ी नहीं है । उसमें चैतन्यता का उज्ज्वल प्रकाश ज्यों का त्यों जगमगा रहा है । तुम्हें निराशा होने का कोई कारण नहीं है । अभी तुम जितना भी ज्ञान प्राप्त कर लोगे वह तुम्हारी आत्मा का साथी बनकर सदा तुम्हारे साथ चलेगा । तुम्हारा अनन्त यात्रा का पाथेय बनकर वह तुम्हारे साथ रहेगा ।

गुरु की बात सुनकर संत की आँखें खुल गईं और उन्होंने उसी क्षण से बिना किसी की परवाह किये तथा बिना तनिक भी निराशा का अनुभव किये जानार्जन में चित्त लगाया और कुछ समय बाद ही एक महान् विद्वान् और दार्शनिक बन गये ।

इस उदाहरण से आशय यही है कि मनुष्य को बिना किसी बाधा की परवाह किये तथा बिना उम्र बढ़ जाने की निराशा का अनुभव किये जीवन के अन्त तक भी ज्ञान-प्राप्ति की आकांक्षा और प्रयत्न का त्याग नहीं करना चाहिये । उन्हें भली-भाँति समझना चाहिये कि:—

“गतेऽपि त्रयसि ग्राह्या विद्यां सर्वात्मना बुधैः ।”

बुद्धिमानों को वृद्धावस्था प्राप्त होने पर भी नवीन-नवीन विद्याओं को अपनी सम्पूर्ण शक्ति द्वारा सीखना चाहिये ।

वस्तुतः ज्ञान ही जीवन है । इसके अभाव में मनुष्य पशु के समान है और पशुवत् जीवन का प्राप्त करना न करना समान है ।

अब मैं आपको बताने जा रहा हूँ कि पुस्तक के तीसरे कोने पर क्या लिखा हुआ था ? वहाँ लिखा था—Truth is life. अर्थात् सत्य ही जीवन है ।

जिसने यह वाक्य लिखा होगा, उसका मतव्य यही है कि शरीर में खून है, मस्तिष्क में ज्ञान भी है किन्तु अगर हृदय में सच्चाई नहीं है तो पूर्वोक्त दोनों विशेषताओं के होने पर भी जीवन, जीवन नहीं कहलायेगा क्योंकि सत्य की महिमा अनन्त है और वही धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है । हमारे शास्त्रों में सत्य का अद्वितीय महत्त्व बताते हुये कहा है:—

“तं लोगम्मि सारभूयं, गम्भीरतरं महासमुद्राओ, धिरतरगं मेरुपक्वधाओ, सोमतरगं चंद्रमंडलाओ, दित्तरं सूरमंडलाओ, धिमलतरं सरयनहमलाओ, सुरभितरं गन्धमादनाओ ।”

—प्रथमव्याकरण सूत्र, २-२४

अर्थात्—सत्य लोक में सारभूत है । यह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है । सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है । चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है और सूर्यमण्डल से भी अधिक दीदीप्यमान है । इतना ही नहीं, वह शरत्कालीन आकाश से भी निर्मल और गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सौरभयुक्त है ।

इस प्रकार जहाँ हमारे शास्त्रों में सत्य का अनेक प्रकार से निरूपण करते हुये उसके अनेक अंगों का तथा लक्षणों का विस्तृत विवेचन किया गया है, वहाँ सत्य को सर्वोच्च स्थान भी प्रदान किया गया है ।

खेद की बात है कि आज के युग में सत्य को कौड़ियों के मूल्य का बना दिया गया है । चंद्र टकों के लोभ में ही मनुष्य अपने ईमान को व सत्य को बेच देता है । आज का शासन विधान सत्य की रक्षा नहीं कर पाता तथा प्रत्येक व्यक्ति रिश्वतखोरी, झूठी गवाही अथवा इसी प्रकार के असत्य एवं अनीतिपूर्ण कार्य करके धनोपार्जन करने के प्रयत्न में लगा रहता है । परिणाम यह होता है कि वह न तो सत्य को ही अपना पाता है और न ही सच्चे सुख की प्राप्ति ही कर पाता है । उसका सम्पूर्ण जीवन हाय-हाय करने में ही व्यतीत होता है ।

ऐसा क्यों हुआ ? इस विषय में किसी विचारक ने बड़ी सुन्दर और अर्थपूर्ण कल्पना की है । उसने बताया है—

पात्र परिवर्तन

जब मनुष्य ने अपने जीवन की दीर्घयात्रा पर चलने की तैयारी की और उस पर चलने के लिये पहला कदम बढ़ाया, ठीक उसी समय किसी अज्ञात

शुभचिन्तक ने उसे दोनों पात्र दोनों हाथों में थमा दिये और चेतावनी दी—
“देखो, अपने दाहिने हाथ में रहे हुये पात्र की बड़ी सावधानी से रक्षा करना ।
अगर तुम ऐसा करते रहोगे तो तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन निश्चित और सुख से
ओत-प्रोत रहेगा ।”

बंधुओ ! आपको जानने की जिज्ञासा होगी कि उन दोनों पात्रों में क्या-
क्या था और मनुष्य ने किस पात्र की रक्षा की ? समाधान इसका यह है कि
उस अज्ञात हितैषी ने जो दो पात्र मानव के हाथ में थमाए थे, उनमें से दाहिने
हाथ वाले पात्र में सत्य भरा था और दूसरे में सुख । पात्रदाता का अभिप्राय
यह था कि अगर सत्य की रक्षा की जाएगी तो सुख के लिए प्रयत्न करना ही
नहीं पड़ेगा । वह स्वयं ही मानव के पास बना रहेगा । अतः सत्य को उसने
मनुष्य के दाहिने हाथ में थमाया और उसकी सुरक्षा के लिये चेतावनी भी
दे दी ।

मानव ने उस महान् आत्मा की बात मान ली और अपनी यात्रा पर
रवाना हो गया । चलते-चलते जब वह थक गया तो उसने एक स्थान पर दोनों
पात्र सावधानी से रख दिये और समीप ही लेट गया तथा गहरी निद्रा में
सो गया ।

आप जानते हैं कि इस संसार में फरिश्ते और शैतान दोनों ही रहते हैं ।
मानव के दुर्भाग्य से वहाँ अचानक एक शैतान का आगमन हुआ और उसने
चुपचाप दोनों पात्रों का स्थान बदल दिया । अर्थात् दाहिने हाथ वाला पात्र
बाँये हाथ की ओर तथा बाँये हाथ वाला दाहिने हाथ की ओर रख दिया ।

बेचारा मानव जब उठा तो उसने पुनः अपने क्रमानुसार रखे हुये पात्र
उठाए तथा मार्ग पर अग्रसर हो गया । किन्तु फिर हुआ क्या ? अपने हितैषी
को दिये हुये वचन के अनुसार वह दाहिने हाथ वाले पात्र की रक्षा तो जी जान
से करता रहा और बाँये हाथ वाले पात्र की उपेक्षा । आज भी वह यही कर
रहा है । अर्थात् सुख की तो रक्षा करता है और सत्य की उपेक्षा । पर सत्य
के अभाव में उसे किसी भी प्रकार का सुख हासिल नहीं होता । अपार वैभव
और सोने-चाँदी के अम्बार भी उसे आत्मिक शांति एवं सतुष्टि प्रदान नहीं
कर पाते । इसलिये सच्चे सुख के अभिलाषी प्राणी ईश्वर से यही प्रार्थना
करते हैं:—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं सुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपादृणु सत्य धर्माय दृष्टये ॥

— ईशावास्योपनिषद्

सत्य का मुँह स्वर्ण पात्र से ढका हुआ है । हे ईश्वर, उस स्वर्ण पात्र को
तू उठा दे जिससे सत्य धर्म का दर्शन हो सके ।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत्य के अभाव में मनुष्य जीवन निस्सार और खोखला है। जब तक जीवन में सत्य का आविर्भाव नहीं होता, मनुष्य कार्यक्षेत्र अथवा धर्मक्षेत्र, किसी में भी सफलतापूर्वक कदम नहीं रख सकता। सामाजिक क्षेत्र में जिस प्रकार सत्यवादी पुरुष सर्वदा सम्मान, प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा प्राप्त करता है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी असत्य का त्याग करने पर अनेकानेक पापों से अपने जीवन को बचाता हुआ चलता है। असत्य भाषण का मूल कषाय होता है और जहाँ कषाय होता है वहाँ हिंसा, चोरी, कुशील तथा परिग्रह रूप सभी दोष पाये जाते हैं। सत्य के पालन से ही इन सबसे बचा जा सकता है। इसीलिये विचारकों ने कहा—“सत्य ही जीवन है।”

अब पुस्तक के चौथे कोने पर लिखी हुई बात सामने आती है। वहाँ लिखा था—“Conduct is life. अर्थात्—“आचरण अथवा चारित्र्य ही जीवन है।”

इस वाक्य में निहित रहस्य को हमें बड़ी गम्भीरतापूर्वक खोजना चाहिये। इससे तात्पर्य है कि मनुष्य के शरीर में जीवन कायम रखने के लिये रक्त हो, संसार की स्थिति को समझने के लिये ज्ञान हो और वह सत्य की महिमा को भी मानता हो किन्तु इनका उपयोग वह जीवन में करता हो तो उस ज्ञान और जानकारी से क्या लाभ उठाया जा सकता है ?

आप एक हलवाई की दुकान पर जायें और दुकान में रखी हुई मिठाइयों के नाम, गुण और कीमत आदि का पूर्ण विवरण जान लें, किन्तु अगर उन पदार्थों को आप चखें ही नहीं तो उन समस्त मिष्ठान्न पानों की जानकारी आपके क्या काम आएगी ? कुछ भी नहीं !

इसी प्रकार अनेकानेक पोथियों को आपने कण्ठस्थ कर लिया, पाँचों महा-व्रतों और बारह अणुव्रतों के महत्त्व को समझ लिया, धर्म के विभिन्न अंगों का भली-भाँति ज्ञान कर लिया। किन्तु अगर उन सबको अपने आचरण में अर्थात् क्रिया में नहीं उतारा तो वह सब ज्ञान और जानकारी उसी प्रकार व्यर्थ जायेगी, जिस प्रकार सम्पूर्ण खाद्य पदार्थों के विषय में जानकारी करके भी उन्हें न खाने पर आपको भूख उभों की त्यों बनी रहेगी। स्पष्ट है कि ज्ञान का क्रियात्मक रूप ही आचरण है और उसके अभाव में कोरा ज्ञान निरर्थक है।

इस विषय में भेरे गुरु महाराज ने एक बार बताया था कि एक व्यक्ति उनके पास दीक्षा ग्रहण करने के इरादे से आया। बोला—“भगवन् ! मैं अब अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता हूँ अतः कृपा करके मुझे दीक्षा दीजिये।”

गुरुदेव ने उससे कहा—“भाई ! दीक्षा लेना चाहते हो यह तो बहुत अच्छी बात है, मैं इससे इन्कार नहीं करता किन्तु साधु बनने के पश्चात् पूर्णतया

बहिंसा का पालन करना पड़ेगा, सत्य बोलना होगा, चोरी नहीं करनी होगी; ब्रह्मचर्य से रहना और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना पड़ेगा।”

उस व्यक्ति ने कहा—“मैं इन सबका पालन करूँगा।” परिणाम यह हुआ कि उसे दीक्षा दे दी गई।

किन्तु स्वाभाविक है कि कोई भी आदत जल्दी नहीं छूटती। एक दिन रात्रि के समय उस नवदीक्षित साधु ने अपनी पुरानी आदत के अनुसार किसी सन्त का रजोहरण, किसी का बिछावन, किसी की माला और किसी की पूजनी आदि अनेक वस्तुयें इधर की उधर कर दीं।

अब हुआ क्या कि अँधेरे स्थानक में सभी सन्त अपनी-अपनी आवश्यक वस्तुओं को खोजने में परेशान होने लगे। बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह गड़बड़ कैसे हो गई ?

कारण जानने के लिये गुरु महाराज ने सभी से पृच्छना आरम्भ किया कि यह कार्य किसने किया और क्यों किया ? जब नवदीक्षित साधु से यह बात पूछी गई तो उसने कहा—“गुरुदेव ! यह सब मैंने ही किया है।”

गुरुजी ने पुनः प्रश्न किया—“तुमने ऐसा क्यों किया ? मैंने दीक्षा देने से पूर्व ही कहा था कि किसी की भी वस्तु बिना उसकी आज्ञा से नहीं उठानी होगी।”

सन्त ने हाथ जोड़कर कहा—“गुरुदेव ! मैंने किसी की भी चोरी नहीं की। एक भी वस्तु चुराकर अपने पास नहीं रखी। केवल आदत थी इसलिये आज इन वस्तुओं को इधर-उधर रख दिया है।”

गुरुजी हँस पड़े और बोले—“भाई ! यह ठीक है कि तुमने किसी की वस्तु नहीं चुराई और नुम सत्य भी बोले हो किन्तु इस बात को भी ध्यान में रखो कि दूसरे की वस्तु को भले ही चुराया न जाये पर बिना उसकी आज्ञा के हाथ भी लगाया जाये तो साधु को चोरी का दोष लगता है और उसके आचरण में अशुद्धता आती है।”

उस साधु को अपनी भूल समझ में आ गई और फिर कभी भी उसने वैसा नहीं किया।

बंधुओ ! आप भी समझ गये होंगे कि वह सन्त चोरी करना बुरा समझते थे और सत्य भी बोलते थे किन्तु आचरण में तनिक-सी असावधानी भी उनके जीवन को अशुद्ध बना रही थी जिसके लिये उन्हें सावधान होना पड़ा।

आशा है आपको ध्यान होगा कि हमारा आज के प्रवचन का मूल विषय क्रिया-रुचि को लेकर ही चल रहा है तथा हमें इसके महत्त्व को समझाते हुये अपनी क्रिया अथवा आचरण को शुद्धि तथा दृढ़ता के विषय से समझना है।

चरित्र निर्माण

सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि चरित्र क्या है ? संक्षिप्त में इसका उत्तर यही हो सकता है कि मनुष्य की भावनाओं और उसकी मनःस्थितियों का सम्मिलित रूप ही चरित्र कहलाता है ।

मनुष्य का मन भावनाओं का एक अक्षय भण्डार होता है । इसे सागर की उपमा दी जाय तो भी अतिशयोक्ति नहीं है । सागर में जिस प्रकार प्रतिपल असंख्य लहरें आती और जाती हैं उसी प्रकार मन में भी निरन्तर भावनाओं की लहरें उठती रहती हैं । उनमें कुछ शुभ और कुछ अशुभ होती हैं । यही भावनायें मनुष्य के चरित्र का निर्माण करती हैं । शुभ भावनायें उत्तम संस्कारों को बनाती हैं तथा अशुभ भावनायें कुसंस्कारों को । व्यक्ति अगर अपनी कुभावनाओं पर काबू नहीं रख पाता तो उसके चित्त में कुसंस्कारों का बीज जम जाता है और वही धीरे-धीरे उसे कुकर्म करने के लिये प्रेरित करता है तथा जो व्यक्ति दुर्भावनाओं के वेग में नहीं बहता, उन्हें लहरों के समान आने और जाने देता है वह अपने हृदय में शुभ भावनाओं को रोककर सुसंस्कारों का निर्माण करता है तथा उनसे प्रेरणा पाकर सुकर्म करने लगता है ।

ये संस्कार ही मानव के चरित्र का निर्माण करते हैं । अगर संस्कार शुभ हुए तो वह सच्चरित्र और संस्कार अशुभ हुए तो दुष्चरित्र व्यक्ति कहलाता है । कोई भी मनुष्य अपने जन्म से ही महान् या निष्कृष्ट नहीं पैदा होता, वह शनैः-शनैः अपने एकत्रित किये हुए संस्कारों के बल पर ही उत्तम या अधम बनता है ।

मनुस्मृति में कहा गया है :—

‘जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।’

जन्म से मनुष्य शूद्र ही पैदा होता है, किन्तु संस्कारों के उत्तम होने पर द्विज कहला सकता है ।

कछुए के समान बनो !

एक बात और भी ध्यान में रखने की है कि जिस प्रकार सागर में लहरें अवश्यमेव उठती हैं, उन्हें उठने से रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार मन के इस अथाह समुद्र में भी भावनाओं की तरंगों को उठने से नहीं रोका जा सकता । इनको रोकना अथवा मन की भावनाओं पर काबू पालना सम्भव नहीं है । दूसरे शब्दों में, मन को मारना कठिन है ।

फिर सवाल यह उठता है कि आखिर किया क्या जाय, जिससे मन की इन अशुभ भावनाओं के प्रभाव से बचा जा सके । इसका एकमात्र उपाय यही है कि मनः—सागर में उठने वाली कुभावनाओं को वे जिस प्रकार जन्म लेती हैं, उसी प्रकार बहते हुये निरर्थक जान दिया जाये । जिस प्रकार कछुआ अपने

सिर और पैरों को अपनी शरीर रूपी खोपड़ी के अन्दर कर लेता है और अनेक प्रहारों को सहकर भी उनसे प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्य को भी अपनी शुभ-भावनाओं को समेटकर अन्तरात्मा में छिपा लेना चाहिये तथा अशुभ भावनाओं की तरंगों को निरर्थक बह जाने देना चाहिये ।

इसका परिणाम यह होगा कि अशुभ भावनाओं का प्रभाव मन पर अल्प-काल तक ही रहेगा । वास्तव में देखा जाये तो चरित्र का निर्माण मन में उठने वाली इन शुभ और अशुभ तरंगों के द्वारा ही होता है । ये उठती हैं और उठकर पुनः समाप्त भी हो जाती हैं । किन्तु इनकी असलियत समाप्त नहीं हो पाती । जिस प्रकार आग लगने पर उसे बुझा दिया जाता है पर कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाये उसका कुछ न कुछ चिह्न उस स्थान पर अवश्य रहता है । ठीक इसी प्रकार मन में उठने वाली भावनायें भी अपनी कुछ न कुछ छाप अवश्य छोड़ जाती हैं । यद्यपि वे ऊपर से लक्षित नहीं होती किन्तु अज्ञात रूप से अपना काम करती रहती हैं अर्थात् मन के द्वारा शारीरिक क्रियाओं पर प्रभाव डालती हैं । बार-बार उठने वाली मन की लहरें जो कम या अधिक प्रभाव मन पर डालती हैं, वही संस्कार कहलाते हैं । प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र इन्हीं संस्कारों के द्वारा निर्मित होता है । अगर शुभ संस्कारों की मुख्यता रही तो चरित्र उत्तम बनता है, और अशुभ संस्कारों की मुख्यता रही तो वह निम्न श्रेणी का माना जाता है । संस्कार मनुष्य के अनजाने में ही उसके कर्मों पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं । इसलिये प्रत्येक आत्म-कल्याण के इच्छुक को चाहिये कि वह मन में उठने वाली अशुभ भावनाओं का प्रभाव मन पर कम से कम पड़े, इस प्रयत्न में रहे । ऐसा करने पर उसके मन में शुभ विचारों की प्रबलता रहेगी और वे अशुभ विचारों को दबाते हुये मनुष्य को शुभ-कर्म या शुभ क्रियायें करने के लिये प्रेरित करते रहेंगे तथा उसके चरित्र में दृढ़ता आ सकेगी । चारित्रिक दृढ़ता के लिये अभ्यास की आवश्यकता अनिवार्य है । उसके अभाव में उत्तम से उत्तम संस्कार भी अल्पकाल में ही लोप हो जाते हैं ।

असाधारण शक्ति का स्रोत—अभ्यास

अभ्यास की शक्ति का वर्णन शब्दों में किया जाना सम्भव नहीं है । अभी मैंने आपको बताया है कि मन में निरन्तर उठने वाली भावनायें धीरे-धीरे संस्कार बन जाती हैं और संस्कारों का समूह चरित्र के रूप में प्रकट होता है । जब मन में अधिक संस्कार इकट्ठे हो जाते हैं तो वे मनुष्य का स्वभाव बन जाते हैं और वह स्वभाव तब कायम रहता है, जबकि मनुष्य अपने संस्कारों के अनुसार कर्म करने का प्रयत्न अथवा अभ्यास करता रहे ।

ध्यान में रखने की बात है कि मनुष्य भले ही अनेकानेक शुभ संस्कारों का घनी बन जाये किन्तु उन्हें कायम रखने के लिये अगर वह क्रिया के रूप में उनका अभ्यास नहीं करेगा तो वे संस्कार उसके लिये लाभप्रद नहीं हो सकेंगे। अभ्यास के द्वारा कुसंस्कारों को सुसंस्कारों में बदला जा सकता है। तथा बुरी आदतों को अच्छी आदतों में परिवर्तित किया जा सकता है। कोई व्यक्ति कितना भी पतित क्यों न हो, उसके लिये यह कहना कि वह कभी सुधर नहीं सकता ठीक नहीं है क्योंकि वह व्यक्ति केवल गलत अभ्यास के बशीभूत होता है और अगर उसे सत्संग मिले तथा शुभ कार्यों की प्रेरणा दी जाये तो धीरे-धीरे उन कार्यों का अभ्यास हो जाने से वह निश्चय ही सुधारा जा सकता है। चरित्र केवल अभ्यास का प्रतीक होता है जो कि नवीन अभ्यास से पुनः बदला जा सकता है।

अभ्यास में असाधारण शक्ति निहित है किन्तु वह धीरे-धीरे प्राप्त होती है। आप लोग बड़े-बड़े पहलवानों को देखते हैं जो कि एक हजार दंड बैठक एक बार में लगा सकते हैं। किन्तु अगर उनसे आप पूछें कि आप में इतनी शक्ति कहाँ से आई तो उत्तर यही मिलेगा कि प्रतिदिन अभ्यास करने से। पहले ही दिन हजार बैठकें लगा लेना स्वस्थ से स्वस्थ व्यक्ति के लिए भी सम्भव नहीं है। वह जब प्रारम्भ करेगा दस, बीस, पच्चीस या अधिक तो पचास बैठकों से भी प्रारम्भ कर लेगा पर हजार बैठकें प्रतिदिन लगाने के लिये उसे बहुत दिनों तक अभ्यास करना ही पड़ेगा। शक्ति की परीक्षा, दिखाई देने वाले स्वस्थ शरीर से नहीं अपितु अभ्यास से की जा सकती है।

प्रतियोगिता

कहा जाता है कि एक बार एक राजा और एक रानी अपने महल के झरोखे में बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे तथा बाहर के सुन्दर दृश्यों का अवलोकन भी करते जा रहे थे। अचानक राजा पूछ बैठे—“रानी ! तुम्हारे शरीर में ताकत अधिक है या मेरे शरीर में ?”

रानी यह प्रश्न सुनकर मुस्कराई और बोली—

“इस विषय में मैं क्या कहूँ, महाराज ! आजमाइश करके देखना चाहिये।”

“हाँ यह बात ठीक है। देखो, महल के नीचे वह गाय का छोटा-सा बछड़ा है कुछ ही दिन का जन्मा हुआ। देखें हममें से कौन उसे उठाकर ऊपर लाता है ?” रानी राजा की इस बात पर सहमत हो गई।

पहले राजा साहब नीचे गये और उस छोटे से बछड़े को गोद में उठाकर ऊपर ले आए तथा पुनः ले जाकर नीचे छोड़ दिया। अब रानी की बारी आई। वह भी नीचे उतरी और बछड़ा छोटा-सा तो था ही अतः वह भी उसे उठाकर ऊपर ले आई और नीचे ले जाकर छोड़ भी दिया।

यह देखकर राजा बोले—“हम दोनों की ताकत समान है, कोई अन्तर नहीं।” रानी ने कोई उत्तर नहीं दिया केवल हँस पड़ी।

इसके बाद रानी के मन में न जाने क्या बात आई कि वह प्रतिदिन एक बार नीचे जाती और उस बछड़े को उठाकर ऊपर ले आती तथा वापिस छोड़ भी आती। यह क्रम बराबर एक वर्ष तक चलता रहा, रानी ने एक दिन भी बछड़े को उठाकर ऊपर लाने में नाया नहीं किया। बछड़ा अब एक वर्ष का हो चुका था।

अब एक दिन पुनः जबकि राजा ऊपर महल में ही थे, रानी ने कहा—“महाराज ! आज हम फिर से देखें कि हम दोनों में से किसी की ताकत घटी तो नहीं ?”

राजा ने उत्तर दिया—“न तो हम वृद्ध हुये हैं और न ही रोग-ग्रस्त। फिर ताकत क्यों घटेगी ? वह तो एक वर्ष पहले के समान ही होगी।”

‘फिर भी परीक्षा कर ली जाय तो क्या हर्ज है ?’ रानी ने आग्रह किया।

राजा प्रसन्नता के मूड में तो थे ही, बोले—“अच्छी बात है ऐसा ही सही पर आज किस प्रकार हम अपनी शक्ति की परीक्षा करें ? बछड़ा तो बड़ा हो गया ?

“बड़ा हो गया तो क्या हुआ ? हम उसी को उठाकर ऊपर लाने का प्रयत्न करेंगे। अपनी आज्ञा हो तो यह कार्य प्रारम्भ किया जाय ?”

“अच्छी बात है ऐसा ही सही। पर मैं सोचता हूँ कि मैं तो किसी तरह उसे उठाकर ले ही जाऊँगा, असफल तुम्हें ही होना पड़ेगा ?” राजा ने पुरुष होने के नाते अपने बल का गर्व किया।

रानी मुस्कराई और बोली—“हाथ कंगन को आरसी क्या ? अभी ही परीक्षा का परिणाम ज्ञात हो जाएगा। पहले आप उसे लाने का प्रयत्न कीजिये।”

यह सुनकर राजा महारानी को मात देने के इरादे से शीघ्रतापूर्वक नीचे उतर गए तथा बछड़े को लाने की कोशिश करने लगे पर प्रथम तो बछड़ा अचानक ही राजा को देखकर बिदकने लगा तथा इधर-उधर भागने लगा। दूसरे किसी तरह उसे पकड़ा तो साल भर में उसमें काफी बोझ बढ़ जाने के कारण राजा उसे उठा ही नहीं सके। फलस्वरूप वे खाली हाथ लौटे और रानी से अपनी कठिनाई कह सुनाई।

सब कुछ सुनकर रानी बोली—“अब आप मुझे इजाजत दें तो मैं भी जाकर प्रयत्न करूँ ?”

रानी की बात सुनते ही महाराज जोर से हँस पड़े और बोले—“वाह ! जब मैं ही उसे नहीं ला सका तो तुम क्या ला सकोगी ? व्यर्थ कोशिश करने से क्या लाभ है ?”

पर रानी ने किसी तरह राज्या से हाँ कहजवा ली और बछड़े को लाने के लिए नीचे उतर गई । बछड़ा रानी को नित्य देखने के कारण पहचानता था, अतः तुरन्त उसके समीप आ गया । इसके अलावा वह रोज उसे उठाकर ऊपर लाती थी, उस अभ्यासवश शीघ्र ही उस दिन भी उठाकर ऊपर ले आई ।

यह देखकर राजा भौंचक्के से रह गए । वाले—“बड़े आश्चर्य की बात है कि जिसे मैं नहीं उठा सका उसी बछड़े को तुम उठाकर ले आई ? इसका क्या कारण है ? क्या तुम मुझसे अधिक बलवान हो गई हो ?”

रानी हँस पड़ी और नम्रतापूर्वक बोली—“मैं आपसे अधिक शक्तिशाली नहीं हो गई हूँ महाराज ! बात केवल यह है कि मैं स.ल. भर से इसे रोज उठाकर ऊपर लाती हूँ अतः मुझे इसका वजन उठाने का अभ्यास हो गया है और अपने एक वर्ष पूर्व के उस दिन के बाद वजन उठाने का अभ्यास किया ही नहीं, अतः आप एकाएक इसे नहीं उठा सके । शरीर की ताकत अभ्यास से अनेक गुनी बढ़ जाती है और अभ्यास के द्वारा कठिन से कठिन कार्य भी संभव हो जाता है ।

संत तुकाराम जी ने भी अभ्यास का महत्त्व बताते हुए एक अंश में कहा है :—

ओले मूल भेदी, खड़काचे अंग,

अभ्यासार्थी सांग कार्य सिद्धि ॥ १ ॥

धोरे चिराकाये पडिल्या काचणी,

अभ्यासे सेवनी विष पडे ॥ २ ॥

कहा गया है—किसी भी कार्य की सिद्धि अभ्यास से ही हो सकती है । ओले यानी गीली । गीली और छोटी-सी कोमल खड़ में भी अगर प्रतिदिन जल डाला जाय तो वह धीरे-धीरे इतनी ताकतवर हो जाती है कि पत्थर को भी भेद देती है ।

इसी प्रकार जैसा कि हम प्रायः देखते हैं कुए पर चलने वाले चरस की रस्सी जिस पत्थर पर से बार-बार आती और जाती है, उसे इतना घिस देती है कि पत्थर पर गहरा निशान या रास्ता बन जाता है ।

यही संत तुकाराम जी ने कहा है कि रस्सी भी पुनः-पुनः आने और जाने के कारण पत्थर पर अपना मार्ग बना लेती है । पद्य में आगे कहा है—

“अभ्यासे सेवनी विष पडे ।”

जिस जहूर को खाने से अल्प-काल में ही मनुष्य का प्राणांत हो जाता है वही विष अभ्यासपूर्वक प्रतिदिन लेने से अमृत का कार्य करता है। यह भी कोई नवीन बात नहीं है। प्रायः सुनने में आता है कि अफीम का आदी व्यक्ति प्रारम्भ में वाजरी के दाने जितनी अफीम लेता है, पर कुछ दिन बाद उसका अभ्यास हो जाने पर फिर उवार के दाने जितनी और उसके पश्चात् चने की दाल के बराबर और धीरे-धीरे दो आने-चार आने से बढ़ते-बढ़ते वह तोलेभर अफीम भी प्रतिदिन उदरस्थ कर लेता है। आश्चर्य की बात है कि तोलाभर अफीम खाकर वह नहीं मरता पर अगर अफीम न मिले तो मर जाता है। तो प्रतिदिन सेवन करने से वह उसके लिये अमृत ही हुआ न !

तो बंधुओ ! आप अभ्यास की महिमा को भली-भाँति समझ गए होंगे कि इसके द्वारा किसी प्रकार असंभव को भी संभव बनाया जा सकता है। प्रत्येक कार्य चाहे वह अच्छा हो या बुरा, सफल तभी होता है जब कि उसके लिये अभ्यास किया जाए। इसीलिए अगर हम अपनी आत्मा को कर्म-मुक्त करके अनन्त सुख की प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमें तप, त्याग, संयम और मन पर विजय पाने का अभ्यास करना होगा। अपने ज्ञान की क्रियाओं में उतारकर आचरण को शुद्ध और दृढ़ बनाना पड़ेगा। साधना पथ पर चलने के लिए इन दोनों की समान और अनिवार्य आवश्यकता है।

पूज्यपाद श्री अमीरुद्दौलत जी महाराज ने भी कहा है :—

ज्ञान क्रिया बिन मोक्ष मिले नहीं,
 श्री जिन आगम माहीं कही है।
 एक ही चक्र से नाहीं चले रथ,
 दो बिन कारज होत नहीं है ॥
 ज्ञान है पांगुलो अथ क्रिया—
 मिल बोनु कला करि राज ग्रही है।
 किजे बिचार भली विद्य अमृत,
 श्री जिन धर्म को सार यही है ॥

हमारे आगम स्पष्ट कहते हैं कि जिस प्रकार रथ एक पहिये से कभी नहीं चलता, उसमें दोनों चक्र समान रूप से आवश्यक हैं, उसी प्रकार मोक्ष मार्ग की साधना रूपी गाड़ी भी अपने ज्ञान और क्रिया रूपी दोनों पहियों के सहारे से ही आगे बढ़ सकती है। क्योंकि ज्ञान प्रकाश का पुंज है किन्तु चलने में असमर्थ है और क्रिया चलने में समर्थ है पर मार्ग नहीं देख सकती। इसलिए मार्ग-द्रष्टा ज्ञान एवं गति करने में कुशल क्रिया, इन दोनों कलाओं के द्वारा मुमुक्षु को शिवपुर का साम्राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारा जैन-धर्म यही कहता है।

अटूट आस्था

आत्मा को संसार मुक्त करना कोई सरल कार्य नहीं है। इसे सफल बनाने के लिये अन्तःकरण में अटूट श्रद्धा सम्यक् दर्शन होना चाहिए। दर्शन शब्द यहाँ श्रद्धा-वाचक है, वैसे इसके कई अन्य अर्थ भी होते हैं।

दर्शन यानी देखना, दर्शन यानी नमस्कार करना तथा दर्शन या रो सैद्धान्तिक विचार, 'यथा—न्यायदर्शन, पातञ्जलदर्शन, योगदर्शन आदि-आदि। किन्तु यहाँ हम दर्शन का अर्थ श्रद्धा से ही ले रहे हैं।

सम्यक्त्व से सड़सठ बोल जो बताए गए हैं, उनमें पहला बोल है— श्रद्धान चार।' ये चार श्रद्धान क्या हैं? अब हमें यह जानना है। विचार पूर्वक देखा जाय तो इनमें दो प्रकार की दवाएँ हैं और दो प्रकार के परहेज।

आपको सुनकर आश्चर्य हो रहा होगा कि यह दवाइयाँ कैसी और परहेज कैसा? पर यह सत्य है। शरीर के रोग को मिटाने के लिए जिस प्रकार दवा लेनी पड़ती है, उसी प्रकार अज्ञान और मिथ्यात्व रूपी रोग से ग्रसित होने के कारण आत्मा को पुनः-पुनः जन्म और मरण का कष्ट भठाना पड़ता है। उसके निवारण के लिए भी दवा लेनी होती है तभी उससे छुटकारा मिल सकता है।

आत्मिक रोग की औषधियाँ

आत्मा के रोग को मिटाने वाली औषधियों में से प्रथम है—“परमत्थ संथवो वा” अर्थात् परमार्थ का परिचय करना। यह किस प्रकार किया जा सकता है? नव तत्त्वों की जानकारी करने से। जीव क्या है? अजीव क्या है? पाप क्या है और पुण्य क्या है? आश्रम किसे कहते हैं और संवर किसे? निर्जरा कैसे होती है तथा बंध और मोक्ष क्या हैं?

जब व्यक्ति इन सबकी जानकारी भली-भाँति कर लेता है तभी वह हेय और उपादेय के अन्तर को समझता है। उदारहणस्वरूप—जब वह पाप के परिणाम और पुण्य के महत्त्व को तथा बंध और निर्जरा के लक्षणों को जान लेगा तभी पाप-कर्मों के बंध से बचने का प्रयत्न करेगा तथा पुण्योपाजन करता हुआ पूर्व बंध हुए कर्मों की निर्जरा का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार परमार्थ का परिचय अथवा नौ तत्त्वों की जानकारी आत्मिक रोगों को दूर करने के लिए दवा साबित हुई न? अगर इस अचूक औषधि का सेवन व्यक्ति बराबर करे तो निश्चित ही उसे आत्मा की समस्त बीमारियों से छुटकारा मिल सकता है।

अब हमें आत्मिक रोगों की दूसरी औषधि के विषय में जानना है। संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो घोर ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होने के कारण ज्ञान हासिल नहीं कर पाते और उसके अभाव में जीव, अजीवादि तत्त्वों की जानकारी करने में असमर्थ रहते हैं। बेबस होकर वे पूछ बैठते हैं—“हमारे

पास ज्ञान नहीं है और इस वजह से हम परमार्थ का परिचय प्राप्त नहीं कर सकते, बुद्धिहीनता के कारण हम पाप एवं पुण्यदि के विषय में जान नहीं सकते तो हम क्या करें ?”

ऐसे लोगों के लिये ही दूसरी औषधि बताई है—सेवा-कार्य । कहा है—
“भाई ! अगर पुण्य की कमी के कारण तुम ज्ञान हासिल नहीं कर सकते हो तो ज्ञानी पुरुषों की सेवा करो ! सेवा से भी अनन्त पुण्यों का उपाजन हो सकता है । नौ प्रकार के पुण्योपाजन के साधनों में सेवा भी एक है । उसके लिये कुशाग्र बुद्धि या अगाध ज्ञान की आवश्यकता नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति इस पवित्र कार्य को कर सकता है ।

सेवा हृदय और आत्मा को पवित्र बनाती है तथा ज्ञान की प्राप्ति में सहायक बनती है । सेवा का मार्ग भक्ति के मार्ग से भी महन् है । गौतम बुद्ध का कथन था—‘जिसे मेरी सेवा कम्नी है वह पीड़ितों की सेवा करे ।’ सेवा कार्य सहज नहीं है । तुलसीदास जी ने कहा भी है—

‘सेवा धरम कठिन जग जाना ।’

अर्थात्—सेवा करना बड़ा कठिन कार्य है । इसे करते हुये व्यक्ति को न जाने कितना अपमान, दुर्वचन, लांछन और तिरस्कार सहन करना पड़ता है । किन्तु अगर वह यह सब पूर्ण शांति और संतोषपूर्वक सहन करता है तो उसकी आत्मा निरन्तर विशुद्धता को प्राप्त होती जाती है । विपत्ति और पीड़ाप्रस्त प्राणियों की सेवा करना परम उत्कृष्ट धर्म है और इसे करने से अनन्त पुण्यों का संचय होता है । इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर जो प्राणी पर-सेवा को अपना मुख्य कर्तव्य नहीं मानता वह अपने जीवन का लाभ नहीं उठा सकता । इसलिये महापुरुष कहते हैं—

पास तेरे है कोई दुखिया तूने मौज उड़ाई क्या ?

भूखा-प्यासा पड़ा पड़ीसी तूने रोटी खाई क्या ?

आशय स्पष्ट है । इस पद्य में स्वार्थी और विलासी व्यक्ति की भर्त्सना करते हुये कहा है—‘अरे प्राणी, अगर तेरे समीप कोई अभावग्रस्त या रोग-पीड़ित दुःखी व्यक्ति घोर कष्टों में से गुजर रहा है और तूने उसकी ओर ध्यान न देकर केवल अपनी ही मौज-शौक का ध्यान रखा है, अपने भोग-विलास के साधनों को जुटाने और उन्हें भोगने में ही लगा रहा है तो तूने यह जीवन पाकर क्या किया ? कुछ भी नहीं ।’

तेरा पड़ीसी तन पर वस्त्र और पेट के लिये अन्न नहीं जुटा सका किन्तु तू प्रतिदिन नाना प्रकार के मधुर पकवान उदरस्थ करता रहा तो क्या हुआ ? क्या इससे तेरी कीर्ति बढ़ गई ? नहीं, अपना पेट तो पशु भी भर लेता है । तूने उससे अधिक क्या किया ? अगाध ज्ञान और बुद्धि का धनी होकर तथा

हृदय में अनेकों उत्तम भावनाओं का भंडार रखकर भी तूने उनका उपयोग नहीं किया तो मानव तन पाने का तूने क्या लाभ उठाया ? यह मत भूल कि—

जीवितं सफलं तस्य य. परार्थोच्छतः सवा ।

—ब्रह्मपुराण

उसी का जीवन सफल माना जाता है जो परोपकार में प्रवृत्त रहता है । सेवा परोपकार का ही दूसरा नाम है । सेवार्थी को निःस्वार्थ भाव से संत-महात्माओं की, धर्म गुरुओं की, गुरुजनों की एवं दुःखी, दृढ़ और पीड़ितों की सेवा करनी चाहिये । जो ऐसा करते हैं वे वास्तव में ही अत्मिक रोगों को नष्ट करने वाली औषधि का सेवन करते हैं तथा जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा प्राप्त करके अनन्त सुख के अधिकारी बनते हैं ।

दोनों दवाओं के लिये परहेज

बंधुओं, आपने जन्म-मरण के कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने की दो औषधियों के विषय में तो जान लिया किन्तु अब यह जानना भी आवश्यक है कि उन औषधियों के साथ परहेज कौन-कौन से रखने चाहिये ? क्योंकि कोई भी दवा कारगर तभी होती है जब-कि उसके अनुकूल परहेज भी रखा जाये । परहेज न रखने से दवा कभी ठीक असर नहीं कर पाती । परहेज और पथ्य ही दवा को शक्तिशाली बनाते हैं । संस्कृत के एक विद्वान् ने तो पथ्य को दवा से भी अधिक गुणकारी बताया है । कहा है—

औषधेन बिना व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते ।

न तु पथ्यविहीनस्य, शेषजानां शर्तारपि ॥

श्लोक में बताया है—बीमारी कभी-कभी बिना औषधि लिए केवल उचित परहेज और पथ्य का ध्यान रखने से भी ठीक हो सकती है, किन्तु पथ्य के अभाव में तो सैकड़ों औषधियाँ लेने पर भी उसे ठीक नहीं किया जा सकता ।

अर्थात्—दवा नहीं ली पर परहेज रखा तो दो दिन बाद ही सही पर बीमारी स्वयं ही ठीक हो जायेगी किन्तु दवा लेकर भी अगर परहेज सहित पथ्य का सेवन न किया तो वह दवा लेना निरर्थक होगा । इसलिये अब हमें देखना है कि सांसारिक कष्टों से निवृत्ति पाने के लिये बताई गई दोनों दवाओं के साथ परहेज कौन-कौन से बताए गए हैं ?

परहेज भी दो प्रकार के बताए गए हैं जिनमें से प्रथम के विषय में कहा है—

“धर्मं पायने वनिधो, तेनो संगम वरजे ।”

धर्म को ग्रहण करके भी जिसने पुनः उसे त्याग दिया हो यानी धर्म-मार्ग

पर चलते-चलते जो विचलित होके पथ-भ्रष्ट हो गया हो, उसकी संगति बजित की गई है। धर्म-भ्रष्ट व्यक्ति की संगति करने पर उसके कुछ न कुछ दोष आए बिना नहीं रह सकते। कवि बुन्द ने भी कुसंगति को अत्यन्त हानि-कारक माना है। कहा है—

आप अकारज आपनो, करत कुसंगति साथ ।

पांय कुल्हाड़ा बेत है, मूरख अपने हाथ ॥

जो व्यक्ति दुर्जनों की संगति करता है, ऐसा मानना चाहिये कि वह अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारकर अपनी ही हानि करता है।

वस्तुतः संगति का असर हुए बिना कदापि नहीं रह सकता। इसीलिए कवि वर रहिम ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं—

रहिमन उजली प्रकृति को नहीं नीच का संग

करिया बासन कर गहे, कारिख लागत अंग ॥

उजली प्रकृति अर्थात् उत्तम स्वभाव एवं गुणों वाले व्यक्ति को कभी भी निकृष्ट विचारों वाले व्यक्ति की संगति नहीं करनी चाहिये। अन्यथा जिस प्रकार पूरी सावधानी से भी कालिख लगे बर्तन को हाथ में उठाने से थोड़ी-बहुत कालिख हाथों में लग ही जाती है, उसी प्रकार दुर्गुणी व्यक्ति के संसर्ग में रहने से कुछ न कुछ अवगुण सज्जन व्यक्ति में आ जाते हैं।

यही कारण है कि हमारे धर्म-ग्रन्थ धर्म-भ्रष्ट व्यक्तियों की संगति मुमुक्षु के लिये बजित मानते हैं तथा उनकी संगति से परहेज करने की आज्ञा देते हैं।

दूसरा परहेज बताया गया है—“कुतूषीनी संगत धरजे।” अध्रद्दालु व्यक्ति का समागम भी निषिद्ध है। जिस व्यक्ति के हृदय में सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं है वह अपने संसर्ग में रहने वाले अन्य व्यक्ति को भी नाना प्रकार के कुतकं कर्के तथा अपने वाक्जाल में उलझा करके अध्रद्दालु बनाने का प्रयत्न करेगा तथा उसकी श्रद्धा को डीली बना देगा। अतः ऐसे व्यक्तियों की संगति से परहेज करना ही आत्मार्थी के लिये उचित है।

तो बंधुओं, मैं आपको यह बता रहा था कि आत्म-कल्याण के इच्छुक व्यक्ति में क्रिया-रुचि होनी चाहिये। किन्तु जैसा कि मैंने अभी बताया था, क्रिया अंधी होती है और उसका मार्ग-दर्शन ज्ञान और श्रद्धा ही कर सकते हैं। अतः जब तक मनुष्य की श्रद्धा मजबूत नहीं होती उसका ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं कहलाएगा और वह क्रिया को सही मार्ग नहीं बता सकेगा। इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति आत्मा के कष्टों का नाश करने के लिए अभी-अभी बताई गई दोनों दवाओं का सेवन करे तथा दोनों ही प्रकार के परहेजों का ध्यान रखे।

ऐसा करने पर ही उसकी आत्मा दोष-रहित बन सकेगी तथा उसकी क्रिया में विशुद्धता एवं दृढ़ता आएगी और एक बार जब क्रिया में शुद्धता आ जाएगी तो फिर पुनः-पुनः अभ्यास के द्वारा वह इतनी मजबूत हो जायेगी कि कोई भी सांसारिक शक्ति उसे विचलित नहीं कर सकेगी। उसके उत्तम संस्कार इतने पुष्ट और प्रबल हो जाएँगे कि वे आगामी जन्मों में भी मन को संतुलित एवं शुद्ध रखने में सहायक बनेंगे। कहा भी है—

“मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ।”

अर्थात्—आत्म प्रदेशों से अनुप्रेरित मनरूपी कोश में ही पूर्वजन्मों के संस्कार निहित रहते हैं और वही पूर्वजन्मों की संगति का एवं स्थिति का ज्ञाता होता है।

जो भव्य-प्राणी इस बात को समझ लेंगे वे सदा सावधान रहकर अपने संस्कार और आचरण को विशुद्धतर बनाए हुए मुक्ति-पथ पर अग्रसर हो सकेंगे।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने श्री उत्तराख्ययन सूत्र के अष्टासर्वे अध्याय की पच्चीसवीं गाथा के विषय में कुछ विचार किया था। उस गाथा में क्रिया-रुचि किसे कहते हैं तथा क्रिया-रुचि का स्वरूप क्या है ? इसका स्पष्टीकरण किया गया है। गाथा में पहला शब्द 'दर्शन' तथा दूसरा शब्द 'ज्ञान' है। इन दोनों पर कुछ विवेचन कल किया था, और आज भी ज्ञान के विषय में ही कुछ कहा जाएगा।
ज्ञान किसे कहते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—

‘ ज्ञायते अनेन इति ज्ञानं’

अर्थात्—जिससे जाना जाय उसको ज्ञान कहते हैं अथवा जिसमें जानने की शक्ति ही वह ज्ञान कहलाता है।

वस्तुतः ज्ञान जीव एवं अजीव सभी पदार्थों की पहचान कराता है और जब तक किसी वस्तु की पहचान नहीं होती उसका कोई मूल्य नहीं होता। उद हरणस्वरूप एक छोटे गिशु के सामने हम चाहे अमूल्य रत्न रख दें और चाहे अफीम की डेली। ज्ञान के अभाव में गिशु न रत्न का महत्त्व जान सकता है और न ही अफीम का दोष। न वह रत्न के मूल्य से लाभ उठा सकता है और न अफीम के विनाशक प्रभाव से अपने आपको बचा सकता है। वह दोनों को समान रूप से हाथ में लेकर खेलता है अथवा मुँह में भरने का प्रयत्न करता है।

किन्तु एक बड़ा व्यक्ति ऐसा नहीं करता। वह दोनों के गुण और दोष को समझता हुआ उपयोग करता है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि उसे रत्न और अफीम की पहचान होती है जो गिशु में नहीं होती।

पहचान के अभाव में सगा पुत्र भी पराया जान पड़ता है।

गोबर इकट्ठा करने वाला धनवान

एक निर्धन व्यक्ति ने अपनी गरीबी से परेशान होकर अपने पुत्र को उसी गाँव के कुछ व्यक्तियों के साथ परदेश भेज दिया जो कि धन कमान की इच्छा से जा रहे थे। कई वर्ष तक वह बालक उधर ही रहा और धीरे-धीरे बड़ा हो

गया साथ ही व्यापार की कला में होशियार हो जाने के कारण उसने बहुत द्रव्योपार्जन भी कर लिया ।

अनेक वर्ष बीत जाने के पश्चात् जब वह अतुल धन का स्वामी हो गया, उसने अपने गाँव लौटने का इरादा किया और अनेक नौकर-चाकरों के साथ रवाना हुआ । जिस समय वस अपने गाँव के समीप पहुँचा, रात्रि हो चुकी थी चूँकि वह बचपन में ही घर छोड़ गया था अतः घर ढूँढने की दिक्कत के कारण पास ही बनी एक धर्मशाला में अपने भारी लवाजमे के साथ ठहर गया । उसने विचार किया कि प्रातःकाल होते ही अपने घर चला जाऊँगा ।

मारे प्रसन्नता के उसे रात्रि को नींद नहीं आई अतः प्रातःकाल शीघ्र उठकर नित्य-कर्म से फारिग होने के लिये धर्मशाला से बाहर निकला । बाहर जाने पर देखता क्या है कि एक दीन-हीन वृद्ध व्यक्ति बड़ी कठिनाई से धर्मशाला के आस-गस रात्रि में ठहरे हुए पशुओं का गोबर इकट्ठा कर रहा है । पर इसी बीच एक अन्य व्यक्ति आया और उस वृद्ध के इकट्ठे किये हुए गोबर को ले भागा । वृद्ध अत्यन्त क्रुशकाय और निर्बल था अतः कुछ भी विरोध नहीं कर सका किन्तु दुःख के मारे हाथ-हथ करता हुआ रोने लगा ।

वास्तव में ही संसार में निर्बल व्यक्तियों को सभी सताते हैं, बलवानों का कोई कुछ नहीं बिगाड़ पाता ।

एक गुजराती कवि ने ठीक ही कहा है—

सबला थो सटुको बिए, नबला तेज न डाय ।

बाघतणो मांगे नहीं, भोग भवानी माय ॥

अर्थात्—बलवान से सब डरते हैं अतः निर्बल ही सताया जाता है । कोई प्रश्न करे कि ऐसा क्यों ? तो कवि एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त देकर उसे समझाता है कि और तो और, देवी भवानी भी डरके मारे शेर का भोग नहीं माँगती, अपितु बकरे और मुर्गे जैसे निर्बल प्राणियों का ही भोग चाहती हैं । आप लोगों में से भी किसी ने कभी नहीं सुना होगा कि देवी ने कभी शेर को जबह करके चढ़ाने की माँग की हो । यह इसलिये कि शेर ताकतवर होता है अतः किसकी मजाल है जो उसे पकड़कर उसका बलिदान कर सके ।

तो मैं यह बता रहा था कि गोबर बीनने वाले निर्बल वृद्ध का गोबर अन्य व्यक्ति छीन ले गया और वह कोई वश न चलने के कारण रो पड़ा । विदेश से लौटकर आने वाला युवक समीप ही खड़ा यह देख रहा था । पूछ बैठा—
“बाबा ! जरा से गोबर के छिन जाने से रोते क्यों हो ?”

वृद्ध दुःखी होता हुआ बोला—‘बेटा ! मैं अत्यन्त वृद्ध हूँ । कोई भी और काम नहीं कर पाता । केवल इस गोबर के कड़े बनाकर बेचता हूँ और उससे मिले हुए पैसे से किसी तरह आधा पेट अन्न खा पाता हूँ । अतः आज इस

गोबर के छिन जाने का मतलब यह हुआ कि एक दिन मुझे और मेरी बृद्धा पत्नी को उपवास करना पड़ेगा ।”

‘क्यों क्या तुम्हारे कोई पुत्र नहीं है ?’ युवक ने सहज भाव से प्रश्न किया ।

आँसू पोंछते हुए बूढ़े ने उत्तर दिया—“पुत्र तो मेरे है, पर वह बचपन में ही विदेश चला गया था । योग्य बनकर धन कमायेगा तो मेरी दरिद्रता दूर हो जाएगी, यही सोचकर मैंने उसे भेजा था । किन्तु वर्षों हो गए उसने मेरी खोज-खबर ही नहीं ली । किसी के साथ समाचार आए थे कि अब वह खूब धनवान हो गया है और इधर आने वाला है । पर कब आएगा पता नहीं ।”

“बाबा ! तुम्हारा और तुम्हारे पुत्र का क्या नाम है ?” युवक ने उत्सुकता से पूछा ।

बृद्ध ने अपना और पुत्र का नाम बताया । पर उन्हें सुनते ही युवक अपने पिता के चरणों पर गिर पड़ा और भिलन के हर्ष तथा पिता की दरिद्रता के दुःख से आँसू बहाने लगा । नाम सुनते ही वह जान गया था कि यही मेरे पिता हैं ।

बृद्ध पहले तो उस युवक का व्यवहार देखकर अचंका-सा रह गया पर तुरन्त ही असली बात समझ गया और उसने अपने पुत्र को छाती से लगा लिया । अब वह लखपति बाप था ।

यह था पहचान से पहले और उसके पीछे का परिणाम । जब तक बृद्ध को ज्ञान नहीं था कि यह युवक मेरा पुत्र है वह लाखों का स्वामी होते हुए भी थोड़े से गोबर के छिन जाने से रो पड़ा और कुछ क्षणों के बाद ही अपने आपको अतुल वैभव का स्वामी मानकर हँसने लगा । यह होता है ज्ञान का करिश्मा । कहा भी है—

“ज्ञानं सर्वार्थसाधकम् ।”

—सभी प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति में ज्ञान सहायक होता है ।

ज्ञान प्राप्त करने पर ही व्यक्ति धर्म-क्षेत्र में प्रवेश कर सकता है । जब तक उसे जीव-अजीव, पाप-पुण्य, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष आदि समस्त तत्त्वों की पहचान नहीं होगी, अर्थात् इनका ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह धर्म-क्षेत्र में अग्रसर नहीं हो सकेगा । अतः आवश्यक है कि मनुष्य सर्व प्रथम अपने हृदय में ज्ञान की ज्योति जलाए और उसके प्रकाश में अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़े ।

उद्यम, ज्ञान प्राप्ति का साधन

ज्ञान की परिभाषा और उसका महत्त्व जान लेने के पश्चात् हमारे सामने प्रश्न आता है कि ज्ञान किस प्रकार हासिल किया जाय ?

इस सम्बन्ध में हमारे धर्म-शास्त्र ज्ञान प्राप्ति के ग्यारह उपाय अथवा कारण बताते हैं जिन्हें अपनाकर मनुष्य ज्ञान हासिल कर सकता है। इनमें से पहला उपाय है—उद्यम करना। वहीं मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो उद्यमी हो। उद्यम के अभाव में ज्ञान तो बड़ी भाँती चीज है, छोटी से छोटी सिद्धि भी हासिल नहीं हो सकती।

हम प्रायः देखते हैं कि बिल्ली दूध पीती है। किन्तु क्या वह गाय-भैंस खरीद कर पालती है? नहीं फिर भी दूध प्राप्त कर ही लेती है। सुबह से शाम तक वह घर-घर में घूमती-फिरती है और इस प्रकार भटकते-भटकते कहीं न कहीं उसका दाव लग जाता है। तो बिल्ली दिन भर उद्यम करती है और उसके फलस्वरूप अपने इच्छित की प्राप्ति कर लेती है।

इसी प्रकार मनुष्य को भी ज्ञान रूपी दुग्ध प्राप्त करने के लिये उद्यम करना आवश्यक है, और यह भी आवश्यक है कि उसे ज्ञान जहाँ से भी प्राप्त हो सके प्राप्त करे। संस्कृत में कहा है—

“बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम् ।”

कहते हैं कि सुभाषित तो बच्चों से भी ग्रहण कर लेना चाहिये। यह विचार करना भूल है कि हम साठ वर्ष के हैं और बालक आठ ही वर्ष का है। भले ही वह आठ वर्ष का है किन्तु अगर उसने कहीं से कोई उत्तम बात सुनी और आपको आकर बता दी तो आपको अविलम्ब उसे ग्रहण कर लेना चाहिये।

एक दोहे में यही बात बताई गई है—

उत्तम विद्या लीजिये, यदपि नीच पं होय ।

पड़्यो अपावन ठौर पं, कंचन तजत न कोय ॥

दोहे में कहा है— मनुष्य को उत्तम वस्तु या विद्या जहाँ से भी प्राप्त हो, लेनी चाहिए चाहे वह किसी नीच से नीच व्यक्ति के पास ही क्यों न हो। जिस प्रकार गन्दे स्थल और गन्दगी में पड़े हुये सोने की प्रत्येक व्यक्ति तुरन्त उठा लेता है, यह सोचकर वहीं पड़ा नहीं रहने देता कि यह गन्दगी में पड़ा है, इसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति उत्तम गुणों को अविलम्ब ग्रहण करने का प्रयत्न करता है चाहे वे किसी भी जाति के व्यक्ति में क्यों न हों।

बोध प्राप्ति

गंधार देश के राजा सिंहरथ ने, जिसे 'निग्गई राजा' भी कहा जाता था एक पेड़ के ठूँठ से ही बोध प्राप्त कर लिया था और उसके कारण अपने समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ हुए थे।

एक बार राजा निग्गई अपने मुसाहिबों एवं सेवकों के साथ वन क्रीड़ा करने के लिए महल से रवाना हुए! शहर के बाहर उन्होंने एक आम का वृक्ष,

हरे-हरे पत्तों, फूलों और फलों से लदा हुआ देखा। वृक्ष अत्यन्त सुन्दर दिखाई दे रहा था अतः राजा सिंहरथ ने अपने घोड़े पर बैठे बैठे ही हाथ बढ़ाकर वृक्ष से एक मंजरी तोड़ ली और आगे बढ़ गया।

राजा के पीछे उनका दल आ रहा था। जब दल के व्यक्तियों ने राजा को अम-मंजरी तोड़ने हुए देखा तो उन सभी ने वृक्ष से मंजरियाँ, फल या पत्तें तोड़ना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि थोड़ी ही देर में वह फला-फूला वृक्ष तहस-नहस होकर ठूँठ-सा दिखाई देने लगा।

जब राजा निगाई बन क्रीड़ा से लौटे तो उनकी दृष्टि पुनः उस वृक्ष पर पड़ी। वे यह देखकर हैरान रह गए कि थोड़ी ही देर में वृक्ष की क्या से क्या स्थिति हो गई?

वृक्ष को देखते-देखते राजा को विचार आया—“इस वृक्ष के समान ही शरीर की शोभा भी अनित्य है, तथा किसी भी समय नष्ट हो सकती है, फिर मैं क्यों शरीर की शोभा बढ़ाने का निरर्थक प्रयत्न करूँ? अच्छा हो कि मैं अपनी आत्मा को ही सँवार लूँ जिससे लाभ ही लाभ है।”

यह विचार आते ही राजा ने उसे कार्य रूप में परिणत करने का निश्चय कर लिया और अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया। तत्पश्चात् उन्होंने संयम मार्ग ग्रहण किया तथा अन्त में केवल-ज्ञान की प्राप्ति कर संसार-मुक्त हुए।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति गुण-प्राही होता है वह प्रत्येक व्यक्ति से और व्यक्ति ही नहीं, अन्य समस्त पदार्थों से भी कुछ न कुछ बोध हासिल करने का प्रयत्न करता है। वह यह नहीं देखता कि अमुक गुण किस पात्र में है। उसका लक्ष्य उद्यम करना होता है और उद्यम करने पर वह कभी निष्फल नहीं जाता, कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है।

पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषि जी महाराज ने भी उद्यम का बड़ा महत्त्व बताया है। कहा है—

उद्यम धर्म सदा सुखदायक,
उद्यम थी सब दुःख भित्ते है।
उद्यम ज्ञान-ध्यान तप संयम,
उद्यम थी कर्म मंल छुटे है।
उद्यम थी ऋषि सिद्धि मिले सब,
उद्यम श्रेष्ठ दरिद्र घटे है।
तिलोक कहत है केवल' वंसण',
उद्यम थी शिव मेल पटे है।

कवि का कथन है—अगर धर्म-क्षेत्र में व्यक्ति उद्यम करे तो वह अत्यन्त सुखकर होता है और समस्त दुखों से छुटकारा दिलाने वाला साबित होता है।

क्योंकि उद्यम के द्वारा ही ज्ञान की वृद्धि होती है तथा ध्यान, तपस्या अदि में अभ्यास बढ़ता है । शास्त्रों में वर्णन आता है कि अनेकानेक महामुनि कई-कई प्रहरों तक एक आसन से ध्यान किया करते थे । यह उद्यम से ही संभव होता है । इसी प्रकार कठिन तप भी उद्यम के अभाव में नहीं किया जा सकता । अभ्यास से ही कई दिनों तथा महीनों की तपस्या की जाती है । अनेक प्रकार की सिद्धियाँ और लब्धियाँ उद्यम से प्राप्त होती हैं तथा दरिद्रों की दरिद्रता दूर हो-ी देखी जाती है । एक छोटा सा दृष्टान्त है—

मृत सर्प के स्थान पर रत्नहार

एक व्यक्ति अत्यन्त निर्धन था । यद्यपि उसके घर में पत्नी, पुत्र व पुत्री आदि कई सदस्य थे किन्तु सभी प्रमादी थे । जैसे-तैसे मेहनत मजदूरी करके पेट तो वे भरते ही थे किन्तु घन कमाने में कोई उत्साह और लगन से परिश्रम नहीं करते थे ।

निर्धन व्यक्ति का पुत्र बड़ा हुआ और पिता ने उसका विवाह भी कर दिया । नवागत पुत्रबधू यद्यपि एक गरीब की ही कन्या थी पर वह बहुत होशियार और उद्यमरिय थी ।

ससुराल में आते ही जब उसने देखा कि यहाँ के व्यक्ति सब पुरुषार्थहीन हैं तो उसने समुर से कहा—“पिताजी ! ऐसे घर का काम कैसे चलेगा ? आपको धन प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य करना चाहिए !”

समुर ने जबाब दिया— “हम क्या करें ? हमारे पास पूँजी नहीं है । पूँजी के बिना कैसे कोई काम किया जा सकता है ?”

बहू विनयपूर्वक बोली— “पूँजी नहीं है तो कोई बात नहीं, आप अभी इतना ही करें कि जब भी घर से बाहर जायें, खाली हाथ कभी न लौटें । जो कुछ भी आपको रास्ते में मिले चाहे वह रेत ही क्यों न हो लेकर आयें ।”

समुर भला व्यक्ति था । उसने सोचा—‘यही सही, देखें बहू की बात का क्या परिणाम निकलता है । उसने अब प्रतिदिन जो कुछ भी माग में मिलता था लाना प्रारम्भ कर दिया ।

एक दिन जब वह कहीं से लौट रहा था, और तो कुछ नहीं मिला, रास्ते में एक मरा हुआ सर्प दिखाई दिया । उसे देखकर वह आगे बढ़ गया पर दो-चार कदम ही गया था कि बहू की बात याद आई । सोचने लगा—‘मेरी बहू ने कहा था, जो कुछ भी मार्ग में मिले ले आना ।’ यह ध्यान में आते ही वह पुनः लौटा और उस सर्प को उठा लाया । पर घर पर आखिर उस कलेवर का क्या उपयोग था ? अतः बहू ने उसे छत पर लेजाकर एक ओर डाल दिया ।

संयोगवश उसी दिन एक चील कहीं से रत्न जटित हार चोंच में दबाकर उड़ती हुई उधर से गुजरी। उसकी दृष्टि खून से भरे किसी पदार्थ पर पड़ी। आप जानते ही हैं कि गिद्ध तथा चील आदि पक्षियों को मृतक शरीर से अधिक प्रिय अन्य कोई वस्तु नहीं होती। अतः उसने हार को वहीं पटक दिया और जल्दी से मृत सर्प को मुँह में दबाकर उड़ गई।

वास्तव में ही जब भगवन् देता है छप्पर फाड़कर देता है, पर व्यक्ति को उद्यम कभी नहीं छोड़ना चाहिये। उस निर्धन व्यक्ति के परिवार वालों ने जब मृत सर्प के बदले चील को रत्न-हार छोड़कर जाते देखा तो सब प्रसन्नता से पागल हो उठे। सारी दरिद्रता कपूर के समान उड़ गई। ससुर ने अपनी पुत्रवधु की बहुत प्रशंसा की।

किन्तु उसने केवल यही कहा —“यह सब आपके उद्यम का ही फल है। जो व्यक्ति थोड़ा भी उद्यम या पुरुषार्थ करता है भाग्य उसका साथ अवश्य देता है।”

एक संस्कृत भाषा के श्लोक में कहा भी है—

यथाग्निः पवनोद्धतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत् ।

तथा कर्म समायुक्तं दंभं साधु विवर्धते ॥

जिस प्रकार थोड़ी-सी आग वायु का सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दंभ का बल विशेष बढ़ जाता है।

इमोलिये पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषि जी महाराज ने कहा है - उद्यम से ही ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती है, दरिद्रता मिटती है और इतना ही नहीं, धर्म-क्षेत्र में उद्यम करने वाला साधक तो केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त करके मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है।

इपलिए बंधुओं, हमें अभी भी ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न में श्रमाद नहीं करना चाहिये तथा किसी भी कारण से निराश नहीं होना चाहिये। अनेक व्यक्ति थोड़ी-सी आयु के बढ़ने ही ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न का संबंध त्याग-सा ही कर देते हैं। ऐसे व्यक्तियों से अगर हम कभी पूछ लेते हैं—“क्यों भाई! सामायिक करते हो?”

उत्तर मिलता है —“महाराज, सामायिक के पाठ नहीं आते।”

हम पुन कहते हैं—“नहीं आते तो सीख डालो।”

पर जवाब छूटते ही मिल जाता है—“अबे काई सीखणरी टेम है महाराज ?” यह लीजिये, हमी से से उलटा प्रश्न हो गया। पर हम भी कच्चे नहीं हैं। कह देते हैं—“हाँ, अब भी टाइम है। रोज एक-एक शब्द भी याद करोगे तो याद हो जायेगा।”

मुस्लिम जाति में तो कहा जाता है कि जन्म लेते ही बच्चे की पढ़ाई चालू हो जाती है और उसे कब्र में जाने तक पढ़ते रहना चाहिए। मैंने सुना है - एक पश्चात् विद्वान् की अस्मी वर्ष की उम्र हो जाने के पश्चात् अध-

मागधी (प्राकृत) भाषा पढ़ने की इच्छा हुई और उसने उसे पढ़कर जैन दर्शन में बहुत अच्छी जानकारी हासिल कर ली।

कहने का अभिप्राय यही है कि उम्र की परवाह किये बिना जब भी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो, मनुष्य को उसके लिए उद्यम करना प्रारम्भ करना चाहिए। किसी विद्वान् ने कहा है—

गतेऽपि बयसि प्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः।

यद्यपि स्यान्न फलवा, सुलभा सान्यजन्मनि ॥

अर्थात्—उम्र बीत जाने पर भी बुद्धिमान् मनुष्य हर तरह से विद्या को प्राप्त करे। चाहे वह इस जन्म में फल न दे लेकिन दूसरे जन्म के लिए सुलभ हो जाती है।

कितना महत्त्व बात या गया है ज्ञान का? इसीलिए कहा जाता है कि ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में “जब जागे तभी सबेरा” मानकर चल देना चाहिये। एक सत्य प्रसंग है—

शास्त्र विशारद प्रौढ़ कवि श्री अमीरुषी जी महाराज का एक बार अहमदनगर में चातुर्मास हुआ। चारों ओर के लोग दर्शनार्थ आया ही करते थे। उन्हीं दिनों अमरावती के समीप चान्दूर-बाजार नामक स्थान से श्री बुधुमल जी रांका भी सवारिवार दर्शनार्थ आए। उनकी उम्र उस समय साठ वर्ष की थी।

पूज्यवाद श्री अमीरुषी जी महाराज ने उस दिन प्रवचन में सहज ही कहा—‘जो व्यक्ति यह कहता है कि हमको ज्ञान हासिल नहीं होता अथवा कुछ याद करें तो स्मरण नहीं रहता, यह गलत बात है। सामायिक अथवा प्रतिक्रमण का कोई एक-एक शब्द भी प्रतिदिन याद करे तो बारह महीने में प्रतिक्रमण सम्पूर्ण याद हो सकता है। याद नहीं होता, यह कहना केवल न सीखने का बहाना मात्र है तथा बड़ी भारी कमजोरी है।’

प्रवचन सुनने वाले श्रोताओं में श्री बुधुमल जी रांका भी बैठे थे। उनके हृदय में यह बात बैठ गई। व्याख्यान के पश्चात् उन्होंने श्री अमीरुषी जी महाराज से निवेदन किया—‘महाराज ! मुझे नियम करवा दीजिये प्रतिदिन एक नया शब्द याद करने का। मुझे प्रतिक्रमण याद करना है।’ यह नियम लेकर उन्होंने रोज एक शब्द सीखने का क्रम चालू रखा और पूरा प्रतिक्रमण कण्ठस्थ कर लिया। जब मेरा चातुर्मास चान्दूर-बाजार में था मैंने देखा कि वे प्रतिदिन श्रावकों को प्रतिक्रमण सुनाते थे।

वस्तुतः प्रयत्न और उद्यम करने से ही मनुष्य की प्रत्येक इच्छा पूरी होती है। केवल मनोरथ करने से तो कुछ नहीं हो सकता। पचतन्त्र में कहा

भी है—

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

जिस प्रकार सोये हुए सिंह के मुँह में मृग अपने आप नहीं चले जाते, उसे प्रयत्न करना पड़ता है, उसी प्रकार केवल इच्छा मात्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। उसके लिए उद्यम करना पड़ता है।

वास्तव में ही सफलता की कुँजी उद्यम है और उसके अभाव में मनुष्य का जीवन पशु के समान है। कितनी विद्वान् ने तो यहाँ तक कहा है—

“अगर तूने स्वर्ग और नरक नहीं देखा है तो समझ ले कि उद्यम स्वर्ग है और आलस्य नरक है।”

सर्वाधिक लाभकारी विशा

हम देखते हैं कि इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कर्म करता है और अपनी शक्ति के अनुसार उसमें जुट भी जाता है। किन्तु ज्ञान के अभाव में वह यह नहीं समझ पाता कि कौन-से कर्म उसके लिए अधिक लाभदायक साबित होंगे अर्थात् उसे किस दिशा में उद्यम करना चाहिए। इस विषय में हम विचार करें तो तीन प्रकार के कर्म हमारे समक्ष आते हैं और उन्हें करने वाले तीन प्रकार के व्यक्ति, जिन्हें हम उत्तम, मध्यम और निम्न पुरुष कह सकते हैं।

निम्न श्रेणी के व्यक्ति भी कर्म करते हैं और उन्हें करने में अपनी शक्ति लगाते हैं किन्तु उनके द्वारा लाभ के बदले उन्हें हानि उठानी पड़ती है। उदाहरणस्वरूप एक व्यक्ति चोरी करता है, डाके डालता है और हत्याएँ करके भी धन का उपार्जन करता है। इन सब कार्यों में भी उद्यम करना आवश्यक होता है। अपराधों के कारण कानून से बचने के लिये उसे न जाने कितनी परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं, कहीं-कहीं भटकना होता है। किन्तु उस उद्यम का परिणाम क्या होता है? अनेकानेक कर्मों का बन्धन और नरक तथा तिर्यचादि गतियों में नाना प्रकार के दुःखों का भोगना। इसीलिये ऐसे निकृष्ट कार्यों के लिये उद्यम करना प्राणी के लिये वजित है। जो व्यक्ति इस प्रकार अनाचार अथवा अत्याचार करके अपना दुर्लभ जीवन समाप्त करता है उसका परलोक में तो कोई साथ देता ही नहीं अपितु इस लोक में भी वह महान् अपयश का भागी बनता है तथा प्रत्येक व्यक्ति उसकी छाया से भी बचने का प्रयास करता है।

शेखसादी ने ऐसे भाग्यहीन प्राणियों के लिये सत्य ही कहा है—

बद अस्तर तरज सरदुमाजार नेस्त ।
कि रोजे मुसीबत कसरा भार नेस्त ॥

—गुलिस्ताँ

अत्याचारी से बड़कर अभागा और कोई नहीं है, क्योंकि विपत्ति के समय उसका कोई मित्र नहीं होता।

करने का अभिप्राय यही है कि अधम पुरुष अथवा निम्न श्रेणी के व्यक्ति भी उद्यम करते हैं और अपना समय व शक्ति कम करने में व्यतीत करते हैं। किन्तु उनके उद्यम से लाभ के बदले हानि ही होती है। पाप-पुण्य, धम-अधम अथवा परलोक को न मानने के कारण ऐसे व्यक्ति किसी भी कार्य से परहेज नहीं कर पाते और इसलिये उनका नाना प्रकार से पतन होता जाता है। कहा भी है—

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः

— विवेक से भ्रष्ट व्यक्तियों का सैकड़ों प्रकार से पतन होता है। ऐसे व्यक्ति अपने अनुचित कार्यों पर परदा डालने के लिए असत्य भाषण, कपट, क्रोध, मयाचार, अत्याचार, अनाचार, पिशुनता, शठता आदि अनेकानेक दुर्गुणों के पाश बनते हैं तथा उनकी आत्मा क्लुषिततर बनती हुई जन्म-जन्मन्तर तक अपने कुकृत्यों का दुःखद परिणाम भोगती है।

दूसरे प्रकार के व्यक्ति मध्यम श्रेणी के कहलाते हैं। ऐसे व्यक्ति परलोक के विषय में संदिग्ध बने रहते हैं। और कदाचित् परलोक को मान भी लेते हैं तो उसे बहुत दूर मानकर अनेक इसी लोक के लाभों का ध्यान रखते हैं। उनका उद्देश्य केवल इस लोक में सुख से जीवन-यापन करने के लिये प्रचुर धनोपाजन करना तथा लोगों के द्वारा सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना ही होता है। अपना सम्पूर्ण प्रयत्न वे इसी के लिये करते हैं और उनका उद्यम इहलौकिक लाभों की प्राप्ति के लिये भी होता है। आत्मा का आगे जाकर क्या होगा उसे इस संसार-परिभ्रमण से छुटकारा कैसे मिल सकेगा इस बात की उन्हें अधिक चिन्ता नहीं रहती और इसीलिये त्याग, तपस्या तथा धर्मारोघन की ओर उनकी रुचि नहीं रह पाती। सारांश यही कि मध्यम श्रेणी के ऐसे व्यक्तियों का उद्यम भी कोई शुभ फल प्रदान नहीं कर पाता और आत्मा की इस लम्बी यात्रा में सहायक नहीं होता।

किन्तु तीसरी श्रेणी के पुरुष जिन्हें हम उत्तम पुरुष कहते हैं वे अपने प्रत्येक कार्य का निर्धारण केवल वर्तमान को ही लक्ष्य में रखकर नहीं अपितु भविष्य को भी सम्मुख रखकर करते हैं। वे आत्मज्ञान के द्वारा पाप और पुण्य के रहस्य को जानते हैं तथा अपनी ज्ञानमूर्ति चेतना की अनुभूति का आनन्द लेते हैं। उनकी देव, गुरु और धर्म में दृढ़ आस्था होती है।

उत्तम पुरुष भली-भाँति जानते हैं कि जिस प्रकार तलवार की कीमत उसकी म्यान से नहीं होती उसी प्रकार मनुष्य जीवन की कीमत मनुष्य शरीर से नहीं आँकी जा सकती। तलवार का मूल्य उसके पानी से है उसी प्रकार मनुष्य-

शरीर की उत्तमता आत्मा के सद्गुणों से तथा उसका पवित्रता से जानी जा सकती है।

तो जो व्यक्ति आत्मा की कीमत जान लेने हैं वे प्रत्येक कार्य आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त करने के लक्ष्य को लेकर करते हैं। वे पुण्यशील पुरुष अनेकानेक पुण्यों के फलस्वरूप पाए हुए मानव-जीवन को निरर्थक नहीं जाने देते। उनका विश्वास होता है कि अगर पूर्वकृत पुण्य को इसी जीवन में भोग-कर समाप्त कर दिया और नवीन पुण्य का तथा धर्म का संचय न किया तो अनन्तकाल तक उनकी आत्मा को पुनः संसार-भ्रमण करना पड़ेगा तथा नरक, निगोध तथा तिर्यच गति की दुस्सह और भीषण यातनाएँ भुगतनी पड़ेगी। अगर मानव-जीवन रूपी यह अवसर एक बार हाथ से चला गया तो इसका फिर से प्राप्त करना कठिन ही नहीं बरन् असम्भव हो जायेगा। उन महा-मानवों की दृष्टि में यह जीवन और जीवन में भोगे जाने वाले सुख एक मधुर स्वप्न से अधिक महत्त्व नहीं रखते जो निद्रा भंग होते ही बिलीन हो जाते हैं। पूज्यपद श्री अमीरखण जी ने अपने एक पद्य में बड़े सुन्दर ढंग से यही बात बताई है। कहा है—

एक निरधन नर देख्यो है सुपन रेन,
तामें एक धन की भंडार तिन पायो है।
बाँधी है हवेली सार देश देश गाम-गाम,
कीनी है दुकान अति वणज चलायो है ॥
पुर में आदरमान लमा-लमा कहे सह,
चाकर अनेक नारी संग में लुभायो है।
जाग्यो तब निरधन मिसल न पुरी अस्स,
अमीरख कहे ऐसो संसार कहायो है ॥

इस संसार का रूप कवि ने कैसा बताया है? जैसे एक निर्धन व्यक्ति क्षुधा, तृषा, शीत व ताप आदि से व्याकुल हुआ भी किसी समय स्वप्न में देखता है कि उसे धन का एक विशाल कोश प्राप्त हो गया है और उसके द्वारा वह केवल अपने गाँव में ही नहीं अपितु अनेक गाँवों और शहरों में बड़ी-बड़ी हवेलियाँ चुनना रहा है। बड़े भारी पैमाने पर उसने दुकानें खोली हैं और व्यापार चालू कर दिया है। इतना ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति से उसे आदर-सम्मान मिलता है तथा नौकर-चाकरों की सेना प्रतिफल उसका हुकम बजाने के लिये तत्पर है साथ ही रम्भा के समान सुन्दर और सर्वगुण-सम्पन्न पत्नी के साथ भोग-विलास करते हुये समय व्यतीत हो रहा है।

किन्तु उसका वह सुखमय संसार कितनी देर तक उसे खुशियाँ प्रदान करता है? केवल नींद के टूटने तक ही तो? निद्रा-भंग होते ही वह अपनी घोर दरिद्रावस्था में अपने आपको पाता है तथा पुनः उससे जूझने लगता है।

इसलिये ज्ञानी पुरुष इस क्षणभंगुर जीवन की अनित्यता को जान लेते हैं तथा समझ लेते हैं कि यह संसार स्वप्नवत् है तथा जीवन समाप्त होते ही न धन उनके साथ जाता है और अपने जिन सम्बन्धियों के लिये वह नाना प्रकार के पाप-कर्म करता है न वे ही रंचमात्र भी उनके सहायक बनते हैं। साथ अगर कोई देने वाला है तो एकमात्र धर्म ही। और इसलिये जीवन में शुभ-कर्मों का करना आवश्यक है।

शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है :—

कतारमेव अणुजाइ कम्म”

अर्थात्—कर्म अपने कर्ता का ही अनुगमन करते हैं। बन्धुओं, हमें शास्त्रों के इन विधानों की ओर दृष्टिपात करते हुए संभल जाना है तथा यह विश्वास रखना है कि अपने कृतकर्मों का फल हमें ही अर्थात् हमारी आत्मा को ही भोगना पड़ेगा।

अगर यह विश्वास हमारे हृदय में जम जाता है तो निश्चय ही हमारा उद्यम सत्कर्मों में लग सकेगा तथा हमारा मन मोह, आसक्ति और विकारों से बचता हुआ धर्माराधन की ओर उन्मुख होगा और तब संसार की कोई भी शक्ति सही दिशा में किये जाने वाले हमारे उद्यम को सफल करने में समर्थ नहीं हो सकेगी।

आशा है, मेरे आज के कथन का सारांश आप समझ गये होंगे। वह यही है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति का मनोरथ उद्यम करने पर ही पूर्ण हो सकता है बिना उद्यम या पुरुषार्थ के किसी भी कार्य की पूर्ति सम्भव नहीं है।

किन्तु उद्यम करने से पूर्व व्यक्ति को यह निश्चय भी भली-भाँति कर लेना चाहिये कि किस दिशा में उद्यम करने से उसकी आत्मा का कल्याण हो सकेगा। क्योंकि अगर उसका प्रयास गलत दिशा में होगा तो उस उद्यम से लाभ के बदले महान् हानि उठानी पड़ेगी अर्थात् उसकी आत्मा को इस जन्म के पश्चात् भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकेगा। आत्मा के कल्याण की सही दिशा धर्माराधना करना है और इसलिये मुमुक्षु को दान, शील, तप, भाव तथा त्याग-प्रत्याख्यान आदि शुभ क्रियाओं को दृढ़ और सफल बनाने में अपनी सम्पूर्ण मानसिक एवं शारीरिक शक्ति लगानी चाहिये तभी वह मोक्ष प्राप्ति के अपने सर्वोत्कृष्ट मनोरथ को पूर्ण कर सकेगा।





घर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारे विचार-विमर्श के दौरान श्री उत्तराख्यन सूत्र के अट्टाईसवें अध्याय की पच्चीसवीं गाथा चल रही है। इस गाथा में बताया गया है कि ज्ञान की वृद्धि होगी और उसका विस्तार होगा तो आत्मा में प्रकाश बढ़ सकेगा।

ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारण होते हैं। उनमें पहला कारण है—उद्यम करना। उद्यम के विषय में मैंने आपको कल विस्तृत रूप से बताया था कि ज्ञानामिलायी चाहे कितना भी मन्द-बुद्धि क्यों न हो, अगर वह उद्यम करता रहे अर्थात् परिश्रम करना न छोड़े तो निश्चय ही ज्ञान-लाभ कर सकता है।

अब ज्ञान-प्राप्ति का दूसरा कारण हमें जानना है। वह है—निद्रा का त्याग करना। निद्रा-त्याग का अर्थ यह नहीं है कि उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। आशय यही है कि निद्रा उतनी ही ली जाय जितनी शरीर की थकावट को मिटाने के लिये आवश्यक हो। दिन-रात घण्टों सोते रहना समय का दुरुपयोग और ज्ञान-प्राप्ति में कमी करना ही होता है। किसी विद्वान् ने भी निद्रा की निंदा करते हुये कहा है :—

“अधिक निद्रा व्याधिग्रस्त की माता, भोगी की प्रियतमा एवं आलस्य की कन्या है।”

अर्थात्—अधिक निद्रा लेने वाला व्यक्ति व्याधिग्रस्त, भोगी और आलसी हो जाता है तथा ये तीनों बातें मनुष्य की ज्ञान प्राप्ति एवं साधना में बाधक बनती हैं। इसलिए नींद उतनी ही लेनी चाहिये जितनी मस्तिष्क और शरीर की थकावट मिटाकर उन्हें स्फूर्तिदायक बनाने में अनिवार्य हो। समय पर सोना और समय पर जागना शरीर को भी स्वस्थ बनाता है तथा ज्ञान-प्राप्ति में भी सहायक बनता है।

आज हम देखते हैं कि अनेक पढ़े-लिखे और अमीरों के पुत्र प्रातःकाल आठ-नौ अथवा दस बजे तक भी सोये रहते हैं। देर तक जागना और देर तक सोना उनके लिये फैशन-सा हो गया है। रात्रि को बे देर तक सैर-सपाटा करते हैं, सिनेमा देखते हैं अथवा ताश खेलते रहते हैं। स्वाभाविक ही है कि रात को बारह-एक और दो बजे तक जागने के पश्चात् वे प्रातःकाल

देर से उठते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका चित्त सदा अस्थिर और उद्विग्न बना रहता है तथा चिन्तन, मनन और आध्यात्मिकता की ओर तो उन्मुख ही नहीं होता। इसके लिये उन्हें समय भी नहीं मिलता। इन सबके लिये उपयुक्त समय केवल प्रातःकाल अथवा ब्रह्ममूर्हत के पश्चात् का ही होता है पर उनका वह समय सोने में व्यतीत होता है। फिर कब वे ज्ञानाराधना अथवा साधना कर सकते हैं? रात्रि के पिछले प्रहर में वही व्यक्ति जाग सकता है जो रात्रि के प्रारम्भ में जल्दी सो जाय। जल्दी सोने का महत्त्व बहुत बड़ा माना जाता है। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन भी है :—

‘One hour’s sleep before midnight is worth three after wards.’ —जार्ज हर्बर्ट

आधी रात के पहले की एक घण्टे की निद्रा उसके बाद की तीन घण्टे की निद्रा के बराबर होती है।

लेखक के कथन का आशय यही है कि अगर व्यक्ति रात्रि के प्रारम्भ में एक घण्टे भी गहरी निद्रा में सो ले तो उसे पिछली रात्रि में दो घण्टे जागने की शक्ति हासिल हो जाती है और उस समय वह उत्साहपूर्वक ज्ञानाराधना करने के लिये तत्पर हो सकता है।

समय पर कौन सो सकता है ?

यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है किन्तु इसके उत्तर में हम स्वयं भी सहज ही सोच सकते हैं कि जो व्यक्ति अर्थोपार्जन की चिन्ता से रहित होगा, काम भोगों की गृह्यता जिसमें नहीं होगी और जिसका चित्त शान्त होगा वह शीघ्र ही गहरी निद्रा के वशीभूत हो जाएगा। एक संस्कृत के विद्वान् ने भी कहा है :—

ब्रह्मचर्यरतेग्राम्य - सुख - निस्पृहचेतसः ।

निद्रा संतोषतृप्तस्य स्वकालं नातिवर्तते ॥

अर्थात्—जो मनुष्य सदाचरी है, विषयभोग से निस्पृह है और सन्तोष से तृप्त है, उसको समय पर निद्रा आये बिना नहीं रहती।

वस्तुतः सदाचारी और धर्मात्मा पुरुष सदा समय पर सोते हैं और समय पर ही जागकर अपना अमूल्य समय ईश-चिन्तन एवं ज्ञानाराधना में व्यतीत करते हैं। उनकी दिनचर्या और रात्रिचर्या दोनों ही नियमित और विशुद्ध होती हैं। तथा उन्हें आत्म-साधना के मार्ग पर अग्रसर करने में सहायक बनाती हैं। संसार का प्रत्येक महापुरुष अपने शुद्धाचरण एवं नियमित चर्या के कारण ही महान् कहलाया है।

जागे सो पावे और सोवे सो खोवे

युगपुरुष महात्मा गांधी अपने जीवन का एक क्षण भी अतिरिक्त निद्रा अथवा प्रमाद में बिताना पसन्द नहीं करते थे। चिन्तन, मनन, और प्रार्थना

उनके जीवन के अविभाज्य अंग थे और स्पष्ट है कि इन सबका उपयुक्त समय ब्रह्ममूर्त ही होता है ।

गांधीजी की सर्वप्रिय प्रार्थना भी यही थी :—

उठ जाग मुदाफिर भोर भई अब रैन कहाँ जो सोवत है ।

जो सोवत है सो खोवत है जो जागत है सो पावत है ॥

वस्तुतः प्रातःकाल का समय बड़ा महत्त्वपूर्ण और पवित्र होता है । इस काल में साधक का चित्त चिन्तन, मनन तथा ध्यान आदि में जितना एकाग्र रहता है, उतना अन्य किसी भी समय में नहीं रह पाता । इसी प्रकार एक जानाभिलाषी छात्र सम्पूर्ण दिन में जितना पाठ याद नहीं कर पाता उससे भी बहुत अधिक वह प्रातःकाल के अल्प समय में ही याद कर लेता है । यह प्रभाव उस शुभ समय का ही होता है ।

इसलिये, प्रत्येक ज्ञान-वृद्धि के इच्छुक प्राणी को अपना प्रातःकालीन अमूल्य वक्त केवल निद्रा में व्यतीत करके नष्ट नहीं कर देना चाहिए । अन्यथा बाद में उसे केवल पश्चाताप ही करना पड़ता है । एक सशब्दवक्ता ने कहा भी है—

सोना-सोना मत करो यारो, उठकर भजो मुरार ।

एक दिन ऐसा सोयेगा, लम्बे पाँव पसार ॥

क्या कहा है ? यही कि “जीवन की इन अमूल्य घड़ियों में क्या तू सोऊँ-सोऊँ करता रहता है ? सोने को तो एक दिन ऐसा मिलेगा कि पुनः उठना संभव ही नहीं होगा । अतः जब तक तुझमें उठने की शक्ति है, प्रातःकाल उठकर प्रभु का स्मरण किया कर ।”

सोया हुआ कौन रहे

प्रश्न बड़ा विचित्र है और सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि क्या प्रातः-काल के वक्त भी कोई सोया हुआ रहे तो ठीक रहता है ? पर बात यह यथार्थ है । संसार में ऐसे भी अनेक जीवों की कमी नहीं है जो कि अधिक से अधिक सोते रहने को अच्छा मानते हैं ।

श्रीभगवती सूत्र में वर्णन आता है कि जयन्ति नामक एक सुश्राविका ने श्री मह वीर भगवान् से प्रश्न किया—

‘भगवन ! यह जोत्र सोता हुआ अच्छा है या जागता हुआ ?’

देखिये इस संसार में प्रश्नकर्ताओं की कमी नहीं रही और प्रत्येक प्रकार का प्रश्न और उसका समाधान सदा होता रहा है ।

तो श्राविक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—“कितने ही जीव सोते हुए अच्छे होते हैं और कितने ही जीव जागते हुए अच्छे रहते हैं ।”

सुनकर आश्चर्यपूर्वक पुनः पूछा गया—“भगवन यह कैसी बात ? सोते हुए भला कौन अच्छे रहते हैं ?”

भगवान् के द्वारा उत्तर मिला—“जो जीव पातकी हैं, आरम्भ-परिग्रह करने वाले हैं, धर्म के विरुद्ध आचरण करते हैं, वे सोते ही अच्छे हैं, उनका जागना ठीक नहीं।”

अच्छा भगवन् ! अब यह बताइये कि “जागते हुए कौन से जीव अच्छे रहते हैं ?” पुनः प्रश्न हुआ ।

“धर्मात्मा पुरुष जागते हुए अच्छे हैं। क्योंकि वे जागते रहेंगे तो तत्त्व-चिंतन करेंगे, शास्त्र-स्वाध्याय करेंगे, जप-तप करेंगे और परमात्मा का भजन करेंगे। ऐसे धर्मी पुरुषों का जागता रहना अच्छा है।”

महात्मा कबीर कह भी गये हैं :—

सोता साध जगाइये, करै नाम का जाप ।

यह तीनों सोते भले साकत, सिंह औ सांप ॥

क्या कहा है ? यही कि साधु पुरुष को तो सोया हुआ भी जगा देना चाहिये ताकि वह उठकर प्रभु का नाम जपे पर दुष्ट, सिंह और सर्प जैसे हिंसक प्राणी सोये हुए रहें, इसी में सबका भला है। यद्यपि इस पद्य में सोये रहने वाले जीवों में मनुष्य का उल्लेख नहीं किया गया है पर हम जानते हैं कि हिंसक जन्तुओं की अपेक्षा क्रूर और पातकी मानव समाज के लिये अधिक भयानक और खूँखार होता है। सिंह तथा सर्प आदि जीवों की अपेक्षा भी वह प्राणियों का अधिक अहित करता है। इसलिए उसका सोया रहना अच्छा है।

उलटी गंगा

भगवत् गीता में कहा गया है :—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागृति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानी, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

श्लोक के भाव अत्यन्त मार्मिक हैं। इसमें कहा है—संसार के समस्त प्राणी जब रात्रि के समय सो जाते हैं, उस समय संयमी पुरुष जागते हैं और जिस समय सारी दुनिया जागकर अपने दुनियादारी के प्रपंचों में लग जाती हैं, वे उसे रात्रि मानते हैं अर्थात्—संयमी या मुनि रात को दिन और दिन को रात समझते हैं।

आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि ऐसा क्यों ? यह तो सरासर उलटी बात है पर है यह सत्य। रात को दिन और दिन को रात मानना साधक की भावनाओं के कारण ही संभव है। इसका कारण यही है कि रात्रि के समय सर्वत्र शान्ति रहती है, तनिक भी शोरगुल नहीं होता और आवागमन बन्द रहने से साधक का चित्त स्थिर बना रहता है। परिणामस्वरूप वह एकाग्रचित्त से चिंतन, मनन तथा ध्यान आदि अपनी धार्मिक क्रियाओं को

सम्पन्न करता है। दिन के समय कोलाहलपूर्ण और अशान्त वातावरण में इन सबको न कर पाने के कारण वह व्याकुलता का अनुभव करता है तथा आत्म-साधना के लिये दिन को रात्रि मानता है।

तात्पर्य यही है कि दुनियादारी में फँसे हुए लोगों के लिये रात्रि केवल रात्रि है, जो सोकर ही व्यतीत की जाती है, और दिन अर्थोपार्जन आदि अनेक प्रपंचों में पड़े रहने में समाप्त होता है। उन्हें यह विचार करने का समय ही नहीं मिलता कि आत्मा का भला किसमें है और उसके लिये क्या करना चाहिए। उनके चिंतन का विषय केवल यही रहता है कि दो पैसे अधिक कैसे पैदा किये जा सकते हैं ? और तो और रात को स्वप्न भी उन्हें इसी विषय के आते हैं। उस समय भी वे शान्ति से सो नहीं पाते। हाँ, धर्म-क्रियायें करते समय अर्थात् सामाजिक प्रतिक्रमण करते वक्त या व्याख्यान सुनते वक्त अवश्य ही नींद आने लगती है। क्योंकि वही वक्त उनके लिये बेकार होता है।

एक सत्य घटना है—किसी शहर में मुनिराज धर्मोपदेश दे रहे थे। एक व्यक्ति को उपदेश सुनते-सुनते ही नींद आ गई। केवल नींद ही नहीं स्वप्न भी आने लगा। स्वप्न में वह किसी ग्राहक को अपना माल दिखा रहा था और ग्राहक किसी कारण लेने में आनाकानी करता था। व्यक्ति के मुँह से स्वप्न में दिखाई देने वाले ग्राहक के लिए निकला 'ले लो, ले लो।' पर ये शब्द उसके मुँह से इतनी जोर से निकले कि आस-पास बैठे हुए अनेक श्रोताओं ने उन्हें सुना और सब हँस पड़े।

उस भाई से लोगों ने पूछा—'क्या बात है ?' वह बोला—'महाराज ! स्वप्न आ गया था।' तो व्याख्यान में भी लोगों को स्वप्न आते हैं और उसमें वे अपनी दुकान चालू रखते हैं। तात्पर्य यही है कि सांसारिक प्राणी जागते हुए भी सोता है और आत्मार्थी साधक सोते हुए भी जागता है। वह स्वप्न में भी अपने कर्तव्य और चिंतन को नहीं छोड़ता। तभी वह सच्चा ज्ञान हासिल करता है और आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। ज्ञान प्राप्त करना बड़ी टेढ़ी खीर है। उसके लिये ज्ञानार्थी को अत्यन्त सजग और सावधान रहना पड़ता है। दिन भर खूब पेट भर खाने और रात्रि को बेफिक्र होकर सोते रहने से ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं है।

ज्ञानार्थी के लिए

संस्कृत के एक श्लोक में बताया गया है कि ज्ञानार्थी को किस प्रकार संयमी और नियमित जीवन बिताना चाहिए, अगर उसे ज्ञान प्राप्ति की उत्कट कामना है। इस विषय में कहा गया है :—

काक चेष्टा, बकध्यानं सुनो निद्रा तथैव च ।
अत्पाहारी त्यजेक्षारी विद्यार्थी पंचलक्षणः ॥

श्लोक के अनुसार पाँच लक्षणों से युक्त विद्यार्थी ही अपने ज्ञान-प्राप्ति के लक्ष्य को पूरा कर सकता है। उसका पहला लक्षण है—'काक चेष्टा' अर्थात् विद्यार्थी कौए के समान अपनी चेष्टा रखे। कौआ बड़ा होशियार पक्षी माना जाता है। उसकी दृष्टि बड़ी तेज होती है जिसका उदाहरण देते हुए कहा भी जाता है—'कौए के समान अपनी दृष्टि रखो।' अपने कार्य में वह बड़ा सजग रहता है। जरा आँख चूकी कि वह वस्तु ले भागता है। इसलिए उसकी चेष्टा के समान ही ज्ञानार्थी को ऐसी चेष्टा को विद्वान् कहते हैं।

दूसरा लक्षण बताया है—'बबुध्यानं' अर्थात् बगुले के समान एकाग्र होकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में लगा रहे। बगुले की धैर्यता सराहनीय होती है। वह घंटों एक पैर पर मूर्तिवत् खड़ा रहता है। उसके शरीर में कोई हरकत न होने के कारण मछलियाँ भ्रम में पड़ जाती हैं और निर्भय होकर पानी में विचरण करती हैं। किन्तु जिस उद्देश्य को लेकर बगुला अपने धैर्य का परिचय देता है उसकी पूर्ति के समीप होते ही वह कब चूक सकता है? मछली के समीप आते ही चट से उसे पकड़ लेता है। ज्ञानार्थी को भी ऐसा ही एकाग्र होकर प्रत्येक शिक्षा और प्रत्येक गुण को अविलम्ब ग्रहण कर लेना चाहिये।

तीसरी बात बताई गई है—'शुनो निद्रा' अर्थात् निद्रा कुत्ते के समान हो। हमारा आज का विषय भी यह कह रहा है कि निद्रा कम करने से ज्ञान-लाभ होता है।

यह नहीं कि व्यक्ति ज्ञान तो हासिल करने की इच्छा रखे किन्तु रात्रि को सोया तो प्रातःकाल तक खरटे भरता रहे और दोपहर को खाना खाकर लेटे तो फिर शाम को ही उठे। ऐसा करने पर तो ज्ञान-प्राप्ति की कामना असफलता के गहरे समुद्र में विलीन हो जाएगी। अतः आवश्यक है कि जिस प्रकार कुत्ता तनिक-सी पैर की आहट होते ही जाग जाता है, सजग हो जाता है उसी प्रकार विद्यार्थी भी बिना हिलाने-डुलाने और आवाजें लगाने पर भी समय होते ही सजग होकर ज्ञानाभ्यास में लग जाय और कम से कम निद्रा लेकर अधिक से अधिक ज्ञानार्जन करने का प्रयत्न करे।

अब विद्यार्थी का चौथा लक्षण आता है—'अत्पाहार'। आप सोचने कि आहार का ज्ञान-प्राप्ति से क्या सम्बन्ध है? भूखे पेट तो किसी भी कार्य में मन नहीं लगता फिर पढ़ाई जैसा कार्य खाए बिना कैसे होगा?

यह सत्य है कि बिना आहार किये पढ़ने में भी मन नहीं लग सकता अतः भोजन करना अनिवार्य है। किन्तु यह भी सत्य है कि आवश्यकता से अधिक खाने से शरीर पर आलस्य छा जाता है और अधिक निद्रा आती है। हम देखते हैं कि पेट भर जाने पर भी अगर कोई स्वादिष्ट वस्तु सामने आ जाती है तो मनुष्य उसे अवश्य खा लेता है तथा दाल, सब्जी या चटनी के स्वादिष्ट

बनने पर अपनी खुराक पूरी हो जाने पर भी दो फुलके अधिक उदरस्थ करता है और कहीं जीमनवार आदि में जाने पर तो पूछना ही क्या है ? ठूस-ठूस कर खाये बिना रहा ही नहीं जाता। किन्तु इसके फलस्वरूप आलस्य और निद्रा मन व मस्तिष्क को घेरे बिना नहीं रहते तथा ज्ञानार्जन में बाधा पड़ती है। इसीलिये श्लोक में विद्यार्थी के अल्पाहार करने का विधान है। अगर भूख से कुछ कम खाया जाय तो अधिक निद्रा नहीं आती तथा शरीर में स्फूर्ति बनी रहती है जिसके कारण ज्ञानाभ्यास में मन लगता है।

पाँचवाँ लक्षण है — 'नारी-त्याग'। जब तक विद्यार्थी ज्ञानाभ्यास करे, तब तक उसे पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। विवाह से पहले बुद्धि में जितनी सरलता और पवित्रता रहती है वह विवाह हो जाने के पश्चात् नहीं रहती क्योंकि विवाह के पश्चात् मन अनेकानेक विचारों और चिन्ताओं से भर जाता है। मैं यह नहीं कहता कि विवाह हो जाने के पश्चात् ज्ञान प्राप्त किया ही नहीं जा सकता, केवल यही कहता हूँ कि उसे उतनी शीघ्रता से और एकाग्रता से नहीं सीखा जा सकता, जितना कि विवाहावस्था से पूर्व में सीखा जाता है। कबीर का कथन है :—

चली-चली सब कोई कहै, पहुँचे बिरला कोय ।

धक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोग ॥

इसका आशय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तम लक्ष्य की ओर चलता हुआ अगे बढ़ो, अगे बढ़ो, कहता है लेकिन वहाँ तक कोई बिरला व्यक्ति ही पहुँच पाता है। क्योंकि एक धन और दूसरी नारी, इनका आकर्षण उसे बाँधने का प्रयत्न करता है। ज्ञान-प्राप्ति भी मानव का एक पवित्र और अत्युत्तम लक्ष्य है अतः उसे प्राप्त करने के लिये भो मनुष्य को भोग-विलास का त्याग करना चाहिये अन्यथा लक्ष्य-सिद्धि होनी कठिन हो जाएगी।

निद्रा के प्रकार

निद्रा के दो प्रकार माने गये हैं—एक द्रव्य-निद्रा तथा दूसरी भाव-निद्रा।

द्रव्य-निद्रा के विषय में मैं अभी तक बहुत कुछ बता चुका हूँ और यह भी बता चुका हूँ कि उसकी अति से ज्ञानाभ्यास में किस प्रकार बाधा पड़ती है।

अब हमें लेना है भाव-निद्रा को। एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि द्रव्य-निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति तो हिला-डुलाकर, झंझोड़कर या पाना डालकर भी किसी तरह जगाया जा सकता है। किन्तु भाव-निद्रा में सोए हुए व्यक्ति को जगाना बड़ा कठिन होता है।

आपको जानने को उत्सुकता होगी कि आखिर भाव-निद्रा क्या है जिसमें पड़ा हुआ व्यक्ति अल्दी से जाग भी नहीं पाता। भाव-निद्रा है मनुष्य की क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष तथा प्रमाद और मिथ्यात्व आदि में पड़े रहने की

अवस्था । जब मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर ये विकृतियाँ हावी हो जाती हैं तो वह आत्मा के हानि-लाभ पर विचार ही नहीं कर पाता । भाव-निद्रा मनुष्य की ज्ञान-वृद्धि में बाधा तो पहुँचाती ही है साथ ही रहे हुए ज्ञान पर भी मूढ़ता या जड़ता का ऐसा आवरण डाल देती है कि उसका कोई उपयोग वह नहीं कर पाता । उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान कहलाता है ।

मिथ्यात्व से परिपूर्ण चित्त वाले मिथ्यादृष्टि पुरुष का ज्ञान अज्ञान क्यों कहलाता है, इसके चार कारण एक श्लोक में बताए गए हैं । कहा है :—

सवसव बिसेसणाओ,

अवहेऊ जहिच्छिओवलंभाओ ।

नाण फलाभावाओ,

भिच्छाविट्ठिठस्स अण्णाणं ॥

पहला कारण है—मिथ्यादृष्टि को सत्-असत् का विवेक नहीं होता । वह जीव को अजीव तथा अजीव को जीव कह देता है, बहन को माता या पत्नी कहने लगता है । रस्सी को सर्प समझकर दूर भागता है या सर्प को रस्सी समझकर उठाने का प्रयत्न करता है । जब वह पागल व्यक्ति ऐसा करता है, तब उसका ज्ञान यद्यपि बुद्धिमान व्यक्ति के ज्ञान के समान ही सत्य प्रतीत होता है किन्तु उसे सम्यक्ज्ञानी नहीं कहा जा सकता । एक बात और भी ध्यान में रखने की है कि मन की तरंगों के वशीभूत होकर जब मिथ्याज्ञानी व्यक्ति अपनी बहन को बहन भी मान लेता है तब भी उसकी निर्णयोचित बुद्धि के अभाव के कारण उसका ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं कहलाता । विवेक के अभाव में उसका तथ्यज्ञान भी प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता ।

दूसरी बात यह है कि वही ज्ञान, ज्ञान कहलाता है जो आत्मा के अनादि-कालीन भव-बन्धनों को नष्ट कर उसे मुक्ति प्रदान करता है । जैसा कि कहा गया है :—

सा विद्या या विमुक्तये ।

वही विद्या अथवा ज्ञान, ज्ञान है जो मुक्ति दिला सकती है ।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान आत्मा को जन्म-मरण से मुक्त तो कर ही नहीं पाता अपितु उसे अधिक बढ़ाता है । अतः वह मिथ्याज्ञान या अज्ञान कहलाता है ।

तीसरी बात यह बताई गई है कि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान उसकी इच्छा पर अवलम्बित होता है । उसके मन को जैसा अच्छा लगता है, वह वैसा ही मान लेता है तथा लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी धारणा को नहीं बदलता । वह अपनी प्रत्येक गलती को छिपाने के लिये नित्य नई गलतियाँ किया करता है ।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान इसलिये भी अज्ञान कहलाता है कि वह ज्ञान के फल को कभी प्राप्त नहीं कर पाता । ज्ञान का फल है पापपूर्ण कार्यों से विरत हो जाना तथा आत्म-कल्याणकारी कार्यों में लग जाना । किन्तु मिथ्यादृष्टि प्राणी ऐसा नहीं कर पाता । वह पापकार्यों में अधिकाधिक लिप्त होता जाता है तथा पतन के मार्ग पर बढ़ता है । ऐसी स्थिति में उसका ज्ञान सम्यक्ज्ञान कैसे कहला सकता है ?

पूज्यवाद श्री अभी ऋषिजी महाराज ने भी मिथ्यादृष्टि के लक्षण बताते हुए कहा है :—

करम आधोन भूढ़ विकल अनाविहु से,
 भयो न प्रकाश ज्ञान, आतम परम को ।
 जो जो पुद्गल के संयोग दिशा चेतन को,
 सोही निज मानत न मानत भरम को ॥
 जानाविक गुण से जो होय के विमुख रहे,
 जाणे पुद्गल रूप आतम धरम को ।
 ऐसी घट विभाव अज्ञान बसो रह्यो ताके,
 कहे अभीरिख वंश बढ़े है करम को ॥

मिथ्यादृष्टि जीव अपनी मूढ़ता के कारण अनादि काल से कर्मों के वश में पड़ा हुआ सदा विकलता का अनुभव करता रहा है । उसकी आत्मा में कभी भी ज्ञान का आलोक नहीं हुआ । बाह्य पदार्थों के संयोग से होने वाले क्षणिक सुख और दुःख को ही वह आत्मा का सुख-दुःख मानता रहा है तथा आत्मिक गुणों से विमुख बना रहा है । आत्मा में इस प्रकार की विभाव दशा बनी रहने के कारण उसकी कर्म परम्परा समाप्त होने के बजाय बढ़ती चली जा रही है ।

बाह्य पदार्थों के संयोग से सुख और उनके वियोग से दुःख का अनुभव करना मूढ़ता है । कभी-कभी इसका परिणाम अत्यन्त भयंकर और महान् कर्मबन्धन का कारण बनता है । उदाहरणस्वरूप—पूना में एक बार एक गराब व्यक्ति ने हिम्मत करके रेल में दाँव लगा दिया । भाग्यवश उसका घोड़ा जीत गया और उस दरिद्र को पन्द्रह हजार रुपये तक मिल गये ।

जीवन में उसने हजारों तो क्या सैकड़ों रुपये भी कभी एक साथ नहीं देखे थे । अतः पन्द्रह हजार रुपयों का ढेर देखकर वह खुशी के मारे बाबला-सा हो गया और—“इतने सारे रुपये……” ये शब्द मुँह से निकालते-निकालते ही खत्म हो गया ।

एक और उदाहरण ठाणांग सूत्र में आया है कि एक अवधिज्ञानी मुनि को अवधिज्ञान ही जाने के कारण मर्यादित प्रत्येक स्थान की वस्तुएँ दिखायी देने लगीं। उस ज्ञान के कारण उन्होंने देखा कि एक स्थान पर अपार धन छिपा पड़ा है। यह मालूम होते ही उनके मन में आया—“अरे, इतना सारा धन...”। बस, यह विचार आना था कि उनका अवधिज्ञान लोप हो गया।

ऐसा होता है सांसारिक धन-धान्य का आकर्षण। यद्यपि मुनि समस्त धन और परिग्रह मात्र का त्याग कर चुके थे किन्तु केवल धन को देखकर जो कौतूहल उन्हें हुआ, उतने से ही महान् प्रयत्नों से प्राप्त हुआ अमूल्य ज्ञान उनका नष्ट हो गया।

इसीलिये महापुरुष कहते हैं—सांसारिक सुख प्राप्त होने पर गर्व से फूली मत, और दुःख प्राप्त होने पर व्याकुल मत होओ! ऐसा जो कर पाते हैं वे महापुरुष बिरले ही मिलते हैं। संस्कृत भाषा में श्लोक कहा गया है :—

संपदि यस्य न हर्षो,
विपदि विषादो रणे च धीरत्वं ।
तं भुवनत्रय तिलक,
जनयति जननि सुतं बिरलम् ॥

अर्थात्—सम्पत्ति प्राप्त होने पर जिसे खुशी नहीं होती, विपत्ति आने पर खेद नहीं होता तथा संग्राम में जाने पर जो भयभीत नहीं होता, ऐसे त्रिभुवन प्रसिद्ध पुत्र को जन्म देने वाली माता बिरली ही होती है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य राग-द्वेष के बन्धीभूत क्यों होता है? मोह और ममता के बन्धन में पड़कर अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी क्यों मारता है? उत्तर इसका यही है—‘भाव-निद्रा का त्याग न कर सकने के कारण।’ राग, द्वेष, मोह, क्रोध और कषायदि का अनुभव करना ही भाव-निद्रा है। जब तक इसका त्याग न किया जायेगा प्राणी सच्चा ज्ञान हासिल नहीं कर सकेगा और उस ही मोक्ष-प्राप्ति की कामना अपूर्ण रहेगी।

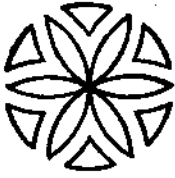
मेरे आज के कथन का सारांश यही है कि निद्रा चाहे द्रव्य-निद्रा हो या भाव-निद्रा दोनों ही ज्ञान की प्राप्ति में बाधक हैं। अतः इनका त्याग करना ही कल्याणकर है।

ज्यों-ज्यों इसमें कमी की जायेगी, त्यों-त्यों मनुष्य की आत्मा में ज्ञान का नैसर्गिक प्रकाश बढ़ता जायेगा और वह प्रकाश अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करता हुआ आत्मिक गुणों को प्रकाशित करेगा। इस विशाल विश्व में केवल ज्ञान ही मन के विकारों को नष्ट करके आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में लाने की क्षमता रखता है तथा उसको अपने लक्ष्य की ओर बढ़ाता है। कहा भी है :—

ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत् ।

ज्ञान की प्रेरणा से ही प्रयत्न आत्म-विकास के मार्ग में गति करता है और उसी के परिणामस्वरूप परमात्मरूप महान् फल की प्राप्ति हुआ करती है ।

इसलिये बन्धुओं ! हमें निद्रा का त्याग करते हुए सदा सजग रहना है तथा ज्ञान रूपी अमूल्य रत्न की प्राप्ति करके अक्षय सुख का उपार्जन करना है । इस मानव जीवन का एक-एक क्षण दुर्लभ और अमूल्य है । निद्रा के बहाने अगर इन्हें खो दिया तो हमारी मुक्ति की कामना निराशा के अतल सागर में विलीन हो जायेगी और अनन्तकाल तक हमें पुनः संसार-ध्रमण करना पड़ेगा तथा जन्म, जरा और मृत्यु के असह्य कष्टों को भोगना होगा । अतः बुद्धिमान्नी इसी में है कि हम दोनों प्रकार की निद्राओं का यथाशक्य त्याग करके जीवन के अमूल्य क्षणों का सदुपयोग करें तथा अपने अभीष्ट की ओर बढ़ें । ★



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आजकल हम श्री उत्तराध्यायन सूत्र के अट्टाईसवें अध्याय की पच्चीसवीं गाथा के विषय में विचार कर रहे हैं। इस गाथा में क्रिया रुचि के स्वरूप की व्याख्या की गई है।

गाथा में पहला शब्द दर्शन आया है। दर्शन का अर्थ है 'श्रद्धान्'। श्रद्धा को रूढ़ बनाने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसे 'क्रियारुचि' कहा गया है। दूसरा शब्द गाथा में आया है 'ज्ञान'। ज्ञानप्राप्ति के लिए अभ्यास करना भी क्रियारुचि ही है। जब तक मनुष्य की अभिरुचि ज्ञान की ओर नहीं होगी, ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा, और ज्ञान के अभाव में आत्मा का कल्याण सम्भव नहीं होगा। इसीलिये हम ज्ञान के विषय में विस्तृत विचार कर रहे हैं। ज्ञान आत्मा का निजी गुण है तथा वही आत्मा को संसार-मुक्त करने की शक्ति रखता है। अन्य किसी भी वस्तु में वह महान् क्षमता नहीं है। इसको महत्ता के विषय में जो कुछ भी कहा जाय, कम है। फिर भी विद्वान् अपने शब्दों में इसके महत्त्व को बताने का प्रयत्न करते हैं। एक श्लोक में कहा गया है :—

तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं,
शमं विधत्ते विनिहन्ति कोपम् ।
तनोनि धर्मं विधुनोति पापं,
ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम् ॥

बताया गया है कि एकमात्र ज्ञान ही अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करके आत्मा में अपना पवित्र प्रकाश फैलाता है तथा उसके समस्त निजी गुणों को अलोकित करता है।

ज्ञान ही आत्मिक गुणों को नष्ट करने वाले क्रोध को मिटाकर उसके स्थान पर समभाव को प्रतिष्ठित करता है तथा पापों को दूर करके आत्मा में धर्म की स्थापना करता है।

अन्त में संक्षेप में यही कहा गया है कि ज्ञान मनुष्य के लिये क्या-क्या नहीं करता ? अर्थात् सभी कुछ वह करता है जो आत्मा के लिये कल्याणकारी है।

इस संसार में ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं। ज्ञानी पुरुष वे होते हैं जो अपने विवेक और विशुद्ध विचारों के द्वारा अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रखते हैं तथा ज्ञान के आलोक में आत्म-मुक्ति के मार्ग को खोज निकालते हैं।

किन्तु अज्ञानी व्यक्ति इसके विपरीत होते हैं। वे विषय-भागों को उपादेय मानते हैं और उन्हें भोग न पाने पर भी भोगने की उत्कट लालसा रखने के कारण निरन्तर कर्म-बन्धन करते रहते हैं तथा अन्त में अकाम मरण को प्राप्त होकर पुनः-पुनः जन्म-मरण करते रहते हैं।

इसीलिये ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर बताते हुए कहा गया है :—

अं अज्ञानी कम्मं खवेइ बहुयाइं वास कोइीहि ।

तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसास मित्तेण ॥

अर्थात्—जिन कर्मों को क्षय करने में अज्ञानी करोड़ों वर्ष व्यतीत करता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी एक श्वास मात्र के काल में ही नष्ट कर डालता है।

बन्धुओ ! ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया में कितना अन्तर है ? ज्ञान का महात्म्य कितना अबर्दस्त है ? इसीलिये तो हमारे धर्म ग्रन्थ तथा धर्मात्मा पुरुष सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति पर बल देते हैं। कहते हैं—अपने मन और मस्तिष्क की समस्त शक्ति लगाकर भी ज्ञान हासिल करो। ज्ञान हासिल करने के लिये वे अनेक उपाय भी बताते हैं जो कि ग्यारह भागों में विभक्त किये गए हैं। उनमें प्रथम है—उद्यम करना तथा दूसरा है—निद्रा कम करना। इन दो के विषय में हम काफी कह चुके हैं और आज तीसरे पर प्रकाश डालना है। ज्ञान प्राप्ति का तीसरा उपाय है—ऊनोदरी करना। ऊनोदरी को हमारे यहाँ तप भी माना गया है।

ऊनोदरी क्या है ?

ऊनोदरी का अर्थ है—कम खाना। आप सोचेंगे कि थोड़ा-सा कम खाना भी क्या तपस्या कहलायेगी ? दो कौर (कवल) भोजन में कम खा लिये तो कौन-सा तीर मार लिया जाएगा ?

पर बन्धुओं ! हमें इस विषय को तनिक गहराई से सोचना और समझना है। यही सही है कि खुराक में दो-चार कौर कम खाने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु अन्तर पड़ता है खाने के पीछे रही हुई लालसा के कम होने से। आप जानते ही होंगे कि कर्मों का बन्धन कार्य करने की अपेक्षा उसके पीछे रही हुई भावना से अधिक होता है।

एक बार मैंने आपको बताया था कि मुनि प्रसन्नचन्द्र जी को ध्यान में बैठे हुए ही अपने राजकुमार पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं को मार डालने का

विचार आया। इस विचार के आते ही केवल भावना से ही शत्रुओं से युद्ध करने के कारण उन्हें सातवें नरक का बन्ध पड़ने का अवसर आ गया था, किन्तु कुछ क्षण पश्चात् ही जब उनका हाथ अपने मस्तक पर गया तो उन्हें अपनी मुनिवृत्ति का ध्यान आया और कुछ क्षणों पहले ही उदित हुई भावनाओं पर घोर पश्चाताप हुआ। पश्चाताप की भावना आते ही उन्हें केवलज्ञान हो गया।

यह सब चमत्कार केवल भावनाओं का ही था। उन्होंने शत्रुओं से युद्ध किया नहीं था किन्तु मात्र विचारों से ही सातवें नरक का और उन भावनाओं के स्थान पर पुनः पश्चाताप की भावनाओं के पैदा होते ही मोक्ष का मार्ग पाया।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि भोजन में दो ग्रास कम खाने का महत्त्व अधिक नहीं है, महत्त्व है खाद्य पदार्थों के प्रति रहो हुई आसक्ति के कम होने का। आसक्ति और लालसा का कम होना ही वास्तव में आंतरिक तप है।

तपस्या और आत्मशुद्धि

हमारे जैनागमों में तपश्चर्या का बड़ा भारी महत्त्व और विशद् वर्णन किया गया है तथा आत्म-शुद्धि के साधनों में तप का स्थान सर्वोपरि माना गया है। तपश्चरण साधना का प्रमुख पथ है। यह आन्तरिक (आभ्यन्तर) और बाह्य दो भेदों में विभाजित है। प्रत्येक साधक तभी अपनी आत्मा को शुद्ध बना सकता है, जबकि उसका जीवन तपोमय बने।

तपस्या के द्वारा आत्मा का समस्त क्लृप्त उसी प्रकार धुल जाता है, जिस प्रकार आप साबुन के द्वारा अपने वस्त्रों को धो डालते हैं। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार अग्नि में तपकर स्वर्ण निष्कलुष हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या की अग्न में आत्मा का समग्र मेल भी भस्म हो जाता है तथा आत्मा अपनी सहज ज्योति को प्राप्त कर लेती है। तपस्या से मनुष्य अपनी उच्च से उच्च अभिलाषा को पूर्ण कर सकता है। कहा भी है :—

यद् दूरंयद् दुराराध्यं,
यच्च दूरे व्यवस्थितम् ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं,
तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

जो वस्तु अत्यन्त दूर होती है, जिसकी आराधना करना अत्यन्त कठिन दिखाई देती है तथा जो हमारी दृष्टि से बहुत ऊँचाई पर जान पड़ती है और उसे प्राप्त करना हमारी क्षमता से परे मालूम होता है। वह वस्तु भी तप के

द्वारा हमारे लिए साध्य हो जाती है। तपस्या सम्पूर्ण दूरी ऊँचाई को समाप्त करके हमें उस वस्तु की प्राप्ति करा देती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि तप का अभाव अवाध्य और अप्रतिहत होता है। वह अपने मार्ग में आने वाली प्रबल से प्रबल बाधाओं को भी अल्पकाल में ही नष्ट कर देता है तथा देव एवं दानवों को अपने समक्ष झुका लेता है।

ऊनोदरी भी बारह प्रकार के तपों में से एक है, जो मन और रसनाइन्द्रिय पर नियन्त्रण करके भावनाओं और विचारों को आसक्ति तथा लालसा से रहित बनाता हुआ आत्मा को शुद्ध करता है।

आहार का प्रयोजन

हम जानते हैं कि भोजन का प्रयोजन शरीर के निर्वाह के लिए आवश्यक है। संसार के प्रत्येक प्राणी का शरीर नैसर्गिक रूप से ही इस प्रकार का बना हुआ है कि आहार के अभाव में वह अधिक काल तक नहीं टिक सकता। इस-लिए शरीर के प्रति रहे हुए ममत्व का परित्याग कर देने पर भी बड़े-बड़े महर्षियों को, मुनियों को तथा योगी और तपस्वियों को भी शरीर यात्रा का निर्वाह करने के लिये आहार लेना जरूरी होता है।

किन्तु आज मानव यह भूल गया है कि इस शरीर का प्रयोजन केवल आत्म साधना में सहायक होना ही है। चूँकि शरीर के अभाव में कोई भी धर्म-क्रिया, साधना या कर्मबन्धनों को काटने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता अतएव इसे टिके रहने मात्र के लिए ही खुराक देनी पड़ती है। शरीर साध्य नहीं है, यह किसी अन्य एक उत्तमोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है।

खेद की बात है कि आज का व्यक्ति इस बात को नहीं समझता। वह तो इस शरीर को अधिक से अधिक सुख पहुँचना अपना लक्ष्य मानता है और भोजन को उसका सर्वोपरि उत्तम साधन। परिणाम यह हुआ है कि वह उदर में अच्छे से अच्छा पीष्टिक आहार पहुँचाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं करता तथा मांस एवं मदिरा आदि निकृष्ट पदार्थों का सेवन भी निःसंकोच करता चला जाता है। जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर वह अधिक से अधिक खाकर अपने शरीर को पुष्ट करना चाहता है तथा ऊनोदरी किस चीज का नाम है, इसे जानने का भी प्रयत्न नहीं करता।

किन्तु इसका परिणाम क्या है? यही कि, अधिक ठूस-ठूसकर खाने से शरीर में स्फूर्ति नहीं रहती, प्रमाद छाया रहता है और उसके कारण आध्यात्म-साधना गूलर का फूल बनी रहती है। मांस-मदिरा आदि का सेवन करने से तथा अधिक खाने से बुद्धि का ह्रास तो होता ही है, चित्त की समस्त वृत्तियाँ भी दूषित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य चाहे कि वह ज्ञानार्जन करे, तो क्या यह संभव है? कदापि नहीं। ज्ञान की साधना ऐसी सरल वस्तु

नहीं है, जिसे इच्छा करते ही साध लिया जाय। उसके लिए बड़ा परिश्रम बड़ी सावधानी और भारी त्याग की आवश्यकता रहती है। आहार के कुछ भाग का त्याग करना अर्थात् ऊनोदरी करना भी उसी का एक अंग है। अगर मनुष्य भोजन के प्रति अपनी गृह्यता तथा गहरी अभिरुचि को कम करे तो वह ज्ञान हासिल करने में कुछ कदम आगे बढ़ सकता है। क्योंकि अधिक खाने से निद्रा अधिक आती है तथा निद्रा की अधिकता के कारण जैसा कि मैंने कल बताया था, जीवन का बहुत-सा अमूल्य समय व्यर्थ चला जाता है।

आशय मेरा यही है कि मनुष्य अगर केवल शरीर टिकाने का उद्देश्य रखते हुए कम खाए या शुद्ध और निरासक्त भावनाओं के साथ ऊनोदरी तप करे तो अप्रत्यक्ष में तप के उत्तम प्रभाव से तथा प्रत्यक्ष में अधिक खाने से प्रमाद और निद्रा की जो वृद्धि होती है उसकी कमी से अपनी बुद्धि को निर्मल, बिलस को प्रसन्न तथा-शरीर को स्फूर्तिमय रख सकेगा तथा ज्ञानाभ्यास में प्रगति कर सकेगा। खाद्य-वस्तुओं को ओर से उसकी रुचि हट जाएगी तथा ज्ञानार्जन की ओर अभिरुचि बढ़ेगी।

सुख प्राप्ति का रहस्य

हकीम लुकमान से किसी ने पूछा—“हकीमजी ! हमें आप ऐसे गुर बताइये कि जिनकी सहायता से हम सदा सुखी रह सकें। क्या आपकी हकीमी में ऐसे नुस्के नहीं हैं ?”

लुकमान ने चट से उत्तर दिया—“हैं क्यों नहीं ? अभी बता देता हूँ। देखो ! अगर तुम्हें सदा सुखी रहना है तो केवल तीन बातों का पालन करो—पहली—‘कम खाओ’। दूसरी—‘गम खाओ’ और तीसरी है—‘नम जाओ’।”

हकीम लुकमान की तीनों बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। पहली बात उन्होंने कही—कम खाओ। ऐसा क्यों ? इसलिये कि मनुष्य अगर कम खाएगा तो वह अनेक बीमारियों से बचा रहेगा। अधिक खाने से अजीर्ण होता है और अजीर्ण से कई बीमारियाँ शरीर में उत्पन्न हो जाती हैं। इसके विपरीत अगर खुराक से कम खाया जाय तो कई बीमारियाँ बिना इलाज किये भी मिट जाती हैं।

आज के युग में तो कदम-कदम पर अस्पताल हैं, हजारों डॉक्टर हैं और नाना प्रकार की दवाइयाँ मोलियाँ और इन्जेक्शन हैं जिन्हें लेते-लेते मनुष्य शारीरिक दृष्टि से तो परेशान होता ही है, धन की दृष्टि से भी कभी-कभी तो दिवालिया हो जाता है। किन्तु प्राचीनकाल में जबकि डॉक्टर नहीं के बराबर ही होते थे, बँध हो लोगों की बीमारियों का इलाज करते थे और उनका सर्वोत्तम नुस्खा होता था, बीमार को लंघन करवाना। लंघन करवाने का अर्थ

है—आवश्यकतानुसार मरीज को कई-कई दिन तक खाने को नहीं देना। परिणाम भी इसका कम चमत्कारिक नहीं होता था। लंघन के फलस्वरूप असाध्य बीमारियाँ भी नष्ट हो जाया करती थीं तथा जिस प्रकार अग्नि में तपाने पर मैल जल जाने से सोना शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार उपवास की अग्नि में रोग भस्म हो जाता था तथा शरीर कुन्दन के समान दमकने लग जाता था। लंघन के पश्चात् व्यक्ति अपने आपको पूर्ण स्वस्थ और रोग रहित पाता था।

लुकमान की दूसरी बात थी—‘गम खाओ’। आज अगर आपको कोई दो शब्द ऊँचे-नीचे बोल दे तो आप उछल पड़ते हैं। चाहे आप उस समय स्थानक में संतों के समक्ष ही क्यों न खड़े हों। बिन संत या गुरु का लिहाज किये ही उस समय ईंट का जवाब पत्थर से देने को तैयार हो जाते हैं। किन्तु परिणाम क्या होता है? यही कि तू-तू मैं-मैं से लेकर गाली गलौज की नौबत आ जाती है।

पर अगर कहने वाले व्यक्ति की बातों को सुनकर भी आप उनका कोई उत्तर न दें तो? तो बात बढ़ेगी नहीं, और लड़ाई-झगड़े की नौबत ही नहीं आएगी। उल्टे कहने वाले की कटु बातें या गालियाँ उसके पास ही रह जाएँगी। जैसा कि सीधी-साधी भाषा में कहा गया है :—

दीघा गाली एक है, पलट्याँ होय अनेक।

ओ गाली देवे नहीं, तो रहे एक की एक ॥

सर्वोत्तम उत्तर मौन

एक महात्मा सदा अपने ज्ञान-ध्यान एवं तप-संमय आदि की साधना में लगे रहते थे। उन्हें इस बात की तनिक भी परवाह नहीं थी कि दुनिया उनके विषय में क्या कहती है? लोग स्तुति करें या निन्दा, अच्छा कहें या बुरा, इसका तनिक भी खयाल उनके मन में नहीं था।

एक बार विचरण करते हुए वे किसी गाँव में जा पहुँचे। वहाँ के लोग महात्मा जो के साधना एवं धार्मिक क्रियाएँ देखकर बहुत आकर्षित हुए तथा प्रतिदिन उनके उपदेशों को सुनने के लिए आने लगे।

उसी गाँव में दो श्रेष्ठि भी रहते थे और दोनों मित्र थे। एक दिन एक ने दूसरे से कहा—“मित्र ! सुना है कि हमारे गाँव में एक बड़े ही पहुँचे हुए महात्मा पधारे हैं, क्यों न आज चलकर उनका सत्संग किया जाय ?”

दूसरा श्रीमंत बोना—“मुझे किसी साधू सत पर आस्था नहीं है। ये सब कमा नहीं सकते अतः पेट भरने के लिए ही साधू का बाना पहन लेते हैं। व्यर्थ उनके पास जाकर समय नष्ट करने से क्या लाभ है ?”

संतों की निन्दा सुनकर प्रथम व्यक्ति बड़ा क्षुब्ध हुआ किन्तु किसी प्रकार अपने मित्र को राह पर लाने के विचार से उसकी कही हुई बातों पर ध्यान

न देता हुआ जबर्दस्ती उसे अपने साथ ले चला। दूसरा मित्र भी अपने मित्र की बात न टालने के कारण ही साथ ही लिया।

प्रवचन प्रारम्भ हो गया था अतः दोनों चुपचाप जाकर श्रोताओं के साथ बैठ गए। पहला मित्र तल्लीनता पूर्वक उपदेश सुनने लगा किन्तु दूसरा महात्मा को किसी प्रकार नीचा दिखाने की उधेड़-बुन में लगा रहा। कुछ देर पश्चात् प्रवचन समाप्त हुआ और लोग उठकर अपने-अपने घर चल दिये। मौका मिल गया और साधू-निन्दक श्रेष्ठि ने महात्मा की सहनशीलता की परीक्षा लेने के लिए उनसे कहा—

“क्यों महाराज ! दुनियादारी के कत्तव्य निभाते नहीं बने क्या इसीलिए आपने साधुपन अपना लिया है ?”

संत ने सेठ की बात सुनी पर कोई उत्तर नहीं दिया, केवल मुस्कराते रहे। इस पर सेठ को बड़ा बुरा लगा और उसने दूसरा तीर छोड़ा—“हम संसारी लोगों को कितनी मेहनत करनी पड़ती है ? कितना पसीना बहाना पड़ता है ? तब कहीं उदरपूर्ति होती है। किन्तु साधू तो बस हराम का खाते हैं।”

महात्मा जी की मुद्रा पूर्ववत् ही रही। उन्होंने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। सेठ इसे अपना अपमान समझकर आग-बबूला हो उठा और क्रोधित होकर बोल पड़ा—“हराम का माल खाने से तो मर जाना अच्छा।”

पर संत के लिये तो ये कटु बातें चिकने घड़े पर पड़े हुए पानी के समान साबित हुईं। न उन्हें क्रोध आया और न ही कोई कड़वा उत्तर उनके मुँह से निकला। वे सोचने लगे—“इस भोले व्यक्ति ने अपनी समझ से ठीक ही कहा है। इसकी दृष्टि इस संसार के बाहर नहीं जाती तो इसका क्या दोष है ? अगर यह जान लेता कि इस संसार से परे भी कुछ है और उसके लिए भी कमाई करनी पड़ती है तो यह समझ जाता कि हम सांसारिक कमाई नहीं करते तो क्या हुआ ? आध्यात्मिक कमाई तो करते हैं और लोगों का जो खाते हैं उसे उपदेश के रूप में ब्याज सहित लौटा भी देते हैं अतः वह हराम का खाना तो नहीं हुआ। और जब हराम का खाते नहीं तो फिर शर्मिन्दगी किस बात की ? वैसे मरना एक दिन वास्तव में है ही। इस बात को कहने में हर्ज ही क्या है ?”

इस प्रकार महात्मा जी तो अपने विचारों में खोये हुए थे और उधर सेठ संत को इतनी कटु बातों को सुनने के बाद भी मौन देखकर सोच रहा था—“आश्चर्य है कि ऐसी कड़वी बातें सुनकर भी संत के चेहरे पर एक भी शिकन नहीं आई। वास्तव में ही साधु असीम समता के धारी होते हैं। धिक्कार है मुझे, जो मैं साधुओं के प्रति इतने हीन भाव रखता हूँ और अभी मैंने इन महात्मा को ऐसी कटु बातें कहीं हैं।” यह विचार करते-करते ही सेठ को

महान् पश्चाताप हुआ और वह महात्माजी के चरणों पर लोटता हुआ बोला—
“भगवन ! मैं बड़ा पापी हूँ । महान् भूल की है मैंने, क्षमा कीजिये ।”

सेठ के पश्चाताप पूर्ण उद्गार सुनकर अब संत मंद-मंद मुस्कराते हुए बोले—“मित्र ! तुम्हारा कोई दोष नहीं है । तुमने जो कुछ भी कहा है वह किसी दृष्टि से तो ठीक ही है ।”

“मुझे अमिन्दा मत कीजिये महाराज ! मैंने आपको अत्यन्त कटु और असह्य शब्द कहे हैं किन्तु फिर भी आप मुझे मित्र कह रहे हैं ।”

देखो भाई ! महात्मा जी बोले—दो मित्र थे । उनमें से एक परदेस गया और वहाँ उसने अनेक नई-नई वस्तुएँ देखीं । उनमें से एक बहुत बढ़िया चीज वह अपने मित्र के लिये खरीदकर लाया और अपने गाँव में जाने के बाद उसने वह वस्तु मित्र के सामने रख दी । किन्तु पहला मित्र अपरिग्रह व्रत का धारी था अतः उसने उस कीमती वस्तु को ग्रहण करने से प्रेम सहित इन्कार कर दिया ।”

“अब तुम्हीं बताओ कि जब मित्र ने उस वस्तु को लेने के लिये इन्कार कर दिया तो वह किसके पास रही ? जो लावा था उसके पास रही न ? बस इसी प्रकार तुम मेरे लिये कुछ लाए । किन्तु मुझे उसकी जरूरत नहीं थी । अतः मैंने उसे ग्रहण नहीं किया । तुम्हारी वस्तु तुम्हारे पास ही रही । मेरा उससे क्या बिगड़ा—बताओ ?”

महात्मा की बात सुनकर सेठ और भी पानी-पानी हो गया तथा उनका सच्चा प्रव्रंसक बनकर अपने घर को लौटा । यह परिणाम था गम खाने का ।

हकीम जुकमान की तीसरी हिदायत थी—नम जाओ । नमना अर्थात् नम्रता रखना भी जीवन को सुखी बनाने का सर्वोत्तम मुस्था है । जो व्यक्ति नम्र होता है वह अपनी किसी भी कामना को पूरी करने में असफल नहीं होता । नम्रता में अद्वितीय शक्ति होती है । एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा भी है:—

“It was pride that changed angles in to devils; It is humility that makes men as angels.”
—आपस्टाइन

अभिमानवश देवता मानव बन जाते हैं और नम्रता से मानव देवता ।

वस्तुतः अभिमान मनुष्य को नीचे गिराता है किन्तु नम्रता उसे ऊँचाई की ओर ले जाती है । महात्मा आपस्टाइन से एक ही बार किसी ने यह पूछ लिया—“धर्म का सर्वप्रथम लक्षण क्या है ?” उन्होंने उत्तर दिया—

“धर्म का पहला, दूसरा, तीसरा और किबहुना सभी लक्षण केवल विनय में ही निहित हैं ।”

संस्कृत के एक आचार्य ने भी नम्रता का महत्त्व बताते हुये एक श्लोक में कहा है :--

विनश्यन्ति समस्तानि व्रतानि विनयं बिना ।

सरोरुहाणि तिष्ठन्ति सलिलेन बिना कुतः ॥

अर्थात्— जिस मनुष्य के जीवन में विनय का अभाव है, उसके सभी व्रत विनष्ट हो जाते हैं । जैसे पानी के अभाव में कमल नहीं उठर सकता, उसी प्रकार विनय के बिना कोई व्रत और नियम जीवन में टिक नहीं पाता ।

अधिक बया कहा जाय नम्रता समस्त सद्गुणों का शिरोमणि है । नम्रता से ही सब प्रकार का ज्ञान और सर्व कलाएँ सीखी जा सकती हैं क्योंकि नम्र छात्र अपने क्रोधी से क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेता है जबकि अविनयी शिष्य शांत स्वभावी गुरु को भी क्रोधी बना देता है । स्पष्ट है कि ज्ञान हासिल करने वाले शिष्य को अत्यन्त नम्र स्वभाव का होना चाहिये ।

आज के युग में हम देखते हैं कि स्कूलों और कॉलेजों के विद्यार्थी इतने उद्वंड और उच्छृङ्खल होते हैं कि उनके शिक्षक उन्हें भूलें करने पर और बराबर विषय न तैयार करने पर भी कोई सजा नहीं दे सकते अन्यथा उन्हें स्वयं ही सजा भोगने को बाध्य होना पड़ता है । पर ऐसी अविनीतता के कारण क्या छात्र कभी ज्ञानी बन सकते हैं ? नहीं, जिसे हम सच्चा ज्ञान और उत्तम संस्कार कहते हैं, वह सब अविनीत छात्रों से कोसों दूर चले जाते हैं । परिणाम यही होता है कि ज्ञान के अभाव में उनका जीवन दोषों और विपत्तियों से परिपूर्ण बना रहता है तथा जन्म-मरण की शृंखला बढ़ती जाती है ।

तो बंधुओ ! मैं बता यह रहा था कि प्रत्येक आत्म-हितैषी व्यक्ति को सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और इसके लिये उसे ज्ञान-प्राप्ति के समस्त उपायों को भली-भाँति समझकर उन्हें कार्यरूप में परिणत करना चाहिये । जैसा कि मैंने अभी बताया है, ऊनोदरी भी ज्ञान-प्राप्ति का एक उपाय है ।

भूख से कम खाने से प्रथम तो खाद्य पदार्थों पर से आसक्ति कम होती है, दूसरे, निद्रा और प्रमाद में भी कमी हो जाती है और तभी व्यक्ति स्वस्थ मन एवं स्वस्थ शरीर से ज्ञानभ्यास कर सकता है । कम खाना अर्थात् ऊनोदरी करना, जिस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से तप है, उसी प्रकार ज्ञानार्जन में सहायक भी है । हमें दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण मानकर उसे अपनाना चाहिये ।





धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारा विषय ज्ञान प्राप्ति के ग्यारह कारणों को लेकर चल रहा है। पहले हमने इनमें से तीसरे कारण 'ऊनोदरी' पर स्पष्टीकरण किया था। आज अल्प बोलने से किस प्रकार ज्ञान अधिक हासिल किया जा सकता है, इस पर विचार करेंगे।

अल्प यानी थोड़ा। थोड़ा बोलने को संस्कृत में मित-भाषण कहते हैं। मित-भाषण करने का अर्थ है—मर्यादित बोलना। उचित और आवश्यक बोलना अत्यन्त लाभकारी है। वह किस प्रकार? यही मैं बताने जा रहा हूँ।

जिह्वा किस लिये ?

संसार में प्रश्नकर्ताओं की कमी नहीं है। कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि भगवान ने जीभ बोलने के लिये ही दी है, फिर उसका उपयोग क्यों न करें?

बात सही है, मैं भी इसे मानता हूँ। इस चिराट विश्व में अनन्तानन्त प्राणी हैं जो एकेन्द्रिय हैं उन्हें केवल स्पर्शेन्द्रिय मिली है, अन्य इन्द्रियाँ नहीं और जिनके दो इन्द्रियाँ हैं उन्हें जिह्वा इन्द्रिय मिली तो है पर स्पष्ट और सार्थक बोलने की शक्ति नहीं मिली। इसी प्रकार तीन एवं चार इन्द्रियों वाले प्राणी भी स्पष्ट बोलने में असमर्थ रहते हैं। यहाँ तक की समस्त पंचेन्द्रिय प्राणी भी तो स्पष्ट बोल नहीं पाते। हम देखते हैं विशालकाय हाथी, घोड़े, शेर आदि जो पंचेन्द्रिय हैं वे भी मनुष्य की भाँति सार्थक वचनों का उच्चारण नहीं कर सकते। विचारों का आदान-प्रदान कर सकने की क्षमता केवल मनुष्य में ही है। इससे साबित होता है कि असंख्य और अनन्त जन्मों में भ्रमण करने के पश्चात् जीवन को केवल मानव योनि में ही प्रदल पुण्योदय से स्पष्ट, सार्थक और श्वेत वाणी बोलने की क्षमता प्राप्त होती है। इसे प्राप्त करने के लिये मनुष्य को बड़ा भारी मूल्य पुण्य के रूप में देना पड़ता है।

किन्तु इस भारी कीमत देकर पाई हुई बहुमूल्य वस्तु को क्या हमें व्यर्थ ही जाने देना चाहिये? क्या उस चुकाई हुई कीमत से पुनः कुछ बसूल नहीं करना चाहिये। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस बात को स्वीकार नहीं करेगा।

विवेकवान व्यक्ति निश्चय ही अपनी अमूल्य जिह्वाशक्ति से पुण्य के रूप में नवीन संचय करेगा और वह तभी होगा जबकि वह बहुत सोच-विचार कर वाणी का उपयोग करेगा तथा अनावश्यक और निरर्थक बोलने के बजाय मौन रहेगा ।

पूज्यपाद मुनि श्री अमीश्रुषि जी महाराज ने सच्चे गुरु के लक्षण बताते हुये कहा है :—

मौन करी रहे नहीं आश्रव के वेण कहे,
 संवर के काज मृदु वचन उच्चारै हैं ।
 बोलते हैं प्रथम विचारी निज हिये माहि,
 जीव दया युत उपदेश विसतारे हैं ।
 आगम के वेण एन, माने सुखदेन येन,
 माने मिथ्या केन चित्त ऐसी विघ धारे हैं ।
 कहे अमीरिख मुनि ऐसे मौनधारी होय,
 तारण तरण सोही सुगुरु हमारे हैं ।

कितनी सुन्दर बात है ? कहा है—अनर्गल और कटुवचन बोलकर कर्मों का बन्धन करने के बजाय जो मौन रहते हैं, केवल निर्जरा की दृष्टि से मधुर वचनों का उच्चारण करते हैं, पहले विवेकापूर्वक विचार करने के पश्चात् ही बोलते हैं, जीव दया का पालन किया जाय इस हेतु उपदेश देते हैं तथा आगम के वचनों को ही सत्य एवं सुखदायी मानते हैं । स्वयं कभी मिथ्या भाषण नहीं करते तथा मिथ्या भाषण करने की अपेक्षा मौन रहना अधिक पसंद करते हैं ऐसे अपने आपको तथा औरों को भी भव-सागर से पार उतारने की क्षमता रखने वाले ही हमारे सच्चे गुरु कहला सकते हैं ।

सिक्खों के धर्मग्रन्थ में भी कहा है :—

जित बोलिये पति पाईए सो बोलिया परवाण ।

किक्का बोल विगुच्छणा मुन भूखं मन अजान ॥

—(श्रीराग म० १)

अर्थात्—ऐसी वाणी ही बोलने योग्य है, जिससे मनुष्य सम्मान पाये । हे भूखं और अज्ञानी मन ! कटुवचन बोलकर अपमानित मत हो ।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपने वचनों का उपयोग बड़ी सावधानी से करता है । वह पूरा ध्यान रखता है कि उसके वचनों से किसी भी व्यक्ति को चोट न पहुँचे और न ही उसके कथन का तिरस्कार ही हो । वाणी के महत्त्व को जान लेने के कारण वह व्यर्थ बकवाद से बचता है, निरर्थक तर्क-वितर्क और वितंडा-वाद से परे रहता है तथा अनुचित हठ, छल या किसी को धोखे में डालने वाले शब्द नहीं कहता । दूसरों को सन्ताप देने से उसे स्वयं कष्ट होता है इसलिये

उसकी वाणी में अहंकार या कर्कशता नहीं होती। अपितु उसकी वाणी के समान ही उसका हृदय भी कोमल और करुणा की भावना से परिपूरित होता है। सुन्दर हृदय बाले की वाणी भी उसी के अनुरूप होती है। दूसरे शब्दों में, वाणी एक दर्पण के समान होती है जिस पर मनुष्य के अन्तस्तल का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

वाणी का विवेचन करते हुए एक विद्वान् ने बड़े सुन्दर भाव प्रकट किये हैं:—

The first, ingredient in conversation is truth; The next, good sense; the third, good humour, and the fourth, wit.

—सर डब्लू टेम्पल

बातचीत का पहला अंश है, सत्य, द्वितीय, सुन्दर, समझ-बूझ, तृतीय, सुन्दर, विमोद और चतुर्थ, वाक्चालुयुग् ।

वस्तुतः वाणी की महिमा अवर्णनीय है। केवल उसे उसका सदुपयोग करने वाला व्यक्ति ही उसे समझ पाता है। हमारे शास्त्रकारों ने भाषा के सम्बन्ध प्रयोग पर बहुत जोर दिया है। उनका कथन है कि कटु, कठोर या असत्य भाषा का प्रयोग करने की अपेक्षा मौन रहना ही उत्तम है। भाषा पर नियन्त्रण न होने पर कभी-कभी बड़ा भयंकर परिणाम सामने आता है। अर्थात्—वाद-विवाद, तू-तू मैं-मैं, घोर संघर्ष और महाभारत ठन जाने की भी मौबत आ जाती है। किन्तु अगर व्यक्ति मौन का अवलंबन ले लेता है तो बड़े-बड़े संघर्ष भी क्षण भर में समाप्त हो जाते हैं।

मौन का महत्त्व

मौन का प्रथम तो शरीर से ही बड़ा भारी संबंध होता है। जो व्यक्ति कम बोलते हैं उनके मस्तिष्क की शक्ति कम व्यय होती है और वह शक्ति ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनती है। अधिक बोलने वाले का दिमाग अधिक तथा निरर्थक बातें करने से थक जाता है और थके हुए दिमाग से ज्ञानार्जन जैसा होना चाहिये वैसा संभव नहीं होता। दूसरे, अधिक बोलने पर अथवा अधिक वाद-विवाद करने पर व्यक्ति चिढ़ने लगता है तथा आवेश में आकर क्रोधित भी हो जाता है। परिणाम यह होता है कि उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है और मलिन बुद्धि ज्ञान को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो पाती। ऐसा क्यों होता है, यह गीता के एक श्लोक से जाना जा सकता है। उसमें बताया है:—

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहास्मृतिविभ्रमः ।

स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशाद्प्रणश्यति ॥

क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रान्त हो जाती है, स्मृति भ्रान्त होने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि नष्ट होने पर प्राणी स्वयं नष्ट हो जाता है।

प्राणी के स्वयं नष्ट होने से यहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि उसका शरीर नष्ट हो जाता है अथवा वह मर जाता है। अपितु क्रोध से उत्पन्न मूढ़ता के कारण क्रमशः शक्ति एवं बुद्धि का नाश हो जाने के कारण उसमें हिताहित का ज्ञान नहीं रहता, विवेक समाप्त हो जाता है और इस सबका परिणाम यही होता है कि व्यक्ति अज्ञान के अन्धकार में भटककर आत्म-मुक्ति के मार्ग को नहीं खोज पाता। एक उदाहरण से भी स्पष्ट होता है कि क्रोध किस प्रकार साधक के मार्ग में बाधक बनता है।

आत्म-शुद्धि

एक वैष्णव सन्त के पास एक साधक आया और बोला—“गुरुदेव ! मुझे आत्म-साक्षात्कार का कोई उपाय बताइये।”

सन्त ने कहा—“वत्स ! तुम एक वर्ष तक अमुक मन्त्र का जाप एकान्त में पूर्ण मौन रहकर करना तथा जप करते हुये जब वर्ष पूरा हो जाय उस दिन स्नान करके भेरे पास आना। तभी मैं तुम्हें आत्म-साक्षात्कार का उपाय बता सकूँगा।”

साधक सन्त की आज्ञानुसार किसी एकान्त स्थान में चला गया और एक वर्ष तक मौन रहकर उनके बताये हुये मन्त्र का जप करता रहा। समय पूरा होने पर वह सन्त के आश्रम की ओर चल दिया।

इधर जब सन्त को साधक के आने का समाचार मिला तो उसने आश्रम में बुझारी लगाने वाली हरिजन स्त्री से कह दिया कि जब साधक गंगा स्नान करके यहाँ आये तो उसके शरीर पर अपनी झाड़ू से थोड़ा-सा कचरा डाल देना।

भंगिन ने वैसा ही किया अर्थात् जब साधक आश्रम के मुख्य द्वार से प्रविष्ट होने लगा, उसने झाड़ू से कुछ कचरा साधक के शरीर पर गिरा दिया।

यह देखते ही साधक आग-बबूला हो गया और भारे क्रोध के उस स्त्री को मारने के लिये दौड़ा। स्त्री किसी तरह जान बचाकर भाग गई और साधक भी उसे न पा सकने के कारण पुनः नदी पर स्नान करके आश्रम में आया।

सन्त के समक्ष आकर उसने कहा—“गुरुदेव ! मैं एक वर्ष तक आपके बताये हुये मन्त्र का जाप करता रहा हूँ। अब आप मुझे आत्म-साक्षात्कार का उपाय बताइये।”

सन्त बोले—“भाई ! अभी तो तुम सर्प के समान क्रोधित होते हो। फिर से एकान्त में जाकर मौन-भाव से उसी मन्त्र का जप करो और तब आत्म-साक्षात्कार का उपाय जानने के लिये आना।”

साधक को यह सुनकर बड़ा बुरा लगा किन्तु उसे सन्त की बात पर विश्वास था और उसे आत्म-साक्षात्कार करने की लगन थी अतः चुपचाप चल दिया और पुनः जप करने लगा।

जब इसी प्रकार दूसरा वर्ष पूरा हुआ तो वह बड़ी उत्सुकता से गंगास्नान करके सन्त के आश्रम की ओर चला । किन्तु सन्त को तो उसकी पूरी परीक्षा लेनी थी अतः उन्होंने उस हरिजन स्त्री को फिर से कचरा-कूड़ा साधक पर डालने के लिये कह दिया ।

स्त्री ने भी वैसा ही किया तथा अपनी झाड़ू साधक के पैरों से तनिक छुआ दी । साधक यह देखकर पिछली बार की तरह मारने तो नहीं दौड़ा किन्तु झट्ला गया और कुछ कटु शब्द भंगिन को कह दिये ।

उसके पश्चात् पुनः महाकर लौटने पर उसने सन्त से अपनी प्रार्थना दोहरायी । सन्त बोले—“बेटा ! अभी तुममें आत्म-साक्षात्कार करने की योग्यता पूरी नहीं आई है । एक बार और जाकर उसी मन्त्र का जप एक वर्ष तक करो । मुझे आशा है कि इस बार तुम अवश्य सफल हो जाओगे ।”

साधक को गुरु की बात सुनकर आश्चर्य हुआ और कुछ निराशा भी । किन्तु उमने कोई उत्तर नहीं दिया तथा मन में कुछ विचारता हुआ शांति से अपने स्थान पर लौट आया तथा मन्त्र का जप करने में तल्लीन हो गया । पूर्ण मौन रहकर जप करते हुये उसने तीसरा वर्ष भी समाप्त किया और स्नान करके संत के आश्रम की ओर आया ।

इस बार भी भंगिन वही थी और उनका कार्य भी वैसा ही था । अब की बार तो उसने कचरे से भरी हुई अपनी टोकरी ही साधक पर उड़ेल दी । किन्तु साधक इस बार पूर्णतया बदल चुका था । उसने तनिक भी क्रोध किये बिना दोनों हाथ जोड़कर उस उद्धृत स्त्री से कहा—“माँ ! तुमने मुझ पर बड़ा उपकार किया है । तुम तीन वर्ष से मेरे अन्तःकरण में छिपे हुये क्रोध रूपी शत्रु का नाश करने के महान् प्रयत्न में लगी रही हो । तुम्हारी इसी कृपा के कारण मैं उसे जीत सका हूँ ।”

इस बार जब साधक संत के समीप पहुँचकर उनके चरणों में नत हुआ तो उन्होंने उसे उठाकर हृदय से लगा लिया और बोले—“बेटा ! अब तुम आत्म-साक्षात्कार का उपाय जानने के योग्य हो गये हो । तीन वर्ष के मौन-जाप ने ही तुम्हारे क्रोध का नाश किया तथा तुम्हारी आत्मा को शुद्ध बनाया है । अब तुम मुझसे जो भी ज्ञान लोगे उसे सार्थक कर सकोगे ।”

इस उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है कि मौन में कितनी शक्ति है । मौन रहकर मन्त्र का जप करने से ही साधक के क्रोध का नाश हुआ, अन्तःकरण विशुद्ध बना और ज्ञान प्राप्ति की क्षमता पैदा हुई । इसलिए ज्ञान प्राप्ति के ग्यारह कारणों में से मौन भी एक कारण माना जाता है ।

राजस्थानी भाषा के एक दोहे में भी क्रोध के नाश का सहज उपाय कवि

कुल भूषण पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषि जी महाराज के द्वारा बताया गया है :—

जाण रो अजाण लीजे, तंत लीजे ताणी ।

आगलो अगन होवे तो आप होजे पाणी ॥

कितना सरल उपाय है ? कहा है— अगर हम किसी व्यक्ति के स्वभाव को जानते हैं कि वह शीघ्र आवेश में आ जाता है, क्रोध करता है तथा कटु वचनों का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकिचाता तो उसके वचनों से तर्क-वितर्क से अथवा अनावश्यक प्रलाप में से भी कोई उपयोगी शिक्षा, अर्थात् सार तत्त्व निकलता हो तो हमें मौन रहकर ग्रहण कर लेना चाहिये और उसकी अन्य सब बातों को जानते हुये भी अनजान-सा बनकर उपेक्षित कर देनी चाहिए ।

इसके अलावा अगर उत्तर देना आवश्यक हो तो कहने वाले की कटु बातों का भी मृदुतापूर्वक उत्तर देकर उसके क्रोध को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिये । दोहे में इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा है कि अगर सामने वाला व्यक्ति क्रोध की अग्नि से जल रहा हो तो हमें मधुर वचन रूपी शीतल जल से उसकी क्रोधाग्नि को शांत करना चाहिये । अगर हम कहने वाले के कटु शब्दों का उसी प्रकार उत्तर नहीं देंगे तो आखिर उसका क्रोध कब तक ठहरेगा ? निश्चय ही उसका क्रोध अल्प समय में ही उसके लिये पश्चाताप का कारण बन जाएगा और वह आपको अपना हितैषी मानकर स्वयं आपका हितैषी और मित्र बन जायेगा ।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने भी विवेकपूर्वक बोली जाने वाली वाणी का महत्त्व बताया है :—

बोली से आदर और जग में सुयश होय,

बोली से सकल जन मित्र हो रहत हैं ।

बोली से अनेक विध भोजन मधुर मिले,

बोली से खावत मार गाली भी सहत है ।

बोली से है खांड और बोली से पंजार त्यार,

बोली से तो जाय मूढ़ कंद की सहत है ।

अमीरिख कहे भवि बोली है रतनसार,

सुगुणी बिबेकी बोल तोल के कहत है ।

पद्य में बताया गया है कि किस प्रकार उसके उपयोग से परस्पर पूर्णतया विरोधी फल निकलते हैं । एक ओर जहाँ मधुर वचनों से व्यक्ति को संसार में आदर और सुयश प्राप्त होता है, प्रत्येक व्यक्ति उसका मित्र बन जाता है तथा किसी के यहाँ पहुँचने पर उसे हादिक स्वागत-सत्कार और भोजन-पान प्राप्त होता है, दूसरी ओर उसी वाणी का कटुतापूर्वक प्रयोग करने से व्यक्ति को

अनादर एवं अपयश की प्राप्ति होती है, अनेक बार गालियाँ और भार भी खानी पड़ती है। इतना ही नहीं, अपने कठोर वचनों के कारण उस मूढ़ को कारागृह की हवा भी खानी पड़ जाती है।

इसलिये विवेकी पुरुष अपने वचनों को रत्नवत् मानकर बड़ी समझ-बूझ सहित उन्हें उपयोग में लाते हैं अथवा मौन रहते हैं। एक नीतिवान सर्राफ के समान वे अपने वचनों का मोल करते हैं। वे न तो दूसरों का ही नुकसान करना चाहते हैं और न अपना। वे बराबर तौल करते हैं, बराबर देते हैं और बराबर ही लेते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने शब्दों को भी तौलकर मुख से निकालते हैं ताकि उनसे दूसरों को हानि न पहुँचे और उनके भी कर्मों का बन्धन न हो।

सफलता के सूत्र

पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषि जी महाराज के विषय में आप जानते ही होंगे। जोकि एक उच्च कोटि के संत एवं महान् कवि भी थे। इन्होंने केवल दस वर्ष की अल्पावस्था में दीक्षा ग्रहण की तथा उसके पश्चात् छब्बीस वर्ष तक संयम का पालन किया। किन्तु कुल छत्तीस वर्ष की उम्र में ही उन्होंने अनेक महान् कार्य सम्पन्न किये। उत्तमोत्तम काव्य रचना की, अनेक कलापूर्ण वस्तुओं का निर्माण किया, सत्रह शास्त्र कण्ठस्थ किये और अत्यधिक धर्म-प्रचार किया। अपने जीवन के अन्तिम चार वर्षों में तो उन्होंने इतने अधिक गाँवों में विचरण करते हुये धर्म-प्रचार किया, जितना वर्षों तक विचरण करते हुये भी कोई नहीं कर पाता। वे जहाँ-जहाँ भी जाते, उपदेश तो देते ही थे, उस स्थान और वातावरण को लेकर कविताओं की रचना भी करते थे।

इतना सब वे कैसे कर पाए ? तभी, जबकि व्यर्थ के वार्तालाप तथा वाद-विवाद आदि से बचते रहे। अगर अपनी दिमागी शक्ति को उन्होंने अनावश्यक बातों में व्यय कर दिया होता तो यह सब कदापि संभव नहीं था। वे कहते थे :—

करोड़ बात की वार्ता, सकल ग्रन्थ को सार।

दया, दान दम आत्मा, तिलोक कहे उर धार ॥

अर्थात्—करोड़ बातों की बात और समस्त ग्रन्थों का एकमात्र सार इतना हो है कि दया का पालन करो, दान दो तथा आत्मा पर यानी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखो। अगर व्यक्ति इतना ही समझ ले और उसे अमल में लाए तो आत्म-कल्याण करने में समर्थ हो सकता है।

आत्म-मुक्ति रूपी सिद्धि की सफलता का पहला सूत्र है दया का पालन करना। हमारा जैन धर्म तो दया अथवा अहिंसा की भित्ति पर टिका हुआ ही

है, संसार के अन्य सभी धर्म भी अहिंसा पर बहुत जोर देते हैं। ध्यान में रखने की बात है कि प्रत्येक धर्म आत्मशांति और विश्वशांति के पवित्रतम उद्देश्य को लेकर ही स्थापित किया गया है और उच्चतम उद्देश्य अहिंसा या दया के अभाव में पूरा नहीं हो सकता। मनुष्य के मन में दया की जो स्वर्गीय भावना पायी जाती है, वह अहिंसा की ही अमूल्य देन है। अगर संसार के प्राणियों के हृदय में से यह भावना विलीन हो जाये तो संसार की स्थिति कैसी हो जाय, इसकी कल्पना करना भी भयावह लगता है। संभवतः नरक जिसे कहा जाता है वही इस पृथ्वी पर प्रत्यक्ष दिखाई देने लग जाय। इसी-लिए हमारे शास्त्र और संत महापुरुष बार-बार दया का पालन करने पर जोर देते हैं।

एक फारसी कवि ने भी यही कहा है :—

मबाश बरपे आजार हरचि खाही कुन ।

कि बर तरीकते था गर अजी गुनाहे, नेस्त ॥

अर्थात्—हे मनुष्य ! तू और जो चाहे कर, किन्तु किसी को दुःख न दे। क्योंकि हमारे धर्म में इसके अलावा दूसरा कोई पाप नहीं है।

सफलता का दूसरा सूत्र है—दान देना। जिस व्यक्ति के हृदय में दया की भावना होगी, उसकी प्रवृत्ति दान देने की ओर अवश्य बढ़ेगी। क्योंकि दया अभावग्रस्त प्राणी पर आती है और उसके अभाव को पूरा करने की इच्छा होने पर दान दिया जाता है 'दीयते इति दानं।' जो दिया जाय वह दान है।

दान का बड़ा भारी महत्त्व होता है, इसे धर्ममय जीवन का मुख्य अंग अथवा धर्म का प्रमुख द्वार कहा जाता है। कहा भी है :—

नास्ति दानात् परं मित्रमिह लोके परत्र च ।

इस लोक और परलोक में सर्वत्र ही दान के समान दूसरा मित्र नहीं है।

ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिये कि इस लोक में दान देने से जीव को परलोक में भी अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। धन-वैभव तथा अन्य समस्त भौतिक पदार्थ तो प्राणी को काल का ग्रास होते ही छोड़ देने पड़ते हैं, किन्तु दान देकर जो पुण्य कमाया जाता है वह उसके साथ परलोक में भी जाता है। उसका किसी प्रकार भी नष्ट होना संभव नहीं होता।

एक कवि का कथन भी यही है :—

करले जो करना है अभी कल का बरोसा कुछ नहीं,
सच्चा खजाना पुण्य का, काम तेरे आएगा।
पिछली कमाई खा चला, आगे को भी करले जमा,
न यौवन का मानकर संग नहीं कुछ जायेगा।

पथ में मानव को चेतावनी दी गई है—अपने धन अथवा यौवन का तनिक भी गर्व मत कर । देह छूटते ही यह सब तेरी अत्मा से विलग होने वाला है । इसके अलावा, जीवन के एक क्षण का भी भरोसा नहीं है कि पानी के बुलबुले के समान यह कब मिटने वाला है । अतः पूर्वकृत पुण्यों के उदय से जो मानव-पर्याय रूपी भुअवसर तुझे मिल गया है इस पूँजी से अगले जन्म के लिए भी पुण्य का संचय कर । केवल संचित किये हुए पुण्य का कोष ही तेरे साथ जाएगा और तुझे लाभ पहुँचाएगा ।

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य को मुक्तहस्त से दान करना चाहिए । हमारे भारत की पावन भूमि पर तो सदा से ही अत्यन्त विशाल हृदय वाले दानी महापुरुषों का जन्म होता रहा है । जिन्होंने अपने प्राण चाहे त्याग दिये किन्तु याचक को कभी द्वार से निराश नहीं लौटाया । राजा कर्ण के पास स्वयं इन्द्र ब्राह्मण के वेश में आए और उनके कवच और कुण्डल दान में माँगे । कर्ण जानते थे कि कवच और कुण्डल दे देने पर उनकी मृत्यु निश्चित है । वे यह भी जानते थे कि उन्हें मारने के लिये ही वे वस्तुएँ माँगी जा रही हैं और याचक स्वयं इन्द्र हैं जो वेश परिवर्तन कर आए हैं । लेकिन तब भी मन में मलाल लाए बिना उन्होंने उसी क्षण कवच और कुण्डल इन्द्र को बिना हिचकिचाहट के प्रदान कर दिये ।

यह है हमारी भारतीय सस्कृति, जिसमें दया, दान एवं परोपकार आदि अनेक सद्गुण समाये हुये हैं । सच्चे महापुरुष इन बातों से कभी मुँह नहीं मोड़ते चाहे इनके लिए उन्हें अपने प्राण ही क्यों न न्यौछावर करने पड़ें । वे भली-भाँति जानते हैं कि संसार के व्यक्ति तो मानव की किसी भी प्रकार की उन्नति को सहन नहीं कर सकते । प्रत्येक स्थिति में निंदा व अप्रशंसा करने के लिये उधार खाये बैठे रहते हैं । धर्म-क्रिया करने वाले को ढोंगी तथा साधु बन जाने वाले को भी पुरुषार्थहीन, निकम्मा और कायर कहने से नहीं चूकते । अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति से निष्कारण वर रखना मनुष्य का स्वभाव है और केवल मनुष्य ही नहीं वह अन्य निर्दोष प्राणियों को भी कष्ट पहुँचाने में आमा-पीछा नहीं सोचता । एक श्लोक में कहा गया है :—

मृग मीन सज्जनानां, तृण जल संतोष विहित वृत्तीनाम् ।

लुब्धक, धीवर, पिशुनाः निष्कारणवरिणो जगति ॥

कहते हैं—मृग या हरिण जो कि घास खाता है, जंगल में रहता है, कभी किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देता, कोई भी नुकसान नहीं पहुँचाता उसके पीछे भी मनुष्य धनुष-बाण लिये शिकारी बनकर घूमता रहता है ।

इसी प्रकार बेचारी मछली जो कि अपने आस-पास रहे हुये थोड़े या अधिक पानी में ही तैरती रहती है, अपने उसी संसार में मगन होकर घूमती

है। यह मनुष्य ही घीवर के रूप में काटि डालकर उसे फँसाने के लिये बैठ जाता है।

तीसरा नम्बर है—सज्जन पुरुषों का। सज्जन अथवा संत-जन भी किसी प्राणी को कष्ट, दुःख या हानि तो पहुँचाता ही नहीं है, उलटे उनकी भलाई और परोपकार में रत रहते हैं, सम्मार्ग से भटके हुआँ को मार्ग दर्शन कराते हैं तथा अपनी हानि सहकर भी औरों को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। जैसा कि कहा गया है :—

विप्रियमप्याकर्ष्यं श्रूते प्रियमेव सर्वदा सुजनः ।

सारं विवति पयोधेर्वर्षत्यम्भीधरो मधुरम् ॥

जिस प्रकार समुद्र का खारा जल पीकर भी बादल भीठा जल ही बरसाता है, उसी प्रकार सज्जन औरों की कटुवाणी सुनकर भी सदा मधुर शब्द ही बोलता है।

कहा जाता है कि एक बार हजरत अली नमाज पढ़ रहे थे। अचानक एक दुष्ट व्यक्ति यहाँ आया और उसने अपनी तलवार उन पर वार करने के लिए उठाई।

तलवार उनकी गर्दन पर पड़ती उससे पहले ही अन्य नमाज पढ़ने वाले व्यक्तियों ने उस घातक व्यक्ति को पकड़ लिया तथा उसे रस्सी से बाँधकर हजरत अली के सम्मुख उपस्थित किया।

उसी समय एक भक्त उनके लिये शरबत का गिलास लेकर आया और उसे पी लेने की प्रार्थना करने लगा। अली ने एक बार गिलास की ओर देखा तथा दूसरी बार बँधे हुये अपराधी की ओर। अपराधी की ओर वही करुण दृष्टि से देखते हुए वे बोले—‘भाई ! शरबत का यह गिलास इस दुःखी को दे दो, दीड़-धूप करने से बेचारा बहुत थक गया होगा।’

तो ऐसे संतों के पीछे भी दुष्ट व्यक्ति लगे ही रहते हैं। उनकी निंदा, अपमान और हत्या करने तक से पीछे नहीं हटते।

अब हमें समस्त ग्रन्थों के सार-तत्त्व की तीसरी बात आत्म-दमन की लेना है, जिसका उल्लेख श्री तिलोक ऋषि जी महाराज ने किया है।

जो साधक आध्यात्मिक साधना करना चाहता है उसे सतत् अभ्यास के द्वारा अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना चाहिए तथा मन की गति का बड़ी बारीकी से अध्ययन करते हुए उसे वश में रखने का प्रयत्न करना चाहिए। इन्द्रियों का स्वाधी मन है और अगर उसे वश में कर लिया जाय तो इन्द्रियों पर सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है। किन्तु मन को वश में करना ही बड़ा कठिन होता है, क्योंकि वह अत्यन्त धृष्ट होता है, और इसलिये उसका

निग्रह कर लेने पर भी वह पुनः-पुनः अपनी चपलता के कारण नियन्त्रण से बाहर होने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि उसे वश में करने वाला व्यक्ति अगर कमजोर हो तो स्वयं ही उसके वश में हो जाता है।

मणो साहसिप्रो भीमो दुष्टस्तो परिधावइ ।

—उत्तराध्ययन सूत्र

हमारे जैनागमों में मन को एक दुष्ट घोड़े की उपमा दी गई है। उसके विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा अपने सवार के नियन्त्रण से बाहर हो जाता है तथा लगाम खींची जाने पर भी और वेग से दौड़ता है, उसी प्रकार मन को ज्यों-ज्यों नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न किया जाता है त्यों-त्यों वह तेजी से विषयों को ओर उन्मुख होता है।

एक उर्दू के कवि ने कहा है :—

अस्प हो आजाद सरपट कंद होता है सवार ।
 अस्प हो मुतलिकइनां हैरान होता है सवार ॥
 इन्द्रियों के घोड़े छूटे बाग डोरी तोड़ कर ।
 वह मरा, वह गिर पड़ा असवार सिर मुंह फोड़कर ॥
 जाने मन आजाद करना चाहते हो अस्प को ।
 कर रहे आजाद क्यों हो आस्तीं के साँप को ॥

अस्प का अर्थ है—अश्व। कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि वश में न आया हुआ मन अपने स्वामी को एक दुष्ट घोड़े के समान महान् संकट में डाल देता है अतः इस मन रूपी आस्तीन के साँप को प्रारम्भ से ही नियन्त्रण में रखो, इसे तनिक भी छूट मत दो।

जो व्यक्ति ऐसा करेगा वही अपने मन एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण रख सकेगा और दूसरे शब्दों में, आत्म-दमन कर सकेगा। किन्तु ऐसा होगा कब ? जबकि वह सच्चा ज्ञान हासिल करेगा तथा उसके द्वारा अपनी आध्यात्मिक साधना को मजबूत बनाएगा। नियन्त्रण अभ्यास के द्वारा ही यह दुस्तर कार्य सम्पन्न किया जा सकेगा।

तो बंधुओ ! यह स्पष्ट है कि सच्ची साधना करने का प्रयत्न करने वाला व्यक्ति कभी भी अपने उद्देश्य में सफलता हासिल नहीं कर सकता। इसलिये आत्म-हितैषी व्यक्ति को सर्वप्रथम ज्ञानार्जन का प्रयास करना चाहिये, और ज्ञानार्जन के लिये मुख्य शर्त यही है कि ज्ञानार्थी अपनी सम्पूर्ण शक्ति इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगाए तथा निरर्थक बातचीत और बकवास में उसे व्यथ न करे।

जो व्यक्ति कम से कम बात करेगा वही ज्ञान प्राप्ति में अपना अधिक से अधिक समय और शक्ति लगाकर उसकी भली-भाँति आराधना कर सकेगा।

कबीर ने कहा है :—

वाद विवादे विष घना, बोले बहुत उपाध ।

मौन गहे सबकी सहं, सुमिरं नाम अगाध ॥

वस्तुतः अधिक बोलने से नाना प्रकार की परेशानियाँ स्रग्मने आती हैं और विवाद अधिक बढ़ जाने पर कटुता रूपी विष उत्पन्न हुये बिना नहीं रहता । इसलिये सबसे उत्तम यही है कि अधिक से अधिक मौन रहकर जानाभ्यास किया जाये ताकि उसे सच्चे अर्थों में प्राप्त किया जा सके। एक पश्चात्य विद्वान् ने मौन की महत्ता बताते हुये कहा है :—

Silence is more eloquent than words.

— कार्लाइल

मौन में शब्दों की अपेक्षा अधिक वाक्शक्ति रहती है ।

इसलिये प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक व्यक्ति को अधिक से अधिक मौन रहकर ज्ञानादि गुणों का संचय करना चाहिये । अधिक बोलने से दिमाग कम-जोर होता है, स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है और तीसरा नुकसान यह होता है जो निरर्थक बातचीत और वाद-विवाद में बहुत-सा समय व्यर्थ चला जाता है फलतः व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति के मुख्य उद्देश्य की सिद्धि में पूरा समय नहीं लगा पाता तथा इसके विपरीत अल्पभाषी मनुष्य अधिक से अधिक समय तक मौन रहने के कारण अपने अमूल्य समय की बचत कर लेता है तथा अपने आध्यात्मिक कार्यों को करने की क्षमता बढ़ाता है ।

अधिक से अधिक मौन रहने पर ही मन एकाग्रतापूर्वक समाधि में स्थिर रह सकता है और इसका पुनः पुनः अभ्यास हो जाने पर उसकी चपलता समाप्त होती है । इसे ही मन पर विजय प्राप्त करना कहा जाता है । मौन केवल वाणी का ही नहीं, अपितु मन का भी होता है और मन को विषयों की ओर उन्मुख होने से रोकना ही इसका मौन कहलाता है । ध्यान में रखने की बात है कि वचन का मौन तो इच्छा करते ही संभव हो सकता है किन्तु मन की दौड़ अहर्निश जारी रहने के कारण उसे शांत रखना बड़ा कठिन होता है और मस्तिष्क के बार-बार प्रेरणा देने पर भी वह इधर-उधर चला जाता है । इसलिये वाणी के मौन के साथ-साथ मन के मौन का भी प्रयत्न करना चाहिये । ऐसा करने पर ही आत्म-कल्याण का इच्छुक व्यक्ति अधिक से अधिक ज्ञान लाभ कर सकता है तथा अपनी साधना को उच्चतर बनाता हुआ अपने निर्विण्ट लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है ।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारा विषय ज्ञान-प्राप्ति के कारणों को लेकर चल रहा है। ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारण हैं, जिनमें से कल चौथे कारण 'मौन' का विवेचन किया गया था। आज हम पाँचवें कारण के विषय में विचार-विमर्श करेंगे।

ज्ञान-प्राप्ति में पाँचवाँ कारण है—पंडित पुरुषों की संगति। पंडित पुरुषों की संगति कहा जाये अथवा सत्संगति कहा जाय, एक ही बात है। हम देखते ही हैं कि छात्र ज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने शिक्षक के पास जाता है और साधक अपने गुरु के समीप रहकर ज्ञानाभ्यास करता है। दोनों का ध्येय एक ही है और वह है ज्ञान प्राप्त करना। अगर शिक्षक और गुरु ज्ञानी हैं तो वे ज्ञानाभिलाषी को सच्चे अर्थों में ज्ञानवात बनाएँगे और इसलिये ज्ञान प्राप्ति में पंडित पुरुषों की संगति मुख्य कारण मानी गई है। इतना ही नहीं जीवन का सर्वाङ्गीण विकास भी सत्संगति से हो हो सकता है यह बात निर्विवाद सत्य है।

सत्संग और जीवन-निर्माण

कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के साथ ही विद्वत्ता, वीरता अथवा कोई अन्य उल्लेखनीय योग्यता लेकर नहीं आता। वह आगे जाकर जो कुछ भी बनता है केवल संगति से ही बनता है। विद्वत् कुल में जन्म लेने वाला शिशु अगर कुसंगति में पढ़ जाय तो चोर, डाकू, जुआरी और शराबी बन जाता है तथा हीम कुल में जन्म लेने वाला बालक सुसंगति पाकर महा विद्वान् और साधु-पुरुष बनकर संसार में लोगों का श्रद्धा-पात्र बनता है। एक श्लोक में कहा गया है :—

असज्जनः सज्जनं सङ्गसङ्गात्,

करोति दुःसाध्यमपीह लोके ।

पुरुषश्च या सङ्गुजाधिरुद्धा,

पिपीलिका जुम्बति चन्द्रबिम्बम् ॥

असज्जन भी सज्जनों की संगति से इस संसार में दुःसाध्य काम कर डालते हैं। फूलों के सहारे चींटी शंकर की जटा पर बैठकर चन्द्रमा का चुम्बन लेने पहुँच जाती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत्संगति से न ही सकने वाला काम भी सहज और संभव हो जाता है। अगर व्यक्ति सदा श्रेष्ठ पुरुषों की संगति में रहे तो अज्ञान, अहंकार आदि अनेक दुर्गुण तो उसके नष्ट होते ही हैं, उसे आत्म-मुक्ति के सच्चे मार्ग की पहचान भी होती है जिसकी पाकर वह अपने मानव-जीवन को सार्थक कर सकता है।

श्री भर्तृहरि ने भी सत्संगति का बड़ा भारी महत्त्व बताते हुए कहा है :—

जाड्यंधियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं —
मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति ।
क्षेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं—
सत्संगतिः कथय किञ्च करोति पुंसाम् ॥

—नीति शतक

सत्संगति बुद्धि की जड़ता को नष्ट करती है, वाणी को सत्य से सींचती है, मान बढ़ाती है, पाप मिटाती है, चित्त को प्रसन्नता देती है, संसार में यश फैलाती है। सत्संगति मनुष्य का कौन-सा उपकार नहीं करती ?

कितना महत्त्व है सत्संगति का अर्थात् सज्जन पुरुषों का ? प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों ? इतना अधिक महत्त्व संत-समागम को किसलिये दिया गया है ? यही मैं आपको बताने जा रहा हूँ।

सत्संगति से लाभ

सज्जन पुरुषों के समागम से पहला और सर्वोत्तम लाभ यह है कि वे शत्रु और मित्र दोनों से ही समान व्यवहार करते हैं। वे सदा दूसरों का हित ही करते हैं, कभी भी किसी अंग्य की चाहे वह उनका कट्टर वरी ही क्यों न हो, हानि नहीं करते, उसके अहित की भावना हृदय में ही नहीं लाते। इससे स्पष्ट है कि किन्हीं कारणों से, सबब से अगर वे किसी का हित न कर पाएँ तो भी उनके द्वारा अहित होने का भय नहीं रहता।

आपको क्षमा नहीं करूँगा

महात्मा गाँधी जब दक्षिण अफ्रीका में थे, उनकी एक इन्जीनियर केलन बैंक से जो कि जर्मनी के रहने वाले थे, मित्रता हुई। केलन बैंक गाँधी जी के सद्गुणों से अत्यन्त प्रभावित हुए और उनके सम्पर्क से स्वयं भी बड़े सीधे-साधे ढंग से रहने लगे। वे अधिकतर गाँधी जी के साथ ही रहा करते थे तथा प्रतिदिन उनके साथ भ्रमणार्थ जाया करते थे।

एक बार उन्हें मालूम पड़ा कि कुछ व्यक्ति बापू की हत्या करने का विचार कर रहे हैं और इसके लिये षड्यन्त्र रच रहे हैं। यह मालूम होते ही वे सतर्क

हो गये और एक पिस्तौल हर वक्त अपने कोट की जेब में रखने लगे ।

एक दिन जब दोनों मित्र घूमने जा रहे थे, गाँधी जी को सन्देह हुआ और उन्होंने केलन बैंक की कोट की जेब में हाथ डालकर उसमें से पिस्तौल निकाल लिया तथा आश्चर्य से बोले—“क्या महात्मा टालस्टाय के शिष्य भी पिस्तौल जैसी हिंसक वस्तु अपने पास रखते हैं ?”

“अगर जरूरत हो तो रखने में क्या हर्ज है ?” बैंक ने मुस्कराते हुये उत्तर दिया ।

“किन्तु अभी ऐसी कौन-सी जरूरत इसे रखने की आ पड़ी है ?” बापू ने पुनः प्रश्न किया ।

“बात यह है कि मुझे विश्वस्त सूत्रों से मालूम हुआ है कि कुछ व्यक्ति आपकी हत्या करने का षड्यन्त्र रच रहे हैं । अतः आपकी सुरक्षा के लिये मैं इसे हर समय अपने पास रखता हूँ ।” बैंक का उत्तर था ।

सुनकर गाँधी जी आवेश में आकर बोले—“मित्र ! आप मेरी रक्षा करेंगे ? यह असंभव है । वैसे यह आत्मा अमर है, इसे कोई नहीं मार सकता । दूसरे, हम अहिंसा के सिद्धांत को मानने वाले हैं अतः हमें अहिंसा पर ही निर्भर रहना चाहिये, हिंसा पर नहीं । यह शरीर तो एक न एक दिन नष्ट होना ही है पर इसके लिये आप किन्हीं गरीबों का खून कर देंगे तो वह मैं सहन नहीं कर सकूँगा । अगर आप मेरे हितैषी मित्र हैं तो इसी समय यह पिस्तौल फेंक दीजिये । भले ही कोई मुझे मारना चाहता हो, पर अगर आपने मेरे कारण किसी को भी मारा तो मैं आपको कभी क्षमा नहीं करूँगा ।”

मिस्टर केलन बैंक ने गाँधी जी की यह बात सुनकर अत्यंत लज्जित होते हुए उसी समय उनसे अपनी भूल के लिये क्षमा माँगी ।

इस उदाहरण से साबित हो जाता है कि सज्जन पुरुष अपने दुश्मन ही नहीं, अपने हत्यारे का भी अहित कभी नहीं चाहते और इस प्रकार अगर उनसे लाभ की संभावना न भी हो तो हानि तो कभी होती ही नहीं ।

सज्जनों की संगति से दूसरा लाभ बौद्धिक विकास के रूप में होता है । संतों का अनुभव ज्ञान बड़ा भारी होता है अतः उनके मार्ग-दर्शन से बिगड़ता हुआ काम भी बन जाता है । सच्चे संत भले ही जबान से शिक्षा न दें पर उनके आचरण से भी मनुष्य को मूक शिक्षा मिलती रहती है तथा जीवन सत्य पर बढ़ता है । केवल किताबी ज्ञान ही मनुष्य को ऊँचा नहीं उठा सकता जब तक कि उसका आचरण भी ज्ञानमय न हो जाये तथा इसके लिये संत समागम आवश्यक है । बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जिनका असर जबान से कहने पर

नहीं होता अपितु बुद्धिमत्ता से क्रियात्मक रूप द्वारा समझाने से होता है। एक उदाहरण से यह बात समझ में आ जाएगी।

खेतों में पानी पहुँचा रहा हूँ

एक बार एक संत घूमते-घामते गंगा के किनारे जा पहुँचे। वहाँ पर वे बड़े मनोयोग पूर्वक लोगों के क्रिया-कलाप देखने लगे। एक स्थान पर उन्होंने देखा कि कुछ भक्त अपने लोटों में जल भरकर और दोनों हाथों से उन्हें ऊपर उठाकर अपना भस्तक झुकाते हुये पुनः जल में छोड़ रहे हैं।

सन्त ने उनसे पूछा—“तुम लोग यह क्या कर रहे हो?”

“सूर्य को जल चढ़ा रहे हैं महाराज !” भक्तों ने उत्तर दिया और पुनः अपने कार्य में लग गये।

उन अनुभवी और ज्ञानी सन्त ने यह देखा तो उन्हें उद्बोधन देने का विचार किया। किन्तु साथ ही सोचा कि जबान से कड़ने पर शायद ये लोग समझेंगे नहीं और बिगड़ पड़ेंगे अतः दूसरा रास्ता अपनाया। वह रास्ता क्या था?

सन्त उन भक्तों के समक्ष ही कुछ और दूर धारा की तरफ गये तथा अपने कमंडल में जल भर-भरकर जल्दी-जल्दी सूर्य के विपरीत दिशा में फेंकने लगे।

अन्य लोगों ने तथा सूर्य को जल चढ़ाने वाले भक्तों ने जब उनके इस अजीब कृत्य को देखा तो चकित होकर कहने लगे—“महाराज ! यह आप क्या कर रहे हैं ? सूर्य को जल न चढ़ाकर किधर जल फेंक रहे हैं ?”

संत ने बड़ी गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया—“भाई, मैं बड़ी दूर से आया हूँ। मेरे देश में जल का बड़ा अभाव रहता है और यहाँ इसकी कमी नहीं है। अतः मैंने विचार किया है कि क्यों न अपने देश के सूखे पड़े खेतों में यहाँ से जल पहुँचा दूँ ? मुझे सूर्य को जल नहीं चढ़ाना है अपने देश के खेतों में पहुँचाना है और वे इसी दिशा में हैं। अगर मैं उन्हें यहाँ से जल पहुँचा दूँगा तो वे सब हरे-भरे हो जाएँगे।”

संत की बात सुनकर वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति और भक्त लोग हँस पड़े। बोले—“लगता है कि आपका दिमाग तपस्या करते रहने के कारण कुछ फिर गया है। भला सोचिये तो सही कि यहाँ से आपका उछाला हुआ जल आपके देश के खेतों में कैसे पहुँच सकेगा ? और इतनी दूर से किस प्रकार उन्हें हरा-भरा कर सकेगा ?”

संत मुस्कराते हुये बोले—“मेरा दिमाग तो बिल्कुल ठीक काम रहा है और इसलिये मुझे विचार आया है कि जब आपके द्वारा दिया हुआ जल इस पृथ्वी लोक से सूर्य लोक तक पहुँच सकता है तो फिर मेरा देश तो सूर्यलोक से बहुत पास है अतः यह जल निश्चय ही वहाँ तक पहुँच जाएगा।”

संत की बात सुनकर सब स्तब्ध रह गये और उनकी समझ में संत की बात आ गई कि जहाँ कारण है वहीं उसका कार्य भी हो सकता है। ऐसा नहीं कि कारण तो कहीं है और कार्य कहीं अन्यत्र हो जाए। वे यह भी समझ गए कि जब भौतिक क्षेत्र में भी कार्य और कारण का यह नियम है तो आध्यात्मिक क्षेत्र में तो यह संभव ही कैसे हो सकता है? आत्मा का कार्य मोक्ष है और उसके कारण सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चरित्र आदि हैं और इस प्रकार जबकि मोक्ष आत्मा में ही है उसके कारण भी आत्मा में ही हैं फिर उसका उपाय बाहर कैसे होगा? ऐसा तो कदापि नहीं होगा कि आत्मा कहीं हो, मोक्ष कहीं हो और उसकी प्राप्ति का उपाय कहीं और हो।

जब संत की क्रिया से और उनके समझाने से भक्त लोगों के हृदय में उनकी बात उतर गई तो वे सब उनके सामने नतमस्तक हो गए और उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञ हुए।

ऐसा क्यों हुआ? उन संत की अल्प संगति के कारण ही। हाँ, बिना बचन से कहे जाने पर भी उनकी रहस्यमयी क्रिया से न.समझ लोगों की बुद्धि ने क्रांतिकारी मोड़ लिया और उनका बौद्धिक विकास सही दिशा में हुआ। सज्जनों की संगति से इसी प्रकार लाभ हुआ करता है।

तीसरा लाभ सत्संगति से यह होता है कि मनुष्य के मन के अनेक रोग मिट जाते हैं। मन के रोग बया होते हैं, इस विषय में जानने की आपको उत्सुकता होगी। यद्यपि वे आपसे छिपे नहीं हैं। आज सभी प्राणी इन रोगों से पीड़ित हैं पर उन्हें वे रोग नहीं मानते। तो, मन के रोग हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, विषय-विकार, असहिष्णुता एवं उच्छृंखलता आदि। यही सब संत-समागम या उनके सहवास से निर्मूल होते हैं। इसीलिये उन्हें मंगलमय तीर्थ कहा जाता है। संत तुलसीदास जी ने भी कहा है :—

मुद्ग मंगलमय संत समस्तु ।

अिमि जग जंगम तीरथ राजू ॥

महान् त्याग

पंडित रघुनाथ और निमाई पंडित दोनों मित्र थे। एक बार दोनों मित्र नाव में बैठकर जल-यात्रा का आनन्द ले रहे थे। उसी समय रघुनाथ पंडित ने कहा—“मैंने न्याय शास्त्र पर 'दोषीति' नामक टीका लिखी है।”

सुनकर निमाई पंडित बोले—“मैंने भी लिखी है टीका, पर अभी अधूरी है। जब-जब मुझे कोई नई बात सूझती है, मैं तुरंत उसे लिख डालता हूँ।”

“क्या यहाँ भी आप अपनी टीका साथ लाए हैं?”

“हाँ, हाँ ! यह देखो उस टीका के हस्तलिखित पन्ने ।” निमाई ने उत्तर दिया ।

टीका देखकर रघुनाथ ने अनुरोध किया कि उसे पढ़कर सुनाओ । इस पर निमाई पंडित प्रसन्नता से एक-एक पेज उठाकर अपनी टीका पढ़ने लगे ।

रघुनाथ पंडित ज्यों-ज्यों टीका सुनते थे उनका हृदय विषाद से भरता जा रहा था । अन्त में उनसे रहा नहीं गया और उनकी आँखों से आँसू बहने लगे ।

मित्र को रोते देखकर पंडित निमाई बड़े चकित हुये और उनसे रोने का कारण पूछा । रघुनाथ पंडित ने उत्तर दिया—“भाई, मैं तो यह समझता था कि मेरी टीका न्याय के ग्रन्थों में सबसे श्रेष्ठ है । किन्तु आज तुम्हारी लिखी हुई टीका के कुछ पेज सुनकर मेरी धारणा गलत साबित हो गई है । मुझे लगता है कि तुम्हारी टीका के सामने मेरी इस टीका को कौन पूछेगा ?”

‘बस इतनी सी बात ? अगर ऐसा है तो मित्र, मैं अपने इस टीका-ग्रन्थ को अभी नष्ट किये देता हूँ क्योंकि तुम्हारी प्रसन्नता के लिये ग्रन्थ तो क्या मैं अपने प्राण भी विसर्जन कर सकता हूँ ।’ कहते हुये निमाई पंडित ने संसार-प्रसिद्ध ‘दीधीति’ टीका से भी उत्तम और महा परिश्रम से लिखी गई अपनी टीका का एक-एक पेज जल में प्रवाहित कर दिया ।

यह देखते ही रघुनाथ पंडित पानी-पानी हो गए । अपने सज्जन मित्र का त्याग देखकर उन्हें अपनी तुच्छ मनोवृत्ति एवं ईर्ष्या की भावना पर घोर पश्चाताप हुआ और उनके मन से ये दुष्ट रोग सदा के लिये विलीन हो गए । यह सज्जन मित्र की संगति का ही प्रभाव था ।

सज्जनों की संगति का चौथा लाभ यह है कि उससे गुण रहित व्यक्ति भी गुणवान् बन जाता है । इस विषय में हितोपदेश में एक श्लोक दिया गया है :—

काञ्चः काञ्चन संसर्गाद्धत्ते मारकतीं शतम् ।
तथा सत्सनिधानेन मूर्खां याति प्रवीणताम् ॥

सुवर्ण के सम्बन्ध से काँच भी सुन्दर रत्न की शोभा को प्राप्त करता है, इसी प्रकार मूर्ख भी सज्जन के संसर्ग से चतुर हो जाता है ।

मनुष्य कितनी भी शिक्षा प्राप्त कर ले और अपनी तर्कशक्ति बढ़ा ले, उससे उसकी आत्मिक शक्ति नहीं बढ़ पाती । आज के युग में शिक्षित व्यक्ति ही अधिकतर नास्तिक पाये जाते हैं । नास्तिकों में न तो ईश्वर के प्रति आस्था होती है और न ही उनका धर्म-कर्म, लोक-परलोक तथा पुण्य और पाप में विश्वास होता है । परिणाम यह होता है कि वे पापों से नहीं डरते तथा दिनों-दिन अपनी आत्मा को अवनति की ओर ले जाते हैं ।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अशिक्षित होते हैं, किन्तु संत-समागम करते हैं, हृदय और विचारों से महान् बन जाते हैं। इसका कारण यह होता है कि सत्संगति से उनकी देव, गुरु एवं धर्म में आस्था उत्पन्न हो जाती है और वे पूर्ण श्रद्धा सहित जो भी क्रिया करते हैं उसका उत्तम फल प्राप्त कर लेते हैं।

इसीलिए पूज्यपाद पंडित मुनि श्री अमीन्द्रवि जी महाराज ने कहा है:—

उत्तम संग उमंग घरो,
सजिये सुप्रसंग अनंग निबारे ।
ज्ञान बधे रु सधे जिन आन,
अज्ञान कुमति को मूल उखारे ॥
शील संतोष क्षमा चित्त धीरज,
पातक से नित राखत न्यारे ।
डारत दु ख भवोभव के रिख,
अमृत संगत उत्तम धारे ॥

कवि ने मनुष्य को उद्बोधन दिया है कि “सदा उत्साह और उमंग के साथ उत्तम पुरुषों की संगति करो और उनकी संगति से हृदय के भावों को निर्मल बताते हुये विषय-विकारों का त्याग करो।”

“सत्संगति से तुम्हारा ज्ञान बढ़ेगा तथा भगवान के वचनों का पालन हो सकेगा। इम सबसे बढ़कर तो यह होगा कि तुम्हारे हृदय में धर किये हुए अज्ञान का लोप होगा एवं कुबुद्धि जड़-मूल से नष्ट हो जाएगी।”

“तुम्हारे हृदय में शील, संतोष, क्षमा, धैर्य आदि अनेक सद्गुणों का उदय होगा जो कि तुम्हारी आत्मा को पापों से दूर रखेगा तथा भव-भव के दुःखों से छुटकारा दिलेगा। इसलिये हे प्राणी ! तुम उत्तम पुरुषों की संगति करो।”

वस्तुतः संत-जनों की संगति से हृदय में रहे हुए अवगुणों का नाश होता है तथा सद्गुणों का आविर्भाव हो जाता है।

अब सत्संगति का पाँचवाँ लाभ क्या है, हमें यह देखना है। यह लाभ है मन में असीम शांति की स्थापना होना। जो व्यक्ति सज्जनों की संगति करता है उसके मन में अपार शांति सदा बनी रहती है। क्योंकि सज्जनों की संगति करने वाले व्यक्ति की कोई निंदा नहीं करता और उसे किसी प्रकार की लज्जा या शर्म का अनुभव नहीं होता। संत जनों की संगति करने वाला व्यक्ति अगर बुरा हो तब भी लोग उसे भला कहते हैं तथा बुरे व्यक्ति की संगति करने

वाले अच्छे व्यक्ति को भी दुनिया बुरा ही मानने लगती है। कहा भी है :—

सत संगत के वास सों, अवगुण हूँ छिपि जात ।
अहिर धाम मदिरा पियै, दूध जानिये तात ॥
असत संग के वास सों, गुन अवगुण है जात ।
दूध पियै कलवार घर, मदिरा सबहि बुझात ॥

—विदुर

कितनी सुन्दर बात कही गई है? कहा है—सज्जनों के समीप निवास करने से व्यक्ति में अगर अवगुण होते हैं तो भी वे छिप जाते हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अहोर के घर बैठकर मदिरा पीता है तो भी लोग यहीं मानते हैं कि वह दूध पी रहा है।

और इसके विपरीत दुर्जनों के साथ रहने वाले व्यक्ति के सद्गुणों को भी दुनिया दुर्गुण ही मानती है। यथा कलवार के यहाँ बैठकर व्यक्ति अगर वास्तव में दूध ही पीता हो तो भी लोग कहते हैं कि मदिरा पी रहा है।

एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी कहा है :—

“Tell me with whom thou art found and I will tell thee who thou art.”

—गेटे

अर्थात्—मुझे बताइये आपके संगी-साथी कौन हैं और मैं बता दूँगा कि आप कौन हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि दुनिया किसी भी व्यक्ति के साथियों को देखकर ही उस व्यक्ति के चरित्र का अन्दाज लगाती है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को सदा भले और सज्जन व्यक्तियों के सहवास में ही रहना चाहिए। इससे पहला लाभ तो यही होगा कि लोग उसे बुरा नहीं बताएँगे, उसकी निंदा नहीं करेंगे तथा दूसरा लाभ यह है कि अगर उसमें अवगुण होंगे भी तो सज्जन व्यक्ति के साथ रहने से वे धीरे-धीरे नष्ट हो जाएँगे और उनके स्थान पर सुन्दर एवं आत्म-कल्याणकारी सुगुणों की स्थापना होगी। इसका परिणाम यह होगा कि उस व्यक्ति के मन में अपूर्व शांति बनी रहेगी। सज्जन व्यक्ति का केवल उपदेश ही शिक्षा नहीं देता अपितु उसका प्रत्येक कार्य एवं प्रतिक्षण की दिनचर्या भी सतत् शिक्षा देती है तथा ज्ञान में वृद्धि करती है।

एक श्लोक में भी यही बात कही गई है :—

परिस्वरितध्याः सन्तो, यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम् ।

यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि ॥

सज्जनों की उपासना करना चाहिये; चाहे वे उपदेश न भी देते हों, वयों-कि जो उनके निजी वार्तालाप हैं वही सदुपदेश हो जाते हैं।

इस प्रकार सत्संगति से व्यक्ति को अनेक लाभ होते हैं। सबसे बड़ा लाभ तो यही है कि सज्जनों की संगति करने से वह दुर्जनों के संग से बच जाता

है। भले ही शक्ति संत-जनों का उपदेश न सुने किन्तु समीप रहकर उनकी दिनचर्या का अवलोकन करते हुये भी धीरे-धीरे उनके सद्गुणों का अनुकरण करने लगता है और यही हाल दुर्जनों की संगति से होता है। न चाहने पर भी शनैः-शनैः वह दुर्गुणों की ओर सम्मुख हुए बिना नहीं रह पाता। तभी कबीर ने कहा है :—

काजर की कोठरी में कंसो हूं सयानो जाय ।
एक लोक काजर की लागि है पं लागि है ॥

वस्तुतः काजल से भरी हुई कोठरी में प्रवेश करते समय मनुष्य नहीं चाहेगा कि उसके शरीर या कपड़ों पर तनिक भी कालिख लगे। किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी कोई न कोई काली रेखा या धब्बा उस पर लगे बिना नहीं रहेगा।

ठीक यही हाल दुर्जनों की संगति करने पर होता है कि लाख मन को नियन्त्रण में रखने पर भी वह दुर्गुणों की ओर जाए बिना नहीं रहता। उनके सहवास से लाभ रंघ-मात्र भी नहीं होता केवल हानि ही पत्ले पड़ती है। दुर्जन व्यक्ति संख्या में अनेक होकर भी किसी व्यक्ति का भला नहीं कर सकते क्योंकि वे स्वयं ही आत्मा की उन्नति की ओर अग्रसर करने का मार्ग नहीं खोज पाते। तभी कहा जाता है :—

शतमप्यन्धानां न पश्यति ।

सौ अंधे मिलकर भी देख नहीं पाते।

किन्तु इसके विपरीत संत-पुरुष भले ही अकेला हो, वह स्वयं अपने लिये उत्तम मार्ग खोज लेता है तथा अन्य असंख्य व्यक्तियों को भी मार्ग सुझाता है। चंदन के समान वह अत्यल्प मात्रा में होकर भी मनुष्य के मन को आह्लाद से भर देता है जबकि गाड़ी भर लकड़ी भी इस कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकती। किसी ने यही कहा है :—

चंदन की चुटकी भली, गाड़ी भरा न काठ ।

इसलिए बंधुओ ! भले ही थोड़े समय के लिये की जाय किन्तु संगति सत्-पुरुषों की ही करनी चाहिए उससे हमें जो भी लाभ होगा वह हमारे जीवन को उन्नति के पथ पर कई कदम आगे बढ़ा सकेगा। मैंने एक दृष्टान्त पढ़ा था—

त्रुटि सुघार

एक बार भगवान् महावीर के समक्षशरण में देवता, विद्याघर एवं साधारण

मनुष्य सभी आए थे। वैताद्वय पर्वत के अगले हिस्से में विद्याधर रहते हैं, अपनी विद्या के बल पर ही वे अपने कार्य सम्पन्न करते हैं अतः उन्हें विद्याधर कहा जाता है।

तो एक विद्याधर जब भगवान के दर्शन करने के पश्चात् अपने निवास-स्थान को लौटने लगा तब उसने अपने विमान को चलाने के लिए मन्त्र पढ़ा। संयोगवश वह मन्त्र के कुछ अक्षरों को भूल गया और उसका विमान एक अंगुल भी ऊँचा नहीं उठ सका। बार-बार मन्त्र पढ़ने पर भी विमान को न उठते देख वह बहुत परेशान हुआ।

विद्याधर की इस परेशानी को महाराजा श्रेणिक के पुत्र एवं मंत्री अभय कुमार ने देखा तो भगवान् से पूछा—“देव, विद्याधर की परेशानी का क्या कारण है?”

भगवान् ने उत्तर दिया—“इसके मन्त्र पढ़ने में कुछ गलती हो रही है। यह मन्त्र के कुछ शब्दों को भूल गया है अतः विमान को चला नहीं सकता।”

यह देखकर अभयकुमार विद्याधर के समीप आए और बोले—“माई क्या बात है?”

“विमान उठ नहीं रहा है।” विद्याधर ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

“आप कौन-सा मन्त्र पढ़ रहे हैं इसे उठाने के लिये?” अभयकुमार ने पुनः पूछा।

“वह तो मैं पढ़ ही रहा हूँ अब आप को क्या-क्या बताऊँ।” विद्याधर ने रुखाई से कहा।

“पर बताने में आपका क्या नुकसान है? संभव है मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ।”

अभयकुमार के आग्रह और अपनी परेशानी को देखते हुये विद्याधर ने मन्त्र अभयकुमार को सुनाया। अभयकुमार बड़े बुद्धिमान और सभी विद्याओं के धनी थे। उन्होंने फौरन मन्त्र में रही हुई त्रुटि या कमी को पूरा कर दिया और उसके अनुसार मन्त्र पढ़ने पर उस विद्याधर का विमान क्षणभर में चल दिया।

इस उदाहरण से आशय यही है कि अभयकुमार जैसे सत्पुरुष के कुछ क्षणों के सम्पर्क से ही विद्याधर को कितना लाभ हुआ? दूसरे, यह शिक्षा भी औरों को मिली कि किसी भी मन्त्र अथवा पाठ का उच्चारण करते समय उसके शब्दों को शुद्ध बोलना चाहिए, अक्षर न अधिक और न ही कम बोले जाने

चाहिए। आप लोग भी जब प्रतिक्रमण करते हैं तो उस समय ज्ञान के चौदह अतिचार बोलते हुए कहते हैं—हीणक्खरं, अच्चक्खरं, अर्थात् कम या अधिक अक्षर बोला हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

तो जिस प्रकार महापंडित अभयकुमार की क्षणिक संगति से विद्याधर के मन्त्र-ज्ञान की न्यूनता पूर्ण हुई, उसी प्रकार संत जनों की एवं गुरु की संगति करने से मुमुक्षु प्राणी के ज्ञान में रही हुई न्यूनताओं की तथा त्रुटियों की भूलें ठीक होती हैं तथा ज्ञान में निरन्तर वृद्धि होती है जिसकी सहायता से वह अपनी साधना को सबल बनाता है।

ध्यान में रखने की बात है कि मनुष्य किताबी ज्ञान कितना भी हसिल कर ले, बड़े-बड़े ग्रन्थों को कण्ठस्थ करके विद्वानों की श्रेणी में अपने आपको समझने लग जाए। फिर भी वह ज्ञानी नहीं कहला सकता। क्योंकि उसका ज्ञान तर्क-वितर्क तथा वाद-विवाद करके लोगों को प्रभावित करने तथा भौतिक उल्लिखियों को प्राप्त करने के काम ही आता है। वह ज्ञान उसकी आत्मा को कर्म-मुक्त करने में सहायक नहीं बनता। सच्चा ज्ञान वही है जो आत्मा को शुद्धि की ओर बढ़ाता है तथा शनैः-शनैः उसे भव-भ्रमण से छुटकारा दिलाता है और ऐसा ज्ञान जिसे हम सम्यक्-ज्ञान कहते हैं संत-जनों के सम्पर्क से ही हासिल हो सकता है। संत अथवा सच्चे गुरु जो कि विशुद्ध सम्यक् दृष्टि के धारी होते हैं, बीतराग की वाणी पर अटूट विश्वास रखते हैं, विषय-विकारों से अलिप्त रहते हैं तथा त्याग और तपस्या के द्वारा निरन्तर कर्मों की निजंरा करते हुए साधना पथ पर बढ़ते हैं, वे ही सच्चे ज्ञानी कहलाते हैं तथा उन्हीं की संगति से अन्य प्राणी भी ज्ञान-वृद्धि करते हुए अपनी आत्मा को शुद्धि की ओर ले जा सकते हैं।

सच्चे संत अथवा गुरु की पहिचान कराते हुए पूज्यपाद श्री अमीरुषि जी महाराज कहते हैं :—

सबं जग जाल संसार अनित्य,
 विचारी सुजान तजे सुख सारे ।
 गहे शिवमार्ग विराग रहे,
 जग-राग दहे अध-डाग निबारे ॥
 करे नहि नेह कर्मो तन तें,
 तप संजम से निज काज सुधारे ।
 तजे बनिता धन-धाम अमीरिख,
 सत्य वही गुणदेव हमारे ॥

क्या कहा है कवि ने ? यह नहीं कि सारे शास्त्रों को पढ़ लेने वाले, अनेक धर्म-ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर लेने वाले तथा अनेकों विद्याओं को जानने वाले हमारे गुरु हैं ।

कवि ने स्पष्ट कहा है—जो इस जगत को जंगल समझते हैं तथा समस्त सांसारिक पदार्थों को अनित्य मानकर इनसे प्राप्त होने वाले क्षणिक और झूठे सुखों की कामना नहीं करते, उन्हें तिलाञ्जलि दे देते हैं तथा अपने शरीर से रंघ-मात्र भी स्नेह न रखते हुए विरक्त होकर अपने पापों का नाश करने के लिए साधना का मार्ग ग्रहण करते हैं और जो निरन्तर अपनी इन्द्रियों पर तथा मन पर संयम रखते हुए त्याग-तपस्यापूर्वक धर्माराधन करते हैं, इतना ही नहीं अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार एवं धन-वंशव पर से सम्पूर्ण ममत्व हटा लेते हैं वे ही सच्चे मायने में हमारे गुरु हैं और ऐसे गुरु विरले ही होते हैं । कहा भी है :—

गुरुषो विरलाः संति, शिष्य संतापहारका ।

ऐसे गुरु विरले ही मिलते हैं जो कि अपने शिष्यों के कषाय-जनित कष्टों की और जन्म-मरण रूप संताप को मिटाने में मार्ग-दर्शन करते हैं ।

तो बंधुओ ! इसीलिए कहा गया है कि सत्संगति करने से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा सन्मार्ग प्राप्त होता है । संत-जनों की संगति करने से सदा लाभ ही होता है, हानि की संभावना नहीं रहती । भले ही व्यक्ति ऐसी आत्माओं की संगति अधिक न कर सके फिर भी उसे जहाँ तक बने प्रयत्न करना चाहिए । कभी-कभी तो क्षणभर का सत्संगत भी जीवन को ऐसा मोड़ दे देता है कि जीवन भर की कमाई व्यक्ति को उस अल्पकाल में ही हो जाती है ।

ब्रह्माण्ड की परिक्रमा

कहा जाता है कि एक बार देवताओं में इस बात के लिए बड़ा झगड़ा हुआ कि सबमें प्रथम पूज्य कौन है ? बहुत काल तक वाद-विवाद करने पर भी जब इसका कोई हल नहीं निकला तो सर्व सम्मति से निश्चय किया गया कि समस्त ब्रह्माण्ड की जो कोई पहले परिक्रमा करके आ जाय वही सर्वप्रथम पूज्य माना जायेगा ।

यह निश्चित होते ही सब देवता अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करने के लिये रवाना हो गये ।

किन्तु गणेश जो बड़ी विन्ता में पड़े, क्योंकि उनका वाहन चूहा था । उस पर सवार होकर वे कब ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके लौटते ? बड़े भारी असम-जस में पड़े हुए वे मन मारे एक स्थान पर बैठ गये और अपनी समस्या का हल कैसे हो इस पर विचार करने लगे । किन्तु बहुत देर तक सोचने पर भी उन्हें कोई रास्ता सुझाई नहीं दिया अतः वे अत्यन्त दुःखी हो गये ।

अकस्मात् ही उधर से नारद ऋषि गुजरे। ज्योंहि गणेश जी की दृष्टि उन पर पड़ी, वे नारद जी के सनीप आये। गणेश जी को बहुत ही उदास देखकर नारद ने पूछा—“आप आज किस चिन्ता में पड़े हैं ?”

“क्या बताऊँ देव ! आज मैं बड़ी परेशानी में हूँ। देवताओं में कौन पूज्य है ? इस बात को साबित करने के लिये सब देवता अपने-अपने शीघ्रगामी वाहनों पर सवार होकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करने चल दिये हैं। पर मैं इस धूहे पर चढ़कर कैसे ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करूँ ? कृपा करके आप ही कोई उपाय बताइये !” गणेश जी ने नारद से प्रार्थना की।

नारद जी बड़े ज्ञानी और तीव्र बुद्धि के थे। कुछ पल में ही बोले—“आप राम का नाम लिखकर उसकी परिक्रमा कर लीजिये। राम नाम में तो अखिल ब्रह्माण्ड निहित है। चिन्ता किस बात की ?”

बस फिर क्या था। गणेश जी ने चट-पट राम का नाम पृथ्वी पर लिखकर उसकी परिक्रमा कर ली। परिणामस्वरूप उन्हें सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके आने वाला और सर्वोपरि पूज्य माना गया। कहा भी जाता है :—

महिमा आसू जान गनराऊ,
प्रथम पूजित नाम प्रभाऊ।

इस उदाहरण से साबित होता है कि गणेश जी नारदमुनि की अल्प संगति से ही देवताओं में प्रथम पूज्य बन गये तथा एक उपाय को बता देने के कारण ही नारद जी ने गणेश जी के गुरुपद को प्राप्त कर लिया।

तो बन्धुओ, इसीलिये आपको भी सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि अल्प-काल के लिये ही सही पर सत-समागम अवश्य करें। कौन जानता है कि किस क्षण मन की गति करवट बदल ले और गुरु का एक शब्द भी आपके जीवन को साथक बना दे।

संत-जीवन और एक साधारण व्यक्ति के जीवन में महान् अन्तर होता है। बिरले व्यक्ति ही अपनी वासनाओं और भोगलिप्साओं पर विजय प्राप्त करके आत्म-साधना के पथ पर चल सकते हैं। संसार के कार्य तो तनिक बुद्धिबल, मनोबल या शारीरिक बल से सम्पन्न कर लिये जा सकते हैं किन्तु आत्म-उत्थान का कार्य सहज ही सम्भव नहीं होता। उनके लिये मङ्गुश्यों को त्याग, तपस्या, सहनशीलता, समभाव, शान्ति, निराशक्ति तथा संतोष आदि की कठिन कसौटियों पर खरा उतारना होता है। पूर्ण एकाग्रचित्त से उन्हें चारित्र्य

धर्म एवं संयम का पालन करना पड़ता है। कहा भी है :—
अहीवेगसं दिदृष्टीए, चरित्ते पुत्त ! बुच्चरे ।
जवा लोहमया चैव, चावेयव्वा सुबुक्करं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १९-३९

अर्थात्—सर्प को एकाग्रदृष्टि की तरह एकाग्र मन रखते हुये चरित्र पालन पालन अत्यन्त दुष्कर है। दूसरे शब्दों में, लोहे के चनों को चबाने के समान संयम पालना अत्यन्त ही कठिन है।

वस्तुतः संत-जीवन अत्यन्त दुष्कर किन्तु महामहिम भी होता है। इस लिये व्यक्ति को उनके जीवन से ज्ञान पाने के लिये उनकी संगति करनी चाहिये तथा उनके सदुपदेश एवं आचरण से अपने आत्म-कल्याण का मार्ग पाना चाहिये। सत्संगति से ही ज्ञान प्राप्ति संभव है और ज्ञान प्राप्ति से कर्म नाश करत हुए मुक्ति। अतः जिसे मुक्ति की अभिलाषा है, उसे सत्संगति का महत्त्व समझकर उसके द्वारा अपनी ज्ञान-वृद्धि करनी चाहिये।





ज्ञान प्राप्ति का साधन : विनय

धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों !

कल हमने ज्ञान-प्राप्ति के पाँचवें कारण 'पंडित पुरुषों की संगति' के विषय में प्रवचन किया था। आज छठे कारण विनय को लेना है।

व्याकरण शास्त्र के अनुसार विनय शब्द में 'वि' उपसर्ग है। उपसर्ग बाईस होते हैं जिनमें से 'वि' एक है। विनय शब्द में से 'वि' को हटा दिया जाय तो नय रह जाता है। नय शब्द का अर्थ भी आपको जानना चाहिये। 'निज' एक धातु है इसका अर्थ है—प्राप्ति करना। इसी से नय बनता है और उसका अर्थ भी प्राप्ति करना होता है। अब रहा 'वि' उपसर्ग। इसे नय के पहले लगा देने से विनय हो जाता है तथा अर्थ निकलता है—विशेष रीति से।

विनय के लिये भगवान् ने चार मूल सूत्र कहे हैं—उत्तराध्ययन, दशर्वका-लिक, मंदी सूत्र एवं अनुयोगद्वार सूत्र।

जानने की जिज्ञासा होती है कि इन चारों सूत्रों को ही मूल सूत्र क्यों कहा गया है जबकि और भी अनेक सूत्र विद्यमान हैं ?

इसका समाधान यही है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये चारों जो कि मोक्ष के मुख्य साधन हैं इनका विवेचन इन चारों शास्त्रों में किया गया है। अतः इन चारों मूल सूत्रों का गम्भीर अध्ययन करके मुमुक्षु प्राणी मोक्ष के ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप-रूप साधनों को अपना सकता है।

'नन्दी सूत्र' में ज्ञान का विशद् वर्णन है। यह भी कहा जा सकता है कि इस सूत्र में ज्ञान का जितना अधिक स्पष्टीकरण है, उतना अन्य किसी भी सूत्र में नहीं है।

ज्ञान के पश्चात् दर्शन आता है। दर्शन यानी श्रद्धा। दूसरे सूत्र 'अनुयोग द्वार' में श्रद्धा की दृढ़ता के विषय में बताया गया है तथा हमारे सिद्धान्तों की क्या मान्यताएँ हैं ? सात मय क्या हैं ? उनका स्वरूप क्या है, इन सभी का स्पष्टीकरण भी इसी सूत्र में किया गया है।

मोक्ष का तीसरा साधन है चारित्र। चारित्र का विस्तृत विवेचन 'वश-वैकालिक सूत्र' में पाया जाता है। साधु को किस प्रकार रहना चाहिये ? कैसे

चलना ? कैसे बोलना ? कैसे गोचरी लाना, आदि सभी के विषय में 'दशवैकालिक' में निर्देशन है ।

चौथा सूत्र है — 'उत्तराध्ययन सूत्र' । इसमें तप के विषय में वर्णन दिया है । आप जो कि इस सूत्र को पढ़ चुके होंगे, कहेंगे कि इसमें तप का क्या वर्णन है ? केवल एक ही तो तीसरा अध्याय इस विषय का है । पर आपकी यह शिकायत सही नहीं होगी । क्योंकि विनय भी तप है और इस सूत्र के नवें अध्याय में विनय का बड़ा विशद विवेचन है ।

विनय की महत्ता

हमारे जैन-शास्त्रों में विनय को बड़ा महत्त्वशाली माना गया है । इसके विषय में कहा है : —

विणओ जिणसासण मूलं,
विणओ निव्वाण साहगो ।
विणओ विप्पमुक्कस,
कुओ धम्मो कुओ तवो ?

अर्थात्—विनय जिन शासन को जड़ है और विनय ही निर्वाण का साधक है । जिस व्यक्ति में विनय नहीं है, उसमें धर्म और तप टिक ही कैसे सकते हैं ?

अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार मूल के अभाव में शाखाएँ तथा फल-फूल आदि कुछ नहीं टिकते उसी प्रकार विनय रूपी मूल के अभाव में उसके फल-फूल रूपी धर्म तथा तप आदि नहीं टिक सकते ।

विनय समस्त लौकिक एवं लोकोत्तर सुखों का साधन है । किसी मनुष्य में भले ही सँकड़ों अन्य गुण मौजूद हैं, किन्तु विनय गुण नहीं है तो वे समस्त गुण शोभाहीन मालूम देते हैं ।

एक संस्कृत भाषा के कवि ने कहा भी है :—

नभोभूषा पूषा कमलवनभूषा मधुकरो ।
धचोभूषा सत्यं वर धिभवभूषा वितरणम् ॥
मनोभूषा मंत्री मधुसमय भूषा मनसिजः ।
सदो भूषा सूक्तिः सकलगुणभूषा च विनयः ॥

आकाश का भूषण सूर्य है तथा कमल-वन के आभूषण मधुकर यानी भ्रमर हैं । आकाश में भले ही असंख्य तारे रहें किन्तु उनसे आकाश सुशोभित नहीं होता तथा कमलों के वन में अगर भँवरे मधुर-मधुर गुँजार न करें तो कमल-वन भी सूना-सूना लगने लगता है ।

आगे कहा है—किसी की वाणी कितनी भी नम्रता और मधुरता क्यों न लिये हो, अगर वह सत्य से मंडित नहीं है तो सौन्दर्य रहित ही मानी जायेगी। इसी प्रकार मनुष्य के पास धन की मात्रा कितनी भी क्यों न बढ़ जाये अगर उसमें उदारता नहीं है, दान की सुन्दर भावना नहीं है तो उसका समस्त धन व्यर्थ है, सौन्दर्यहीन है। क्योंकि सम्पत्ति केवल दान से ही शोभा पाती है।

अगली बात मन के विषय में कही गई है कि व्यक्ति के मन की महत्ता और शोभा अन्य व्यक्तियों से मैत्री स्थापित करने में है। अगर किसी व्यक्ति के मन में दान, दया, परोपकार और सेवा आदि के गुण हैं किन्तु संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव नहीं है तो वे अन्य सद्गुण भी सुन्दर और सरस नहीं मालूम होते। इसी प्रकार चाँदनी रात के भूषण कमल हैं और सज्जनों की वाणी के भूषण सूक्तियाँ हैं। इनके अभाव में सौन्दर्य अधूरा रह जाता है। पर कवि ने आगे क्या कहा है? यही कि समस्त गुणों का भूषण एकमात्र विनय है। और इसके न होने पर कोई भी गुण शोभा नहीं पाता।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि विनय गुण सब गुणों से उत्तम है, महान् है। जो व्यक्ति अपने से बड़ों के तथा गुणवानों के प्रति विनय भाव रखते हैं, उनका सम्मन और सत्कार करते हैं, अपनी शिक्षा, वैभव, तप एवं बल का अभिमान न करते हुये अपनी त्रुटियों एवं अयोग्यताओं को समक्षते हुये गुरुजनों से सद्बुद्धियों के द्वारा उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं वे श्रेष्ठ प्राणी ही ज्ञान के अधिकारी बनते हैं तथा अपने जीवन को निमलता की ओर ले जा सकते हैं।

हमारा धर्म विनयमूलक है और वह गुणों की श्रेष्ठता को महत्त्व देता है वेश-परिधान अथवा आडम्बर को नहीं। अर्थात् जो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य में अधिक है उनको विनय करने का उपदेश देता है। यही कारण है कि अगर एक साठ वर्ष का वयोवृद्ध व्यक्ति भी दीक्षा लेता है तो उसे पूर्वदीक्षित दस वर्ष के साधु की भी वंदना करनी पड़ती है। एक फटेहाल निम्न कुल के दीक्षित संत के चरणों में बादशाह को भी झुकना पड़ता है।

किन्तु आज के युग में शिक्षा-प्रणाली कुछ इस प्रकार की है कि छात्रों में कितनी भी ज्ञान भले ही बढ़ता चला जाय किन्तु विनय गुण नहीं पनपता। परिणामस्वरूप शिक्षक और शिष्य के बीच जैसा मधुर सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये उसके दर्शन भी नहीं होते। उलटे स्कूलों से पढ़कर निकले हुए छात्र कालेजों तक जाते-जाते तो इतने उद्दण्ड हो जाते हैं कि उनके मन के माफिक न चलने पर वे अपने प्रोफेसरों को भी सजा देने की धमकियाँ देते हैं।

यही हाल अधुनिक परिवारों का भी है। परिवार के छोटे-छोटे सदस्य, पुत्र, पौत्र आदि भी अपने से बड़ों को अपशब्द कहते हुये तथा गालियाँ देते हुये

पाये जाते हैं। फलस्वरूप उस परिवार में प्रेम एवं शान्ति का साम्राज्य नहीं रहना। उलटे घृणा, तिरस्कार तथा कलह का आतावरण बना रहता है। ठीक भी है जहाँ पिता-पुत्र, सास-बहू एवं देवरानी-जिठानी ही आपस में लड़ाई-झगड़े करती हों वहाँ उनकी संतान सद्गुण सम्पन्न कैसे बन सकती है? सच्चरित्र और सुशील माता ही केवल अपनी सन्तान को आदर्श सन्तान के रूप में ला सकती है।

बूध को लजा रहा है ?

आपको मालूम ही होगा पद्मा धाय का उदाहरण। मेवाड़ के गौरवशाली वंश के अन्तिम दीपक उन्हें राजकुमार उदयसिंह की रक्षा के लिये पद्मा ने अपने पुत्र का बलिदान कर दिया और किसी तरह अपने प्राणों को भी संकट में डालकर वह अरावली के दुर्गम पहाड़ों और ईडर के कूटभागों को पार करती हुई कुम्भल मेरु दुर्ग पर पहुँची।

उस दुर्ग का किलेदार आशासिंह देपुरा था। पद्मा धाय ने बालक उदयसिंह को लाकर आशाशाह की गोद में बिठा दिया और उसे शरण देने की प्रार्थना की। आशासिंह तनिक हिचकिचाया और बच्चे को गोद से उतारने का प्रयत्न करने लगा।

यह सब आशाशाह की माता ने देखा, जो कि कुछ ही दूर पर बँठी हुई थी। शरणागत को आश्रय देने में पुत्र की हिचकिचाहट देखकर वह सिंहनी की तरह गरज कर बोली—

“यह क्या है आशा? क्या तू मेरा इसी प्रकार का कायर पुत्र है? मेरा बूध पीकर मुझे ही लजा रहा है, मुझे वीर माता कहलवाने के गौरव से वंचित कर रहा है? क्या तू भूल गया है कि हम जैन हैं और शाह कहलाते हैं?”

आज एक शाह के पास शरण लेने के लिये स्वयं राजा आया है। यह और कोई नहीं तेरा ही शासक मेवाड़ का राजा है। और तू अपने राजा की प्रजा हीकर भी उसे शरण देने से इन्कार करना चाहता है? इसे अपनी गोद में उठा और अपना शाहत्व तथा वीरत्व दिखा! और यह भी दिखा संसार को कि ‘जैन’ कभी शरणागत को रक्षा से मुँह नहीं मोड़ते।”

बंधुओ, क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि माता की बात सुनकर आशाशाह ने क्या किया होगा? क्या उसने अपनी माँ की बात का विरोध किया होगा? या उसे कटु शब्द कहे होंगे? नहीं, आशाशाह सच्चे अर्थों में वीर माता का वीर पुत्र था। माता के प्रति उसके हृदय में अपार श्रद्धा और प्रेम था। इन सबके अलावा जो उसमें सबसे महान् गुण था, वह था विनय गुण।

माँ की चेतावनी सुनते ही वह विनयवान पुत्र उठा और अपनी माता के चरणों में नतमस्तक होकर बोला —

“आज तुमने मुझे कर्तव्य से च्युत होने से बचा लिया है माँ ! मैं इभी क्षण प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने प्राणों की भी परवाह न करके अपने भात्री राजा की रक्षा करूँगा ।”

हुआ भी यही, आशाशाह ने बड़ी सतर्कता से कुमार उदयसिंह की रक्षा की तथा उसे राजनीति आदि सभी विद्याओं में पारंगत करके बड़ा होते ही चित्तौड़ के राजसिंहासन पर बैठा दिया ।

कैसी थीं वे माताएँ ? एक ने तो अपने स्वामी के पुत्र के लिये अपने पुत्र का बलिदान किया तथा दूसरी ने अपने पुत्र को अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये प्रेरित किया । पर यह इसीलिये सम्भव हुआ कि पुत्र में बचपन से ही मातृभक्ति, आज्ञापालन एवं विनयशीलता के गुण कूट-कूट कर भरे गये थे । उसकी माता ने अपने पुत्र आशाशाह को शशावस्था से ही संस्कारी बनाया था ।

आज भी अगर मातायें चाहें तो अपने बालकों को अपनी इच्छानुसार विनयी, वीर, विद्वान् और विचारशील बना सकती हैं । एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—

“Men are what their mother made them.”

—एमसन

मनुष्य वही होते हैं जो उनकी मातायें उन्हें बनाती हैं ।

तो मैं आपको यह बता रहा था कि जिस परिवार, समाज और देश में व्यक्ति विनयवान और सहिष्णु होते हैं, वहाँ कभी कलह एवं आपसी झगड़ों का वातावरण स्थापित नहीं होता । एक देश दूसरे देश की बड़ती को देखकर प्रसन्न हो, एक समाज दूसरे समाज का सहायक बने और परिवार का एक सदस्य दूसरे सदस्य के प्रति स्नेह और नम्रता का व्यवहार रखे वहाँ कभी अशांति नहीं होती । अशांति का मूल कारण ही अविनीतता, अज्ञान और असहिष्णुता होते हैं । अतः प्रत्येक व्यक्ति को इन दुगुणों से बचने का प्रयत्न करना चाहिये ।

विनम्रता जीवन का महान् गुण है । इसमें इतनी शक्ति और आकर्षण है कि अन्य समस्त सद्गुण मिलकर भी इसका मुकाबला नहीं कर सकते तथा हृदय में इसके आते ही चुम्बक के द्वारा खींचे गये लोहे के समान सब चले आते हैं । जो व्यक्ति विनय को अपना लेता है उसे सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा उसकी आत्मा निर्मलतर बनती जाती है । विनयी पुरुष जहाँ भी जाता है,

सम्मान प्राप्त करता है तथा विद्वान् न होने पर भी सारे संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। कहा भी है—

“गर्व मे देवता दानव बन जाता है तथा विनय से मानव देवता।”

—आगस्टाइन

विचारक ने कितनी यथार्थ बात कहा है कि विनय के अभाव में अहंकार के कारण जहाँ देवता भी दानव के सदृश हो जाता है वहाँ विनय गुण से सुशो-भित मनुष्य, मनुष्य होकर भी देवता कहलाने लगता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति और साधक को अहंकार का त्याग करके विनय को अपनाना चाहिये। अगर अहंकार जीवन में प्रवेश कर गया तो फिर विनय का वहाँ रहना असम्भव हो जाएगा और उस हालत में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति तथा मोक्ष की अभिलाषा निराशा के अतल सागर में डूब जायेगी।

चिकने घड़े पर पानी

श्री उत्तराख्ययन सूत्र में बताया है कि पाँच प्रकार के व्यक्तियों को हित की शिक्षा नहीं लगती—

अहं पंचहिं ठार्णेहि, जेहिं सिबल्ला न सधमई ।

धम्भा, कोहा पमाएणं, रोगेणाएस्सएण य ॥

वे पाँच कौन-कौन से हैं ? अभिमानी, क्रोधी, प्रमादी, रोगी और आलसी। चिकने घड़े पर से बह जाने वाले जल के समान इन पाँचों प्रकार के व्यक्तियों को कितनी भी शिक्षा क्यों न दी जाय, उसका कोई असर नहीं होता। इसका कारण केवल विनय का अभाव ही होता है।

रावण अभिमानी था। उसके भाई विभीषण ने उसे बार-बार कहा—

“भो लंकेश्वर ! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते ॥”

हे लंकेश्वर ! जनकपुत्री सीता को दे दो, राम स्वयं उसकी तुमसे याचना कर रहे हैं।

किन्तु घमण्ड के मारे जिसके पैर ही पृथ्वी पर नहीं पड़ते थे, वह रावण अपने हित के लिये दी जाने वाली शिक्षा को भी कैसे ग्रहण करता, परिणाम यही हुआ कि उसे अपनी सोने की लंका के समेत नष्ट होना पड़ा।

एक जैनाचार्य ने अभिमानी व्यक्ति को मदोन्मत्त हाथी की उपमा देते हुए संस्कृत में एक बड़ा सुन्दर श्लोक लिखा है। वह इस प्रकार है—

शमालानं भंजन् विमलमति नाडिं विघटयन् ।

किरन् दुर्वाक्पाशूत्करमगणयन्नागम भृणिम् ॥

ध्रमन्नुर्व्यां स्वैरं विनय वन वीथीं विदलयन् ।

जनः कं नानर्थं जनयति मदांघो द्विप इव ॥

श्लोक में बताया गया है—‘घोर मद में छका हुआ हाथी जिस स्तंभ से बाँधा जाता है, उसे उखाड़ देता है, रस्सी तोड़ डालता है, मलिन धूल अपने ऊपर डाल लेता है तथा महावत के अंकुश की भी परवाह न करता हुआ पृथ्वी पर की समस्त वस्तुओं को रोंदते हुये इच्छानुसार यत्र-तत्र विचरण करता रहता है ।

ठीक इसी प्रकार अर्थात् मदोन्मत्त हाथी के समान ही गर्वोन्मत्त व्यक्ति भी शांति रूपी खंभे को उखाड़ देता है तथा निर्मल बुद्धि रूपी रस्सी को तोड़ डालता है । इतना ही नहीं, वह दुर्वाच्य रूपी धूल को उछालता है और आगम रूपी अंकुश की तनिक भी परवाह किये बिना विनय रूपी गलियों को रोंदता हुआ स्वतन्त्रता-पूर्वक इधर-उधर घूमता रहता है ।

अन्त में कहा है—मदोन्मत्त हाथी के समान ही अभिमान के मद में चूर हुआ व्यक्ति कौन-सा अनर्थ नहीं करता ? अर्थात् प्रत्येक प्रकार का अकरणीय कार्य वह करता है ।

एक हिन्दी कवि ने भी कहा है—

जब लग अंकुश शीश पर, तब लग निर्मल देह ।

गज अंकुश के बाहिर, सिर पर डारत सेह ॥

इसका अर्थ आप समझ ही गए होंगे कि जब तक हाथी अंकुश में रहता है, उसकी देह निर्मल बनी रहती है । किन्तु जैसे ही वह मद में चूर होकर अंकुश के बाहर हो जाता है, अपने मस्तक पर सूँड़ से धूल डाल लेता है और शरीर को मलिन बना लेता है ।

तो अभिमानी व्यक्ति के लिये मदोन्मत्त हाथी की उपमा बिलकुल यथार्थ है । मिथ्यात्व एवं अभिमान के नशे में चूर हुआ प्राणी आगम रूपी अंकुश को नहीं मानता तथा शास्त्रीय वाणी को हेय समझता है । आज के युग में अवधि ज्ञानी, मनःपर्याय ज्ञानी, केवलज्ञानी या गणधर कोई भी उपलब्ध नहीं होते अतः शास्त्र ही हमारे लिये अंकुश का काम करते हैं । शास्त्रों के सहारे से ही मनुष्य चाहे तो अपनी दुर्भावनाओं का नाश कर सकता है तथा आत्मा में रही हुई त्रुटियों को सुधार सकता है । किन्तु जिसे अपने धन-वैभव का अथवा अपने ज्ञान का अहंकार है वह तो शास्त्रों की, गुरुओं की तथा सत-जनों की, किसी की भी परवाह नहीं करता तथा सबका तिरस्कार एवं अपमान करने के लिये कटु-वचन रूपी रेत को उछालता है । उसके ऐसे अकरणीय व्यवहार से अभिमान तो अपना मस्तक उठा लेता है किन्तु विनय गुण जो कि अत्यन्त कीमल होता है, वह दब जाता है । किन्तु क्या अभिमान सदा ही अपना मस्तक ऊँचा करके चल सकता है ? नहीं, एक दिन उसे बुरी तरह अपमानित होकर नीचे गिरना पड़ता है ।

गर्व खर्व

वैष्णव ग्रन्थों में एक उदाहरण आता है। नमुचि नामक एक दैत्य था। वह बड़ा शक्तिशाली और प्रतापी था। अपनी शक्ति के अभिमानवश उसने घोर तपस्या करके ब्रह्मा से यह वरदान भी प्राप्त कर लिया कि 'मैं न किसी अस्त्र-शास्त्र से मरूँ, न किसी शुष्क या आद्र पदार्थ से ही मरूँ।'।

यह वरदान प्राप्त कर लेने के बाद तो उसके गर्व का पूछना ही क्या था? निरंकुश होकर वह अन्व प्राणियों पर घोर अत्याचार करने लगा। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई।

कुछ समय पश्चात् देवासुर संग्राम छिड़ा और नमुचि ने देवताओं के भी छक्के छुड़ा दिये। वरदान प्राप्त होने के कारण मरता भी वह किसी से नहीं था। इन्द्र का वज्र भी उसके सामने असफल हो गया। किन्तु उसके पाप का बड़ा भर गया था और उसका मान-मदन भी होना था अतः आकाशवाणी हुई "कि यह अस्त्र-शास्त्र से नहीं मरेगा। इसे समुद्र के फेन से मारो!"

ऐसा ही किया गया और वह महाप्रतापी दैत्य अपने अभिमान के कारण समुद्र के फेन द्वारा बुरी तरह से मारा गया। वास्तव में ही अहंकार व्यक्ति को कभी न कभी नीचा देखना ही पड़ता है। जैसा कि कहा जाता है—

सर नहीं ऊँचा कभी रहते सुना अभिमान का।

अपने ऊपर ही है पड़ता, थूका हुआ आसमान का।

घमंड के मारे कोई व्यक्ति अगर आसमान पर थूकना चाहे तो क्या वह इसमें सफल होगा? नहीं, उसका थूक उसी के चेहरे को गंदा करेगा। इसलिये अभिमान करना वृथा है साथ ही आत्मा की उन्नति में बाधक भी है। कारण यही है कि उसके रहते आत्मा में विनय गुण नहीं टिकता और विनय के न रहने पर ज्ञान-प्राप्ति संभव नहीं होती।

प्रत्येक व्यक्ति को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि इस विराट विश्व में एक से एक बढ़कर सम्पत्तिशाली, यशस्वी एवं सौन्दर्यशाली पुरुष विद्यमान हैं। फिर वह किस बूते पर अभिमान करता है? मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ ये गर्वोक्तियाँ ही उसे एक दिन ले डूबती हैं।

एक कवि ने सदा मैं मैं करने वाले बकरे का दृष्टान्त देकर इस 'मैं' से होने वाले अनर्थ का बड़ा मार्मिक चित्र खींचा है। कवि ने कहा है—

फखर बकरे ने किया मेरे सिवा कोई नहीं।

मैं ही मैं हूँ इस जहाँ में दूसरा कोई नहीं ॥

जब न छोड़ी 'मैं-मैं' बे माया ओ बे-अमवाब ने।

फेर दी गर्दन पै तंग आके छुरी जल्लाब ने ॥

गोश्त, हड्डी और चमड़ा जो था जिस्मे जार में ।
 कुछ पका कुछ बिक गया कुछ फिक गया बाजार में ॥
 अब रही आँतें फकत मैं-मैं सुनाने के लिये ।
 ले गया नहाफ उन्हें धुनकी बनाने के लिए ॥
 ताँत पर पर पड़ने लगी चोटें तो घबराने लगी ।
 मैं के बदले तू ही तू की फिर सदा आने लगी ॥

पद्य की भाषा सरल और सीदी-सादी है अतः आप समझ ही गए होंगे कि बकरे के मैं-मैं शब्द ने उसकी कितनी दुर्दशा करवाई । ध्यान में रखने की बात है कि बकरे का उदाहरण कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता । किन्तु उसकी दुर्गति के पीछे छिपा हुआ मार्मिक रहस्य समझने की बात है । अहंकारी मनुष्य का अहंकार इसी प्रकार उसकी नाना प्रकार से दुर्गति का कारण बनता है ।

विनयनाशक क्रोध

क्रोध भी मानव जीवन के लिये महा अनर्थकारी होता है । इसीलिये गाथा में कहा गया है कि क्रोधी को भी हित शिक्षा संचिकर नहीं लगती ।

क्रोध एक ऐसा आवेश होता है, जिसके आ जाने पर मनुष्य को भान नहीं रहता कि वह करणीय कर रहा है या अकरणीय । इसके आधीन होकर मनुष्य मरने-मारने के लिये भी तैयार हो जाता है । वैसे हम देखते हैं कि संसार के प्रत्येक प्राणी को प्राण कितने प्रिय होते हैं, किसी भी कीमत पर वह उसी खोना नहीं चाहता । किन्तु क्रोधावेश में उसी अमूल्य प्राण को क्षण भर में ही नष्ट कर देता है ।

अभी-अभी हमने अहंकार की भयानकता के विषय में विचार किया था । किन्तु क्रोध उससे भी अधिक भयंकर साबित होता है । क्योंकि अहंकार तो मनुष्य की धीरे-धीरे दुर्दशा करता है किन्तु क्रोध तो जिस क्षण हृदय में उत्पन्न होता है उसी क्षण से प्राणी का अहित करने लगता है ।

एक श्लोक में कहा भी गया—

उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वयाश्रयम् ।

क्रोध कृशानुवत्पश्चादन्यं दहति वा न वा ॥

अर्थात्—क्रोध जब उत्पन्न होता है तो उसी समय से अपने आश्रय स्थान यानी अन्तःकरण को अग्नि की तरह जलाने लगता है । उसके पश्चात् अन्य को तो वह जलाये या न भी जलाये ।

इस कथन का आशय यही है कि क्रोध करने वाले व्यक्ति के द्वारा दूसरों की हानि तो हो पाए या नहीं किन्तु उसकी स्वयं की हानि तो तुरन्त ही होने लग जाती है ।

वस्तुतः क्रोध एक प्रचण्ड अग्नि है, जो मनुष्य इस अग्नि को वश में कर

लेगा या उसको बुझा देगा वह सुखी रहेगा। किन्तु जो मनुष्य इस क्रोधाग्नि को अपने वश में नहीं कर सकता, वह अपने आप को भष्म कर लेगा। क्रोध से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि इसके कारण वैर का जन्म होता है और उस स्थिति में मनुष्य सद्गुणों का संचय एवं ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करना तो दूर केवल अपने दुश्मन से बदला लेने की उधेड़बुन में ही पड़ा रहता है। और कभी-कभी तो वह वैर जीवन के अन्त तक भी समाप्त नहीं होता तथा अगले जन्मों में भी नाच नचाता रहता है। हम आगमों का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि किसी प्रकार वैर जन्म-जन्म तक चलता है तथा महान् कर्म-बन्धन का कारण बनता है।

पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने क्रोध से होने वाली हानि का बड़ा मर्म-स्पर्शी चित्र खींचा है —

कर क्रोध जीव जलते हैं, और जलाते,
हो अहंकार में चूर क्रूर बन जाते।

नन्दन कानन में इसने आग लगाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी।

कितनी सुन्दर चेतावनी है? कहा है— 'अरे मुक्ति के अभिलाषी भोले प्राणी! तू क्रोध से दूर रह, क्योंकि जो जीव अहंकार में चूर होकर क्रूर बन जाते हैं तथा क्रोध के वश हो जाते हैं वे स्वयं भी क्रोधाग्नि में जलते हैं तथा औरों को भी जलाते हैं। यह क्रोध ही आत्मा में रहे हुए सद्गुण रूपी सुन्दर बगीचे में आग लगाता है अतः इससे दूर रहकर कर्मों के आस्रव को रोक!' "

कवि ने आगे क्रोध को कम करने का उपाय भी बताया है। वह इस प्रकार है—

होकर समर्थ जो क्षमा-भाव दिखलाते।

अपराधी पर भी क्रोध न मन में लाते ॥

समता के सागर में जो नित्य नहाते।

भव-सागर को वे शीघ्र पार कर जाते ॥

उपशान्त भाव शाश्वत अनन्त सुखदायी।

कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुदायी ॥

वह है — जो भय्य प्राणी अपनी हानि करने वाले अपराधी पर भी क्रोध न करके उसे क्षमा करने में समर्थ हो जाते हैं तथा सम-भाव के सुखद सागर में अवगाहन करते हैं वे भव-समुद्र को शीघ्रातिशीघ्र पार कर लेते हैं। उप-शमन भाव आत्मा को अनन्त एवं शाश्वत सुख की प्राप्ति कराते हैं। अतएव हे मुमुक्षु प्राणी! तू आस्रव को रोक तथा कषायों पर विजय प्राप्त कर। कषाय आत्मिक गुणों को नष्ट करते हैं अतएव आत्म-हर्तृषी प्राणी को इनका सर्वथा

त्याग करके अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिए ताकि उसमें शांति, सहिष्णुता, संतोष, सद्भावना आदि गुण पनप सकें तथा वह निरन्तर उन्नति-पथ पर बढ़ सके ।

प्रमाद का कुपरिणाम

अब आती है गाथा में कही गई तीसरी बात । वह यह है कि प्रमादी व्यक्ति को भी हित-शिक्षा नहीं भाती । जब जीवन में प्रमाद छा जाता है तो प्राणी यह नहीं समझ पाता कि उसके लिये हेप कौन-सी वस्तु है और उगादेय कौन-सी । अज्ञान का आवरण उसकी बुद्धि को कुंठित कर देता है तथा ज्ञान गुण को पनपाने नहीं देता । अज्ञान का अंधकार उसके मन पर छाया रहता है और उसके कारण वह सही मार्ग कभी नहीं खोज पाता ।

प्रमादी पुरुष के हृदय में एक ऐसी जड़ता घर कर जाती है कि उसकी रुचि किसी भी शुभ-क्रिया के करने में नहीं रहती । वह मूढ़ व्यक्ति ज्ञान के अभाव में यह भी नहीं समझ पाता कि कौन-सी क्रिया उसे शुभ फल प्रदान करेगी, और कौन-सी अशुभ फल का कारण बनेगी ? उसका अधिक से अधिक समय किकर्तव्यविमूढ़ता में नष्ट होता है क्योंकि प्रमाद एक तन्द्रा है और उसमें पड़ा हुआ मनुष्य न जागता हुआ-सा लगता है और न सोता हुआ सा ही । उसके हृदय में कभी ज्ञान का दीप नहीं जल पाता और न ही उत्साह की एक भी किरण प्रस्फुटित होती है । इस भावना के शिकार व्यक्ति न भौतिक क्षेत्र में विकास कर पाते हैं और न आध्यात्मिक क्षेत्र में ही बढ़ते हैं । उनका सम्पूर्ण जीवन मोह-निद्रा में व्यतीत हो जाता है । कभी वह नहीं विचार पाता कि यह मानव-पर्याय उसे बड़ी कठिनाई से मिली है और अब अगर व्यर्थ चली गई तो पुनः प्राप्त होना दुर्लभ हो जाएगा ।

ऐसे व्यक्तियों को महापुरुष बार-बार सावधान करने का प्रयत्न करते हैं तथा पुनः-पुनः चेतावनी देते हुए कहते हैं —

महामोह नींद में अनादिकाल चिदानन्द ।

सूतो है निःशंक निज सुधि सबही विसार ॥

विषय-कषाय राग-द्वेष ओ प्रमाद वश ।

करम कमाय भव संकट सहे अपार ॥

घट में अनंत रिद्ध राजे पे लुकाय रही ।

परख न कीनी कभी ज्ञान नेन से निहार ॥

कहे अभीरिख जाग त्याग मोह नींद अब ।

देख निज रूप को निवारि के मिथ्यांधकार ॥

कवि ने उद्बोधन दिया है—“अरे चेतन ! तू अपने आपको भूलकर अन दि-काल से महा मोह की इस नींद में तिथित होकर सोया हुआ है तथा विषय-

विकार, राग-द्वेष और प्रमाद के वश में होकर असंख्य कर्मों का उपार्जन करता हुआ घोर कष्ट सह रहा है।”

“तूने कभी भी अपने ज्ञान-रूपी नेत्रों को खोलकर नहीं देखा कि तेरी आत्मा में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की कैसी अमूल्य और अपार निधि छिपी हुई है।”

प्रौढ़ कवि मुनि श्री अमोहवि जी महाराज कहते हैं—“कम से कम अब तो तू अज्ञान और मिथ्यात्व के अंधकार से निकलकर ज्ञान के प्रकाश में आ, तथा इस मोह-निद्रा का त्याग करके आत्म-स्वरूप की पहचान कर ! तुझे सोये हुए तो अनादिकाल हो गया, अब जाग और अपने सत्-चित् ज्ञानन्मय रूप का अवलोकन कर !”

बंधुओ, वास्तव में ही प्रमादावस्था आत्मोन्नति के लिए घातक विष का काम करती है तथा इस दुर्लभ मानव जीवन को निरर्थक बनाकर छोड़ती है। अतएव इसका त्याग करके प्राणी को महापुरुषों की चेतवनी और हित-शिक्षा पर ध्यान देते हुए सजग होने का प्रयत्न करना चाहिये।

उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा में आगे बताया गया है कि रोगी एवं आलसी व्यक्ति को भी उसके हित के लिए दी हुई शिक्षा फलदायक नहीं हो पाती। रोग दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और मानसिक। दोनों ही प्रकार के रोगी अपने शरीर की चिन्ता में घुलते रहते हैं। अपनी देह की चिकित्सा के अलावा उन्हें और कोई विचार नहीं आता। रोगों का तो शरीर से सीधा सम्बन्ध है ही अतः शरीर की चिन्ता स्वाभाविक है किन्तु मन के रोग जो विषय-वासानाएँ आदि हैं उनकी तृप्ति भी शरीर के स्वस्थ रहने पर होती है। अतः इन रोगों का रोगी भी सदा अपने शरीर की ही परवाह और चिन्ता करता रहता है। परिणाम यह होता है कि उसे आत्मा की निरोगता और उसकी शुद्धि के चिन्तन के लिये समय ही नहीं मिल पाता।

दूबरे जब तक शरीर स्वस्थ नहीं रहता मन भी अस्वस्थ रहता है और मन के अस्वस्थ रहने पर आत्म-साधना हो भी कैसे सकती है? इसलिये इन रोगों का रोगी हिन शिक्षा में रुचि नहीं ले पाता। अब नम्बर आता है आलसी व्यक्ति का। आलसी व्यक्ति भी जिनागम, जिनवाणी अथवा महापुरुषों के द्वारा दिये गए सद्गुणदेशों से कोई लाभ नहीं उठता।

बरसों जीना है अभी तो

आलस्य मनुष्य के शरीर में रहने वाला उसका सबसे बड़ा वैरी कहा जा सकता है। जिसके जीवन में यह घर कर जाता है, उसे कहीं का नहीं रखता।

आलसी व्यक्ति किसी भी काम को समय पर नहीं करता तथा सर्वदा अगली बार करने के लिये रख छोड़ता है। उसका मूल मन्त्र ही यह होता है—

आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों।

इतनी जल्दी क्यों करता है, अभी तो जीना बरसों ॥

तो, बरसों जीना है, यह विचार कर आलसी व्यक्ति ऐश-आराम और भोगोपभोग में ही अपने जीवन का बहुमूल्य समय व्यतीत करता चला जाता है। वह भूल जाता है कि मीत तो उसके जन्म लेने के समय से ही उसे ले जाने की ताक में रहती है और मौका पाने ही ले भागती है। एक पंजाबी कवि ने कहा भी है—

इधर उड़के मोत पई तँनूँ गावे काल तराना।

तूँ फसया मोह माया अन्दर होके मस्त दीवाना ॥

तन है किधरे मन है किधरे, उलझे किधरे बाणी।

मानुष भव अनमोल की तूँ कवर न जानी ॥

पद्य में कहा गया है—“अरे नासमझ प्राणी ! इधर तो मृत्यु तेरी राह देख रही है और काल तराने गा-गाकर प्रसन्न हो रहा है। और उधर तू मूर्ख बनकर मोह-माया में मस्त हो रहा है तथा बरसों तक जीने के स्वाव देख रहा है। तेरा तन, मन और बचन किधर उलझे हुए हैं ? लगता है कि तुझे इस अमूल्य मनुष्य-जन्म की तनिक भी कदर नहीं है।

वस्तुतः आलस्य के समान मनुष्य को अकर्मण्य बनाने वाला अन्य कोई भी दुर्गुण नहीं है। यह मन और शरीर दोनों को ही निकम्मा बना देता है तथा व्यक्ति पुरुषार्थ हीन होकर रह जाता है। परिणाम यह होता है कि वह कल करूँगा, परसों करूँगा या युवावस्था का आनन्द उठा लेने के पश्चात् वृद्धावस्था में करूँगा, ऐसा सोचते-सोचते ही एक दिन यहाँ से प्रयाण कर जाता है और परलोक में साथ ले जाने के लिए कुछ भी पूँजी एकत्रित नहीं कर पाता।

कार्लाइडन नामक एक विद्वान् ने भी यही कहा है—

“In idleness alone there is perpetual despair.”

आलस्य में ही सान्त्वितिक निराशा रहती है।

इस कथन से स्पष्ट जाना जाता है कि आलसी व्यक्ति जीवन में कभी सफलता का मुँह नहीं देख पाता। उसके शरीर की जड़ता का परिणाम उसकी आत्मा को भोगना पड़ता है। क्योंकि आलस्य के कारण ही वह अपनी आत्मा की उन्नति के लिए कोई शुभ क्रिया करने में समर्थ नहीं हो पाता।

हितोपदेश में एक श्लोक दिया गया है। उसमें भी कहा गया है कि प्रत्येक प्रकार की उन्नति में छः कारण बाधक बनते हैं। वे कारण ये हैं—

आलस्यं स्त्री सेवा, सरोगता जन्मभूमि वात्सल्यम् ।

संतोषो भीरुत्वं षड्व्याघाता महत्त्वस्य ॥

आलस्य, स्त्री की सेवा, रोगी रहना, जन्मभूमि का स्नेह, संतोष और डरपोकन ये छः बातें उन्नति के लिए बाधक हैं।

वस्तुतः इस संसार में आलस्य के समान अन्य कोई भी भयंकर पाप नहीं है। इसके वश में हुआ प्राणी इहलोक और परलोक दोनों ही ओर से जाता है। इसलिये इसका सर्वथा त्याग करना ही उचित है।

तो आपने समझ लिया होगा कि अभिमानी, क्रोधी, प्रमादी, रोगी और अलसी व्यक्ति किस प्रकार अपने जीवन को निष्फल बनाते हैं तथा मनुष्य जन्म पाकर भी उसका कोई लाभ नहीं उठाते। हमें इन सब बातों से शिक्षा लेकर अपने जीवन को इन दुर्गुणों से बचाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा मनुष्य जन्म-रूपी इस दुर्लभ अवसर के एक-एक क्षण का लाभ उठाते हुए आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होना चाहिये। अन्यथा तो यह जीवन पाकर भी हमने धर्म साधना नहीं की और पुण्य-संचय न कर पाया तो यह चाहे जितनी लम्बी उम्र पाकर भी उसे न पाया हुआ ही मानना पड़ेगा। यह दुर्लभ जिन्दगी मिलकर भी न मिली के बराबर हो ज एगी।

पूज्यपाद श्री अमीरखि जी महाराज ने भी बड़े सुन्दर ढंग से कई उदाहरण देते हुए कहा है—

ऊसर मेह कुपात्र स्नेह,

जुआरी को धन भयो न भयो ज्यों।

जार को सुख व छार पं लीपन,

मूढ़ से कूड़ किधो न कियो ज्यों ॥

मूरख मीत लबार को सीख,

अनीति को राज कियो न कियो ज्यों।

साँच बिचार अमीरिख धर्म,

बिना छुग कोटि जियो न जियो ज्यों ॥

ऊसर अर्थात् बंजर भूमि पर बरसा हुआ मेह, कुपात्र से किया हुआ स्नेह तथा जुआरी के पास आया हुआ धन, जैसा हुआ न हुआ बराबर है। उसी प्रकार अनुचित सम्बन्ध रखने वाले प्रेमी से प्राप्त सुख, राख के ऊपर लीपना तथा मूढ़ व्यक्ति से की गई गूढ़ बातें भी न की जाने के समान ही हैं। इसके साथ ही मूर्ख व्यक्ति को मित्र मनाना, झूठे को शिक्षा देना तथा अनीतिपूर्वक

राज्य करना, जिस प्रकार नहीं करने के समान है, उसी प्रकार अगर सही ढंग से सोचा जाय तो धर्म के अभाव में करोड़ युग तक भी मनुष्य जिये तो उसके लिए न जीने के बराबर ही है।

धर्म का कितना बड़ा महत्त्व बताया गया है? और यह यथार्थ भी है कि धर्म के अभाव में जीवन, जीवन ही नहीं है। उसका वह जीवन पशु के समान है।

तो बंधुओं, हमें अगर मनुष्य-जीवन का लाभ उठाना है तो धर्म को जीवन में अवश्य ही स्थान देना चाहिए। और धर्म की स्थापना हृदय में तभी हो सकेगी, जबकि हम सर्वप्रथम विनय गुण को अपनाकर सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति करेंगे। विनय, गुण ही ज्ञान-प्राप्ति में सहायक बनेगा तथा ज्ञान सहित धर्म की आराधना हमें अभीष्ट फल 'मोक्ष' की प्राप्ति करा सकेगी। ★



८

तपो हि परमं श्रेयः

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

श्री उत्तराख्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय की पच्चीसवीं गाथा का वर्णन चल रहा है। कल हमने ज्ञान-प्राप्ति के छोटे कारण विनय के विषय में वर्णन किया था। आज सातवें कारण को लेना है। ज्ञान वृद्धि का सातवाँ कारण है—कपट रहित तप करना।

तप का माहात्म्य

हमारे जन्मागमों में तप की बड़ी भारी महिमा बताई गई है। जैनाचार्यों ने आत्म-शुद्धि के लिये अनेक मार्गों की गवेषणा की है किन्तु उनमें से सर्वप्रधान मार्ग तपश्चरण को माना गया है। तप दो प्रकार का है—आंतरिक और बाह्य। जैनशास्त्रों में इन दोनों का जो विस्तृत एवं व्यापक वर्णन दिया गया है, उसे देखते हुए स्पष्ट कहा जा सकता है कि जब तक साधक अपने जीवन को पूर्ण तपोमय नहीं बना लेता, तब तक आत्म-शुद्धि और आत्म-साक्षात्कार का उसका सर्वोच्च ध्येय सफल नहीं हो सकता।

मनुस्मृति में भी तप का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है—

“तपसा किल्बिषं हन्ति।”

तप के द्वारा पापों का नाश होता है तथा असत् प्रवृत्तियों के स्थान पर सत् प्रवृत्तियाँ स्थापित होती हैं।

जिस प्रकार घोबी मलिन वस्त्रों को साबुन अथवा सोडे से स्वच्छ कर लेता है, उसी प्रकार साधक अपने तप के बल पर आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध और निर्मल बना लेता है। तपस्या का तेज बड़ा प्रखर होता है और वह उसी प्रकार आत्मा की सम्पूर्ण कालिमा को भस्म करके उसे दीदीप्यमान बना देता है, जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण को तपाकर निकल्लुष एवं कांतियुक्त बना देती है।

तप की महत्ता का जितना भी वर्णन किया जाये, थोड़ा है, क्योंकि उसके द्वारा इस विराट विश्व की कोई भी सिद्धि असाध्य नहीं रह जाती। एक श्लोक यही बात कहता है—

यद् दूरं यद् दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यबस्थितम् ।

तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

जो वस्तु अत्यन्त दूर की जान पड़ती है, जिसकी आराधना करना अत्यन्त कठिन है, जो इतनी ऊँचाई पर है कि हमारे बल-बूते की नहीं मालूम होती, वह भी तपश्चरण के बल पर सहज साध्य बन जाती है।

तप के द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। इसका प्रभाव साध्य-प्राप्ति में आने वाली प्रबल बाधाओं को भी पलक झपकते ही नष्ट कर सकता है तथा देव-दानवादि सभी को अपना आज्ञानुवर्ती दास बना सकता है। मन और इन्द्रियों की समस्त उच्छृंखलताओं को दूर करके एकमात्र तप ही आत्मा को निर्मल और विशुद्ध बना सकता है तथा उसे कर्म-बन्धनों से छुटकारा दिला सकता है। तप के अभाव में साधक कभी भी अपनी साधना में सफल नहीं हो सकता तथा मानव-जीवन का लाभ नहीं उठा सकता। कहा भी है—

अध्रुवे हि शरीरे यो, न करोति तपोऽर्जनम् ।

सपश्चात्सप्यते मूढो, मृतो गत्वात्मनो गतिम् ॥

यह शरीर क्षणभंगुर है; इसमें रहते हुये जो जीव तप का उपाजन नहीं करता, वह मूर्ख मरने के बाद, जब उसे अपने दुष्कर्मों का फल मिलता है, बहुत पश्चात्ताप करता है।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि तप की महिमा अपरंपार है और भव्य प्राणी तप के द्वारा ही पापों की निर्जरा करके अपने चारित्र्य को उज्ज्वल बनाता हुआ अपने सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त कर सकता है।

तपस्या कैसे हो ?

हमने तपस्या के महत्त्व को समझा है और जाना है कि तपस्या के बल पर ही आत्मा तपाये हुये सुवर्ण के सदृश निर्मल, निष्कलुष एवं दैदीप्यमान बन सकती है।

आप कहेंगे कि 'तपस्या तो हम लोग खूब करते हैं और हमारी बहनें तो इस कार्य में हमसे भी पचास कदम आगे हैं। प्रत्येक चातुर्मास में सैंकड़ों उपवास, बेले, तेले, अठाइयाँ और मासखमण अर्थात् एक-एक महीने की तपस्या भी वे कर जाती हैं।'।

मैं भी इस बात को मानता हूँ और जानता हूँ कि आप लोग तपस्या करते हैं। किन्तु बंधुओं! तपस्या करके भूखे रहने के साथ-साथ मन की भावनाएँ भी जितनी पवित्र, दृढ़ और विशुद्ध रहनी चाहिये, क्या वैसी ही आपकी रहती हैं ?

आप जानते ही होंगे कि भावनाओं की लीला बड़ी जबर्दस्त है। उनमें थोड़ा-सा हेर-फेर भी परिणाम में इतना महान् परिवर्तन ला देता है कि उस पर सहज ही विश्वास नहीं हो पाता। यह एक अकाट्य सत्य भी है। भावनाओं के उतार और चढ़ाव से जीव आधे क्षण में सातवें नरक का और अगले आधे क्षण में ही मोक्ष का बंध भी कर लेता है। तो ऐसी नाजुक भावनाओं को क्या आप अपने नियंत्रण में रख पाते हैं? अनेक व्यक्ति कहते हैं—“महाराज, शास्त्रों में पढ़ते हैं कि प्राचीनकाल में तो बेले और तेले की तपस्या करने पर ही तपस्या करने वाले की सेवा में देवता आ उपस्थित होते हैं किन्तु आज तो महीने भर की ही क्या दो-दो महीने की तपस्या कर लेने पर भी देवता का दूत भी पास में नहीं फटकता।”

सुनकर हँसी आ जाती है पर इसका उत्तर मैं समझता हूँ कि आपको दे चुका हूँ और वह यही है कि तपस्या के साथ-साथ दृढ़ आत्म-शक्ति, भावनाओं की प्रबलता एवं चित्तन की अटूट एकाग्रता ही इसका कारण है। आज यह बात कद-पि संभव नहीं है कि आप अपनी तपस्या के साथ अपनी भावनाओं को भी वैसी दृढ़ता से संयमित रख सकें। उपवास आदि में तो क्या, एक सामायिक के काल में भी आपका मन स्थिर नहीं रह पाता। सामायिक लेकर व्याख्यान सुनते हैं उस समय भी आपकी निगाह प्रत्येक आने वाले की ओर फौरन उठ जाती है तथा मन तो प्रवचन-स्थल में भी नहीं रह पाता। वह कभी बाजार, कभी घर और कभी बसों तथा ट्रेनों में सफर करता रहता है। एक मिनट भी वह एक स्थान पर आत्माभिमुख होकर नहीं रहता फिर देवताओं के आने की आशा आप किस बूते पर कहते हैं?

तो अब यही बतलाना चाहता हूँ कि तपस्या कैसी करनी चाहिये? और कैसी तपस्या करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है जो मुक्ति का कारण बन सकता है। हमारा आज का विषय यही है कि तप करने से ज्ञान बढ़ता है। किन्तु कैसा तप? उत्तर है—कपट रहित तप किया जाये तो ज्ञान की प्राप्ति होती है। कपट किसे कहते हैं?

शास्त्रीय दृष्टि से कपट तीसरा कषाय है। हम कपट करें या माया, एक ही अर्थ का सूचक है। माया शब्द के भी कई अर्थ हैं। यथा—माया यानी मोह-जाल। मरठी भाषा में माया को प्रेम कहते हैं और कपट तो हम कह ही चुके हैं। किसी घोर तपस्वी अथवा अरण्यक एवं कामदेव श्रावक जैसे को अपने धर्म से डिगाने के लिये देवता पिशाच आदि के रूप में आएँ और उन्हें भयभीत करने के लिये नाना-प्रकार के झूठे दृश्य उन्हीं दिखाएँ। वह सब उनकी माया या कपट ही कहा जाएगा। सती सीता का हरण करने के लिये रावण रूप बदलकर आया वह भी कपट था।

वास्तव में, जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी न दिखाकर भिन्न-भिन्न रूप में दिखाना यह माया या कपट की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार त्याग, भक्ति, तप एवं संयम की क्रियाओं में मनुष्य अपनी आंतरिक भावनाओं को छिपाकर दिखाने के लिये उनसे उलटी क्रियाएँ करता है तो वह कपट कहा जाता है। जैसे-मन में आदर और श्रद्धा न होते हुए भी उन्हें प्रदर्शित करने के लिये गुरु को नमस्कार करना अथवा भगवान् के अस्तित्व में सन्देह रखते हुये भी लोगों की दृष्टि में धर्मात्मा कहलाने के लिये पूजा-अर्चना करना।

ऐसी क्रियाओं से साधक को उनका उत्तम फल कदापि नहीं मिलता, उलटे कुफल भुगतना पड़ता है।

कपट भगवान् को भी नहीं छोड़ता

भगवान् मल्लिनाथ के जीव ने पूर्व भव में अपने छः मित्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। सातों मित्रों ने आपस में तय किया था कि हम समान करणी करेंगे ताकि सभी को समान फल मिले।

किन्तु दीक्षा लेने के पश्चात् महाबल मुनि के हृदय की भावनार्यें बदल गईं और उनके हृदय में कपट का उदय हुआ। कपट के कारण उन्होंने अपने मित्रों से किये हुए वादे को तोड़ डाला और विचार किया—

“मैं सांसारिक अवस्था में बड़ा भारी राजा था और अब साधुपना लेकर भी गुरु हूँ। ये सब मेरे शिष्य और छोटे हैं, तो क्यों न मैं चुपचाप इनसे बढ़कर करनी करूँ कि आगे जाकर भी बड़ा ही बना रहूँ।”

इस विचार के साथ ही भगवान् मल्लिनाथ ने महाबल मुनि के भव में उत्कृष्ट तप एवं ज्ञान, ध्यान-संयमादि की उत्तम क्रियाएँ कीं। फल यह हुआ कि उत्कृष्ट तपादि क्रियाओं का फल तो उन्हें मिला अर्थात् बड़प्पन तो मिला गया किन्तु करणी में कपट रखने के कारण स्त्री गोत्र का बंध हो गया।

कहने का अभिप्राय यही है कि कोई भी शुभ क्रिया करने पर उसका फल तो अवश्य मिलता है किन्तु उसमें किसी प्रकार का कपट रखा जाये तो उसका बुरा परिणाम भी भोगना पड़ता है। की हुई कोई क्रिया निष्फल नहीं जाती इस विषय में एक कवि ने कहा है—

वृक्ष निष्फल और बन्ध्या नारी,

कोई कर्म योग रह जाये रे।

बया बान फल-फल जाण कभी, निष्फल नहीं जाये रे !

बान नित करजो रे !

कवि का कथन है—प्रत्येक वृक्ष के लिये प्राकृतिक नियम है कि वह फल प्रदान करे और होता भी ऐसा ही है कि प्रत्येक वृक्ष किसी न किसी प्रकार

का फल देता है। किन्तु कमबश कोई वृक्ष ऐसा भी रह जाता है जो कि किसी प्रकार का फल नहीं देता।

इसी प्रकार स्त्री जाति संतान प्रसव करती है, किन्तु पूर्व कर्मों के फल-स्वरूप कोई-कोई बन्ध्या भी रह जाती है अर्थात् वह किसी भी संतान को जन्म नहीं दे पाती।

तो पद्य में बताया है कि भाग्य-योग से कोई वृक्ष निष्फल रह सकता है और स्त्री भी बन्ध्या हो सकती है किन्तु दया और दान आदि की शुभ क्रियाएँ कभी भी निष्फल नहीं जातीं। उनका फल तो निश्चय ही मिलता है पर उनमें कपट होने से जैसा मिलना चाहिये वैसा नहीं मिल पाता।

ठाणांग सूत्र में बताया गया है कि मुनि को बयालीस दोषों को ध्यान में रखकर और उनसे बचकर आहार-पानी आदि लेना चाहिये। इससे उनकी बुद्धि निर्मल रहेगी। अगर वे ऐसा नहीं करेंगे अर्थात् बयालीस दोषों में से किन्हीं दोषों को अनदेखा करके यानी कपट रखकर आहार-जल ले लेंगे तो उनकी बुद्धि में मलिनता आ जायेगी। बुद्धि की मलिनता से तात्पर्य यही है कि बुद्धि के फल, ज्ञान में कमी आना अथवा उसमें विकृत हो जाना; तो यह कपट का ही परिणाम है। कपट करने पर उसका फल मिलना अवश्यभावी है।

पूज्यवाद श्री अमीश्रुपि जी महाराज ने एक सियार और ऊँट का मनो-रंजक उदाहरण देकर कपट के कुपरिणाम को समझाया है। उदाहरण पश्चमय है और इस प्रकार कहा गया है—

श्याल कहे ऊँट मामा, चालो न चणा के खेत,
कपट न जाण्यो ऊँट संग ही सिधावे है।
श्याल कहे आधा खेत बीच में पधारो प्यों नी,
श्याल ऊँट बोनो आछे चूँट-चूँट खावे हैं।
जंबुक भरयो पेट खेत धनी आयो जाणो,
बोत्यो मामा मोय तो भूकण वाय आवे है।
ऊँट की न मानी श्याल भूक के गयो है भाग,
साठी पथरा की मार ऊँट मामा खावे है।

एक सियार ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि करने के लिये ऊँट से दोस्ती की और उसे अपना मामा बना लिया। ऊँट बेचारा, सीधा-साधा था अतः उसने सियार से भानजे का रिश्ता मान लिया।

एक दिन सियार ऊँट के पास आकर बोला—“मामा ! आजकल चने की फसल आई हुई है, खूब हरे-भरे खेत हैं और उनमें चने पक गये हैं। चलो न, आज किसी चने के खेत में चलें। आनन्द से पेट भरकर लौट आएँगे।”

ऊँट भोला था। उसके दिमाग में उसके शरीर के अनुरूप बुद्धि नहीं थी अतः सियार के साथ हो लिया। दोनों खेत में आए और चने खाने लगे। ऊँट

किनारे पर ही खा रहा था पर धूर्त सियार उससे बोला—“यह क्या मामा ? किनारे पर तो सब पेड़ खाए हुए और खाली हैं, खेत के बीच में चलो ! असली आनन्द चने खाने का वहीं आएगा ।” भानजे की प्रेरणा से मामा जी खेत के बीच में पहुँच गए और चने खाने लगे ।

थोड़ी ही बेर में सियार का पेट भर गया क्योंकि उसका पेट छोटा था, किंतु ऊँट का कैसे भरता अतः वह खाता रहा । सियार के मन में कुटिलता तो थी ही, मन में कपट रखकर ही वह ऊँट को लाया था अतएव बोला—

“मामाजी! मेरी आदत है कि मुझे खाने के बाद भौंकनी आती है अर्थात् भौंकने की इच्छा हो जाती है । इसीलिए मैं तो भौंकता हूँ ।”

ऊँट ने घबराकर कहा—“भाई चित्तलाने की कौन-सी जरूरत आ पड़ी है ? तुम चित्तलाओ मत, चुप रहो । अन्यथा लोग मुझे पकड़ कर मारेंगे ।”

यही तो सियार चाहना था । उसने जोर-जोर से हुआँ-हुआँ करके चीखना शुरू किया और कुछ मिनटों के पश्चात् वहाँ से नौ-दो ग्यारह हो गया । सियार की आवाज सुनते ही खेत का मालिक दौड़कर आया और ऊँट को पकड़कर उसकी खूब पूजा की । बेचारा ऊँट पिट-पिटाकर अपना सा मुँह लेकर लौटा । कई दिन तक मार खाने के कारण उसका शरीर दर्द करता रहा ।

पर धोखा खाकर ऊँट बड़ा दुःखी हुआ और लगता है कि उसकी दशा पर तरस खाकर विघ्नाता भी उसके गूढ़ मगज में कुछ बुद्धि ठूस गया । अतः वह सोचने लगा कि मुझे सियार को उसके कपट करने का फल चखाना चाहिए । इसके लिए वह मौका ढूँढने लगा और सफल भी हुआ—

ऊँट मामा बाब राखी भाणेजा को एक दिन,
कहे गोठ कीजे एक खेत आछो पायो है ।
भानी मनधार चाल्या मारग में आई नदी,
कैसे पार पोचूं जल अधिक भरायो है ।
पोठ पं बिठायो ऊँट आयो मसधार कहे,
भाणेजा जी म्हाने तो लोटणवाय आयो है ।
कह अमीरिख मसधार में बह्यो है श्याल,
कपट किया सँ जीब दुःख ऐसो पायो है ।

हुआ यह कि एक दिन दाव पाकर ऊँट ने भी सियार से बदला लेने की योजना बनाई और उसके पास आकर प्रेम से बोला—“प्यारे भानजे ! आज मैंने भी एक बड़ा अच्छा खेत ढूँढा है । चलो न, वहाँ चलकर अपन मामा-भानजे गोठ करें । बड़ा आनन्द आएगा ।”

सियार मामा की मनुहार से प्रसन्न हुआ और उसी वक्त ऊँट के साथ चल दिया। दोनों ही कुछ दूर चले थे कि रास्ते में एक नदी आ गई। नदी पार करना सियार के वश की बात नहीं थी अतः वह बोला—“मामा ! इसमें तो बहुत जल है, मैं कैसे नदी पार करूँ ?”

“वाह ! यह क्या बड़ी बात है ? तुम मेरे भानजे हो ! आओ मेरी पीठ पर बैठ जाओ ! मैं बात की बात में तुम्हें उस पार लिये चलता हूँ।”

सियार बड़ा खुश हुआ और उछल कर ऊँट की पीठ पर बैठ गया। मन में सोच रहा था—‘वाह ! अज का दिन तो बड़ा सुन्दर है। मजे से ऊँट की सवारी करने को मिली और कुछ देर बाद बढ़िया खाने को भी मिलेगा।’

ऊँट चुपचाप सियार को पीठ पर बैठाए नदी में घुस गया और बीच धार तक जा पहुँचा। उस स्थान पर जल अत्यन्त गहरा था। अब अवसर उपयुक्त देखकर ऊँट बोला—‘बेटा भानजे ! मेरी आदत है कि पानी को देखते ही मुझे लोटनवाय आने लगती है। अतः मैं तो अब इसमें लेटना चाहता हूँ।’

मामा की बात सुनकर सियार घबरा गया और चीखा—‘वह क्या गजब करते हो मामा ! तुम पानी में लोटोगे तो मैं मर नहीं जाऊँगा ?’

पर इतनी देर में तो ऊँट पानी में बैठ चुका था। अतः सियार बहने लगा। वह बहुत चीखा, चिल्लाया और रोने लगा पर इससे क्या होता ? कपट करनी का फल तो भोगना ही था।

इस उदाहरण के द्वारा कवि ने यही बताया है कि कपट करने का नतीजा बहुत बुरा होता है और कभी न कभी उसका परिणाम भोगना ही पड़ता है। जो जीव कपट करता है उसे इसी प्रकार दुःखद फल मुगतना पड़ता है।

भले ही व्यक्ति बहुत चतुराई से और कपट क्रिया-करके सोचे कि मैं कितना होशियार हूँ, किसी को पता भी नहीं चलने दिया। कौसा ठगा दुनिया को, पर वह नादान प्राणी यह भूल जाता है कि संसार चाहे उसकी चालबाजी न समझे पर उसके कर्म तो उसकी एक-एक हरकत पर गिद्ध के समान पंती दृष्टि रखते हैं तथा उसी क्षण अपराध और उसकी सजा भी नियत करते जाते हैं।

इसीलिये सच्चे साधक और सच्चे भक्त अपनी भक्ति में कपट नहीं रखते। वह परमात्मा से अपने अङ्गुणों को छिपाते नहीं, तथा उन्हें प्रकट करते हुए अपने आपको कर्म-बन्धनों से बचाने की प्रार्थना करते हैं।

संत तुलसीदास के एक भजन से स्पष्ट होता है कि एक निष्कपट भक्त किस प्रकार अपने दोषों को स्वीकार करता हुआ भगवान् से दया की भिक्षा माँगता है। रामायण के रचयिता महाकवि तुलसीदास अपने प्रभु से कहते

हैं—

कीन जतन बिनती करिये ?

निज आचरण विचारि हारि हिय मानि जानि उरिये ॥
जेहि साधन हरि ! इवहु जानि जन सो हठि परिहरिये ।
जाते विपति जाल निसदिन दुःख, तेहि पब अनुसरिये ॥
जानत हूं मन, वचन, करम, परहित कोन्हें तरिये ।
सो विपरीत देखि पर-सुख बिनु कारण ही जरिये ॥

क्या कहा है तुलसीदास जी ने ? यही कि—“हे प्रभु ! मैं किस प्रकार आप से विनती करूँ ? जब अपने निन्दनीय आचरणों पर दृष्टिपात करता हूँ तब हृदय में हार मानकर डर जाता हूँ और प्रार्थना करने का साहस ही नहीं होता ।”

“हे हरि ! जिस साधन से आप मनुष्य को अपना भक्त समझकर उस पर कृपा करते हैं, उसे तो मैं हठपूर्वक छोड़ रहा हूँ और जहाँ आपत्तियों के जाल में फँसकर दुःख ही दुःख प्राप्त होता है उस कुमार्ग पर चलता हूँ ।”

“मैं जानता हूँ कि मन, वचन और कर्म से दूसरों की भलाई करने पर मैं संसार-सागर से पार हो जाऊँगा, किन्तु मैं इससे उलटा ही आचरण करता हूँ तथा दूसरों के सुखों को देखकर बिना ही कारण ईर्ष्या की भाग में जला जा रहा हूँ ।”

कितने शुद्ध भावों से भक्त ने अपने दोषों को स्वीकार किया है ? क्या सभी साधक ऐसा कर सकते हैं ? नहीं, संसार के अधिकांश प्राणी सदा अपने पापों पर पर्दा डालने के प्रयत्न में रहते हैं । ऐसे तो बिरले ही होते हैं जो निष्कण्ट भाव से सहज ही अपने दोषों को भगवान् के सामने रख देते हैं । आगे कहा है—

श्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये ।
निज अभिमान मोह इरिषा बस तिनहि न आवरिये ॥
संतत सोइ प्रिय मोहि सदा जातें भवनिधि परिये ।
कहौ अब नाथ, कीन चलतें संसार-सोग हरिये ॥
जब कब निज कंठमा स्वभाषते, इवहु ली निस्तरिये ।
तुलसीदास बिस्वास आन नहि, कत बध-बध मरिये ॥
कीन जतन बिनती करिये ?

अर्थात्—“वेद-पुरान सभी का यह सिद्धांत है कि खूब दृढ़तापूर्वक सत्संग का आश्रय लेना चाहिये किन्तु मैं तो अपने अभिमान, अज्ञान और ईर्ष्या के बंध कभी सत्संग का आदर नहीं करता । उलटे उनसे द्रोह किया करता हूँ ।

मेरे कलुषित मन को वही सब अच्छा लगता है, जिससे संसार-सागर ही में पड़ा रहूँ। ऐसी स्थिति में हे नाथ ! आप ही कहिये मैं किस बल से इन सांसारिक दुःखों को दूर करूँ ? जब कभी आप अपने दयालु स्वभाव से मुझ पर पिघल जाएँगे तभी मेरा इस भव सागर से विस्तार होगा अन्यथा नहीं। क्योंकि इस तुनसीदास को और किसी का तो विश्वास ही नहीं है, फिर वह किसलिये अन्यान्य साधनों में पच-पचकर मरे ?”

“हे प्रभो ! मैं किस प्रकार आपसे विनती करूँ ?”

बंधुओ, कण्ठ रहित भक्ति का यह कितना सुन्दर और सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है ? ऐसी भक्ति ही भगवान् को रिझा सकती है और ऐसा कण्ठ रहित तप ही आत्मा को निर्मल बना सकता है। जो भक्त और साधक बिना अपने दोषों को छिपाए तथा बिना दिखाने की इच्छा रखे पूर्ण दृढ़ता एवं एकाग्रतापूर्वक भक्ति और तपस्या करता है, वही सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति करके अपनी साधना को सफल बना सकता है।

ज्ञान-चक्षु

गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो समझ में आ जाएगा कि ज्ञान के अभाव में मनुष्य कौसी भी भक्ति और साधना क्यों न करे। वह अंधेरे में डेला फेंकने के समान ही साबित होगी। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार एक नयनहीन व्यक्ति चलने के लिये कदम बढ़ाता है पर वह ठीक स्थान पर पड़ेगा या नहीं, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। नेत्र के अभाव में उस व्यक्ति के लिए सारा जग केवल अन्धकार है। इसी प्रकार ज्ञान के अभाव में समस्त क्रियाएँ सूनी होती हैं।

एक कुण्डलिया में ज्ञान को नयनों के समान ही अमूल्य बताते हुए कहा है कि इनको खोलकर चलो ताकि साधना-पथ में कहीं ठोकर न लगे और भटकना भी न पड़े—

नयन बहुत प्रिय देह में, लोल सरस अनमोल ।
याते भल अनभल दिख, चालो इनको खोल ॥
चालो इनको खोल, मार्ग में खता न खाओ ।
शास्त्र ज्ञान को लेय, जगत में सब सुख पाओ ॥
चहूँ कृष्ण अंधियार, व्यर्थ होत सब सुख चयन ।
पराधीन साचार, जग में बिन इन प्रिय नयन ॥

जैसे व्यक्ति अपनी आँखों से संसार के समस्त स्थूल पदार्थों को देख सकता है, उसी प्रकार ज्ञान-नेत्र के द्वारा वह आत्मा, परमात्मा, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, पप, पुण्य तथा लोक-परलोक के विषय में समझ सकता है।

कुण्डलिया में कहा है—“इस मानव देह में नेत्र सबसे अधिक सरस, प्रिय व अमूल्य हैं क्योंकि इनसे ही हमें अपने लिए हितकर और अहितकर पदार्थों का ज्ञान होता है। जीवन पथ पर इन्हें खोलकर चलो ! इन्हें खोलकर चलने से कभी मार्ग भ्रष्ट नहीं होओगे।”

कवि ने आगे यह भी कहा है कि इन चर्म चक्षुओं के समान ही अग्ने ज्ञान नेत्रों को भी खोलो जो कि आगमों का तथा धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करने से प्राप्त होते हैं। जो भव्य प्राणी अपने ज्ञान नेत्रों को पा लेता है, उसके सामने छाया हुआ अज्ञान और मिथ्यात्व का घोर अन्धकार नष्ट हो जाता है तथा वह इस जगत में रहते हुए भी पूर्ण सुख और संतोष का अनुभव करता है। इनके अभाव में वह पर-पदार्थों के आधीन होकर लाचार-सा बन जाता है तथा कभी भी अपने ध्येय की सिद्धि में सफल नहीं हो पाता। कहा भी है—

शौच-क्षमा-सत्य-तपो-दमाद्या,
गुणाः समस्ताः क्षणतश्चलन्ति ।
ज्ञानेनहीनस्य नरस्य लोके,
चात्याहता वा तरबोजपि मूलात् ॥

ज्ञान से रहित पुरुष के शौच, क्षमा, सत्य, तप, दम आदि सब गुण क्षण मात्र में ही समाप्त हो जाते हैं, जैसे संसार में आधी से आहत वृक्ष मूल से नष्ट हो जाते हैं। अतः ज्ञानाराधन करना चाहिये।

तो बंधुओ, हमें अपने आत्मिक गुणों की रक्षा के लिये ज्ञानाराधन करना है और इसीलिये ज्ञान की प्राप्ति तथा वृद्धि के लिये ग्यारह कारण बताए जा रहे हैं। इनमें से सातवाँ कारण अथवा साधन तप है जो कि आज का विषय है। तप के विषय में कहा गया है कि तप कपट रहित हो। हमारे तप करने के पीछे बनावट, ढोंग, यज्ञ-प्राप्ति की कामना अथवा अन्य कोई भी स्वार्थ नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का निष्कपट तप करने पर ही उसका उत्तम फल प्राप्त हो सकता है। कपट रहित तप करने से कितना महान् लाभ होता है यह एक श्लोक से जाना जा सकता है—

यस्माद्भ्रश्यति दुष्टविघ्न विततिः कुर्वन्तिदास्यं सुराः ।
शान्तिं याति बली स्मरोऽक्षपटलो दाम्भ्यत्यहो सर्पति ॥
कल्याणं शुभ संपदोजनकरतं यस्मात्स्फुरन्ति स्वयं ।
नाशं याति च कर्मणां समुदयः सारं परं तत्तपः ॥

कहा गया है—जिससे दुष्ट विघ्नों के समूह का नाश होता है, देवता दास बन जाते हैं, बलवान कामदेव शान्त हो जाता है, इन्द्रियों का दमन हो जाता

है, सुख-संपत्ति की निरंतर वृद्धि होती है और कर्मों के समूह स्वयं नष्ट हो जाते हैं, वह परम साररूप तप ही है ।

जो व्यक्ति तप के महत्त्व को समझ लेते हैं तथा सच्चे तप की पहचान कर लेते हैं, वे अपनी तप-क्रिया को इतनी दृढ़, निर्दोष, निस्वार्थी एवं निष्कपट बना लेते हैं कि उन्हें उसमें घोखा नहीं खाना पड़ता । अपने उत्कृष्ट तप के द्वारा वे इच्छित फल प्राप्त करते हैं तथा मानव-पर्याय का समुचित लाभ उठा लेते हैं । वह लाभ कहीं तक जाता है, इस विषय में कहा है—

“तपः सीमा मुक्तिः ।”

तपस्या की सीमा, तपस्या का अन्तिम परिणाम मोक्ष है ।





धर्मप्रेमी बंधुओं, माताओं एवं बहनों !

ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारणों में से आठवाँ कारण है— संसार को असार समझना ।

सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि संसार को असार समझ लेने मात्र से ही ज्ञान कैसे प्राप्त हो जाएगा ? वास्तव में ही इतना-सा कह देना कि संसार को असार समझें तो ज्ञान की प्राप्ति हो, काफी नहीं है । यद्यपि बात यह सत्य है किन्तु बिना इस बात के पीछे रहे हुए रहस्य को समझने सावधान नहीं हो सकता । हमें इस बात को भली-भाँति समझना पड़ेगा कि संसार को असार समझने का क्या परिणाम होगा, अथवा किन भावनाओं का उदय होगा जो ज्ञान-प्राप्ति में सहायक बनेंगी ।

संसार असार क्यों है ?

संसार को इसीलिए असार माना जाता है कि प्रथम तो हमारे चर्म-चक्षुओं से दिखाई देने वाली जो भी वस्तु है वह नाशवान है । बड़े-बड़े आलीशान मकान, धन-दौलत, पेड़-पौधे तथा संसार में रहने वाले प्रत्येक जीव का शरीर भी नश्वर है । इनसे हम कितना भी गहरा सम्बन्ध रखें इन पर अपना प्रभुत्व जमाएँ किन्तु, या तो एक दिन ये सब स्वयं नष्ट हो जाएँगे या फिर हमारी आत्मा को ही इन्हें छोड़कर किसी दिन जाना पड़ेगा । प्रौढ़ कवि पूज्यपाद श्री अमीरुद्दीन जी महाराज ने संसार की असारता को बताते हुए एक बड़ा सुन्दर पद्य लिखा है । वह इस प्रकार है—

आयु है अथिर जैसे अंजली के नीर भ्रम,
दौलत खपलता क्यों दामिनी पलक में ।
यौवन पतंग रंग, काया है नीकाम अति,
वार नहीं लागे ओस बिन्दु की ढलक में ॥
सुषन समान यह, संपदा पिछान मन,
सरिता को पूर ढल जाय क्यों पलक में ।

कहे अमीरिख जग सुख है असार धार,
सुकृत सदीव यही सार है खलक में ॥

इस संसार में आयु अजुलि में भरे हुए जल के समान है अर्थात् अंजुली में भरा हुआ जल कितनी भी सावधानी रखी टिक नहीं पाता, इसी प्रकार आयु लाख सतर्कता रखने पर भी समाप्त हो जाती है ।

वाल्मीकि रामायण में भी कहा है—

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह ।
आयुषि क्षयवन्त्यायु शोभे जलमिवाशयः ॥

दिन-रात लगातार बीत रहे हैं और संसार में सभी प्राणियों की आयु का तीव्र गति से नाश कर रहे हैं । ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य की किरणों गर्मी में शीघ्रतापूर्वक फल को सुखाती रहती हैं ।

आगे कहा है—‘दौलत चपलता ज्यों दामिनि फलक में ।’ अर्थात् लक्ष्मी अत्यन्त चंचल है । यह आज है तो कल नहीं । जैसे आकाश में बिजली क्षण भर के लिये चमकती है इसी प्रकार दौलत आज किसी के पास देखी जाती है और कल किसी के पास ।

यौवन पतंग के रंग के समान साबित होता है । पतंग पर तनिक-सा पानी पड़ते ही उस पर का रंग मिट जाता है, वैसे ही पूर्ण युवावस्था भी अल्पकाल में ही वृद्धावस्था को प्राप्त होती है और कितना भी खिलाया, पिलाया और नहलाया क्यों न जाए यह शरीर क्षण मात्र में ही आत्मा के प्रयाण करने पर निर्जीव हो जाता है । ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार की सूर्य की एक किरण के पृथ्वी पर आते ही ओस की बूँद सूख जाती है ।

कवि आगे कहता है—अरे मन ! यह वैभव और संपत्ति स्वप्न के समान अस्थिर है । तू इसकी भली-भाँति पहचान कर ले । नदी में आई हुई बाढ़ जिस प्रकार जल्दी ही समाप्त हो जाती है, वैसे ही आई हुई संपत्ति पुनः चली जाती है ।

इस प्रकार इस जगत में रहे हुए प्रत्येक प्रदार्थ से प्राप्त होने वाला सुख क्षणभंगुर और सारहीन है । सार है तो केवल सुकृत करने में ही, क्योंकि उससे प्राप्त होने वाला पुण्य समाप्त नहीं होता तथा आत्मा के साथ चलता है ।

कुछ नहीं माँगना है

कपिल मुनि पूर्वावस्था में ब्राह्मण थे और स्थानीय राजा से दो मासे स्वर्ण को प्रातःकाल होते ही लेने के लिये रात को ही घर से निकल पड़े । नगर में गश्त लगाने वाले सिपाहियों ने उन्हें चोर समझ कर पकड़ लिया तथा रात भर कँद में रखकर सुबह राजा के सामने उपस्थित किया ।

राजा ने कपिल की सारी बात सुनी और उसकी दरिद्रावस्था पर दण करके जो भी इच्छा हो माँगने के लिये कह दिया तथा इस बात पर सोचने के लिये अपनी बाटिका में भेज दिया । कपिल ने सोचना शुरू किया और दो मासे स्वर्ण से बढ़ते-बढ़ते एक करोड़ स्वर्णमुद्राओं को लेने का विचार करने लगा ।

किन्तु इसी क्षण उसकी बुद्धि ने पलटा खाय़ा और वह मोचने लगा—
‘वाहरी तृष्णा, इसकी तो तृप्ति होती ही नहीं, ऐसा लगता है कि—

कसिंपि जो इमं लोयं: पडिपुणं इलेउअ इक्कस्म ।
तेणाबि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ८-१६

अर्थात्—धन-धान्य से भरा हुआ सम्पूर्ण लोक भी यदि कोई किसी को दे देवे, इससे भी लोभी जीव को संतोष नहीं हो सकता । आत्मा की तृप्ति होनी अत्यन्त कठिन है ।

ऐसा विचार आते ही उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई कि दो मासे स्वर्ण के कारण तो मैं रात भर सिपाहियों की पकड़ में रहा और अगर एक करोड़ मुहरों माँग लूँगा तो उनके कारण भविष्य में मेरी न जाने क्या गति होगी ? ऐसे शुभ विचारों के आते ही उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उन्होंने उसी समय अपने केशों का लंचन कर साधुवृत्ति को धारण कर लिया । शासन देवता-प्रदत्त मुनिवेश धारण कर जब वे दरबार में पहुँचे तो राजा ने शक्ति होकर पूछा—“क्या तुमने अभी तक माँगने के विषय में कुछ निश्चित नहीं किया ?”

कपिल मुनि ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—

“राजन् ! जहाँ लाभ है वहाँ लोभ भी है । मेरी तृष्णा दो मासे स्वर्ण से बढ़ते-बढ़ते एक करोड़ स्वर्णमुद्राओं तक पहुँच गई थी । पर श्रुत है कि तृष्णा की विचित्रता ने मेरी आँखें खोल दी हैं । अब मुझे न लाख की आवश्यकता है और न करोड़ की । आवश्यकता केवल उस क्रिया के खोज की है, जिसके करने से मैं दुर्गति में न जाऊँ ।”

कपिल मुनि ने कथन था—

अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्खपउराए ।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्ज ।

—उत्तराध्ययन सूत्र ८-१

इस अध्रुव, अशाश्वत और दुःखमय संसार में ऐसा कौन-सा कर्म है ? कौन-सा क्रियानुष्ठान है, जिसे अपनाकर मैं दुर्गति में जाने से बच सकूँ ?

वस्तुतः इस संसार में कुछ भी शाश्वत रहने वाला नहीं है । यह शरीर

जिसमें एक काँटा भी चुभ जये तो हम सहन नहीं कर पाते, बाल्यावस्था में कितना कोमल और कमनीय होता है, युवावस्था में महान् शक्तिशाली और तेजस्वी के रूप में आता है तथा जब वृद्धावस्था आती है अपने समस्त सौन्दर्य, शक्ति एवं ओज को खोकर जर्जर शक्तिहीन तथा पराधीन बन जाता है। और उसके पश्चात् आप जानते ही हैं कि किसी भी समय चैतन्यता रहिन होकर चिता में भस्म हो जाता है तथा हड्डियाँ यत्र-तत्र पड़ी रहती हैं।

किसी ने बड़ी सरल और सीधी भाषा में कहा भी है—

कहाँ जन्मा, कहाँ उपना, कहाँ लड़ाया लाड़ ?
क्या जाने किस खाड़ में, पड़ा रहेगा हाड़ ?

साहित्यिक दृष्टि से पद्य में कोई विशेषता या आकर्षण नहीं है किन्तु भाव कितना मर्मस्पर्शी है ? मनुष्य की जीवन-यात्रा कितनी अजीबो-गरीब स्थिति में से होकर गुजरती है और समाप्त होती है यही इसमें बताया गया है। कहा है—बालक कहाँ जन्म लेता और कहाँ उसका पालन-पोषण होता है। जो भ्राग्यवान् होते हैं उनके मस्तक पर माता-पिता की छाया रहती है और जिनके अशुभ कर्मों का उदय होता है वे कभी तो माता को ही खो देते हैं या दरिद्रावस्था में भूखे पेट रहकर होश सम्हालते हैं। कोई अनाथालय में शरण लेने को भी मजबूर हो जाते हैं। इस प्रकार कहीं जन्म लेते हैं और कहीं बड़े होते हैं। कोई माता-पिता के असीम लाड़-प्यार का अनुभव करते हैं और कोई जन-जन की झिड़कियाँ खाकर अपमानित होते हुए बाल्यकाल व्यतीत करते हैं।

और इसके पश्चात् जब युवावस्था आती है तब श्रीमानों की सन्तान तो गुलछरें उड़ाकर अपने ऐश-आराम में निमग्न रहकर कर्म-बंधन करती है और दरिद्र की संतान-भूखे पेट सुबह से शाम तक मजदूरी करके पेट भरती है। अनेक व्यक्ति देश-विदेशों की खाक छानकर भी परिवार का पालन-पोषण करते हैं अभिप्राय यही है कि किसी का भी जीवन स्थिर और शांतिपूर्ण नहीं होता।

वृद्धावस्था में तो व्यक्ति स्वयं ही निरुपाय होकर अपने शरीर के कण्ठों को मुगतता है तथा परिवार के सदस्यों की अपेक्षा और भर्त्सना को विष के घूँट की तरह पीता हुआ मूक रुदन करता है। तत्पश्चात् जब किसी तरह नाना-प्रकार के कण्ठों का अंत मृत्यु के रूप में हो जाता है तो उसकी हड्डियाँ भी न जाने कौन-कौन से गड्डों में पड़ी हुई किसी विगत जीवन का आभास मात्र देती हैं।

तो मनुष्य की जीवन यात्रा इसी प्रकार भिन्न-भिन्न और अजीब-अजीब परिस्थितियों में से गुजरती है। कोई यहाँ धन के लिये रोता है, और कोई स्वास्थ्य के लिये। कोई पुत्र के न होने पर दुःखी होता है और कोई पुत्र के कुपुत्र साबित होने पर परेशान होता है। किसी को पत्नी ककशा होती है तो किसी की अल्पकाल में ही संसार से प्रयाण कर जाती है।

इस प्रकार यह संसार दुर्बों के समूह के अलावा और कुछ भी नहीं है ।
जैसा कि कहा जाता है—

“संसारो दुःखानामेकमास्पदम्”

संसार ही दुःखों का एकमात्र स्थान है । संसार में दुःख ही दुःख है, सुख तो केवल कल्पनिक है ।

इसीलिये एक उर्दू भाषा के कवि ने कहा है—

बेवफा है यह जमाना, दिल किसी से ना लगाना ।

गर हे तू कुछ सयाना, दिल किसी से ना लगाना ॥

जमाना यानी संसार । यह संसार कैसा है ? बेवफा ! अर्थात् विश्वास करने लायक नहीं है क्योंकि क्षणिक है । जो क्षणिक हो उसका विश्वास क्या करना ? विश्वास करने से लाभ भी क्या है जबकि हर वस्तु, जिस पर मोह रखा जाय, नष्ट हो जाती है या उसका बियोग हो जाता है । अतः तुझमें समझ-दारी है तो किसी के भी मोह में मत फँस, किसी से भी दिन मत लगा ।

आगे का पद्य है—

जिससे तू दिल लगाय, सबमें बहूत उठाया ।

सोचा न कुछ तू जाना, अफसोस कहा न माना ॥

‘संसार की वस्तुओं पर तूने आसक्ति रखी और संबंधियों पर मोह रखा, उसका परिणाम क्या हुआ ? केवल यही तो कि अनेकानेक दुःख उठाए और परेशानियों में पड़ा रहा । तूने न तो स्वयं ही कुछ सोचा-समझा और न ही संत महात्माओं के कथन को माना । वे सदा अपने और अन्य प्राणियों के मन को चेतावनी देते हुए कहते रहे :—

दुःखाङ्गारकतीव्रः संसारोऽयं महानसो गहनः ।

विषयामृत लालस—मानस मार्जार ! मा निपत ॥

अर्थात्—‘यह संसार दुःखरूपी अंगारों से घधकता हुआ एक विकट रसोई घर है । हे मन रूपी मार्जार ! तू विषय-रूपी अमृत की लालसा में फँसकर उसमें मत कूद पड़ना ।’

महापुरुषों की यह चेतावनी यथार्थ है । संसार के प्राणी सुख प्राप्ति की अभिलाषा से प्रेरित होकर ऐसी प्रवृत्तियाँ करते हैं जो उनकी समस्त उच्च आकांक्षाओं पर पानी फेर देती हैं वे यही नहीं समझ पाते कि सच्चे सुख का स्वरूप क्या है अपितु, क्षणिक और झूठे सुखाभास में ही सुख की कल्पना कर लेते हैं । सच्चा सुख विषयों में आश्रित नहीं होता, वह आत्म श्रित होता है । पर-पदार्थों का संयोग अस्थायी होता है अतः उनसे प्राप्त होने वाला सुख भी स्थायी और परिपूर्ण नहीं हो सकता । वास्तविक सुख तो वही है जो बिना

किन्ती के संयोग से केवल अपनी आत्मा से ही प्राप्त होता है। किन्तु मनुष्य इस बात को नहीं मानता और परिणाम क्या होता है—

अकल को भी हटादी, खूबियाँ भी सब मिटावीं।

उस वक्त हुआ पछताना, अफसोस कहा न माना ॥

बेवफा है यह जमाना !

कवि कहता है—‘अरे नादान ! तूने तो अपनी अकल का ही दिवाला निकाल दिया। कम से कम महापुरुषों की शिक्षा को मानकर तो सही मार्ग अपनाता। सुबह का भूला शाम को घर आ जाय तब भी उसे भूला हुआ नहीं मानते।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसा मूर्ख है

सम्राट चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही बुद्धिमान थे और फिर चाणक्य की कूटनीति का तो पार ही नहीं था किन्तु भूल उनसे भी हो गई कि उन्होंने ‘नंद’ को जीतने के लिये सीधा ही पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर दिया। परिणाम-स्वरूप उन्हें मात खानी पड़ी और दोनों ही जंगलों में मारे-मारे फिरने लगे।

भूख-प्यास से व्याकुल वे संयोगवश जंगल में बनी हुई एक झोंपड़ी पर जा पहुँचे। उसमें एक वृद्धा रहती थी। घन-पैसे की दृष्टि से वह दरिद्र थी किन्तु उसका हृदय अत्यन्त विशाल था और अतिथियों के प्रति आदर से भरा हुआ था।

बुढ़िया ने ज्यों ही दो अतिथियों को द्वार पर देखा हर्ष से पागल हो गई और उन्हें बड़े सम्मान से अन्दर बुला लाई। ठंडा जल पिलाया और बैठने के लिये टूटी खाट बिछा दी। वह नहीं जानती थी कि उसकी झोंपड़ी में स्वयं राजा चन्द्रगुप्त और उनके बुद्धिमान मन्त्री चाणक्य आए हैं। वह तो उन्हें केवल अतिथि मानकर उनकी सेवा-सुश्रूषा में लग गई।

सहजभाव से वृद्धा बोली—‘बेटा ! तूम लोग बहुत ही थके हुए और परेशान नजर आ रहे हो। तनिक विश्राम करो जब तक मैं खिचड़ी बनाती हूँ, उसे खाकर जल पीना।’

सायंकाल का समय था अतः वृद्धा ने उसी झोंपड़ी के एक कोने में बने चूल्हे को जलाया और उस पर खिचड़ी बनाने के लिये चढ़ा दी। कुछ ही देर बाद उसका लड़का खेत से लौटा और अपनी माँ से बोला—‘जल्दी से कुछ खाने को दे ! बड़ी भूख लगी है।’

माँ और तो क्या परोसती, खिचड़ी करीब-करीब तैयार हो गई थी अतः उसने जल्दी से वही एक थाली में परोस दी और थाली भूखे पुत्र के सामने सरका दी।

पुत्र ने आव देखा न ताव, एकदम गरम खिचड़ी में अपना हाथ डाल दिया और तुरन्त ही जोर से चीख उठा।

‘अरे क्या हुआ ?’ बुढ़िया ने घबराकर बेटे से पूछा।

“हाथ जल गया माँ ! खिचड़ी बहुत गरम है ।” जलन से व्याकुल होता हुआ लड़का बोला ।

पुत्र के दुःख से दुःखी होकर माँ भर्त्सना के स्वर में बोली—“अरे अभाग ! क्या तू भी चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसा ही बेवकूफ है ?”

चन्द्रगुप्त और चाणक्य दूर कहीं थे, वहीं तो खाट पर बँठे थे । वृद्धा की बात सुनकर उनके कान खड़े हो गए और तुरन्त ही उन्होंने पूछ लिया—“माताजी ! चन्द्रगुप्त और चाणक्य मूर्ख कैसे हैं ? क्या मूर्खता की है उन्होंने; और फिर उनका उदाहरण आपने अपने पुत्र पर कैसे घटित किया ?

बुढ़िया मुस्कराती हुई बोली—“देखो बेटा ! चन्द्रगुप्त राजा है और चाणक्य उनका बुद्धिमान मन्त्री । वे लोग नंद-वंश का नाश करना चाहते हैं पर उनको इतनी अक्ल नहीं है कि पहले आस-पास के छोटे-मोटे राजाओं को जीतकर तब राजधानी पर हमला करते । इससे जीते हुए राजाओं का भी उन्हें सहयोग मिल जाता । पर उन मूर्खों ने सीधे ही बीच में जाकर राजधानी पाटलीपुत्र पर चढ़ाई कर दी और इसीलिये अकेले और सहायक हीन होने के कारण हार गए ।”

‘इसी प्रकार मेरे इस लड़के ने भी किया कि गरम खिचड़ी में बीच में ही सीधा हाथ डाल दिया । इसे चाहिये था कि पहले आस-पास अर्थात् किनारे-किनारे की लेकर ठंडी करता हुआ खाता । क्यों ठीक कहा है न मैंने ?”

वास्तव में ही चन्द्रगुप्त और चाणक्य की आँखें वृद्धा की बात से खुल गई । उन्होंने वृद्धा की बात को शिक्षा मानकर तथा अपनी बुद्धि का भी उपयोग करके नंद-वंश का नाश किया । तभी कहा जाता है—

बुद्धेर्बुद्धिमतां लोके नास्त्यगम्यं हि किञ्चन ।

बुद्ध्या यतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणयः ॥

बुद्धिमानों की बुद्धि के सम्मुख संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है । बुद्धि से ही शस्त्रहीन चाणक्य ने सशस्त्र नंद-वंश का नाश कर दिया ।

इस उदाहरण से यही अभिप्राय है कि प्रथम तो मनुष्य अपनी बुद्धि से काम करे और अगर किसी कारण से उसमें सफल न हो पाए तो अन्य बुद्धिमान व्यक्तियों की सहायता से कार्य सम्पन्न करे । जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाता । उर्दू भाषा के कवि ने मानव की इसीलिये भर्त्सना की है कि तूने अपनी अक्ल को तो गँवा ही दिया और दूसरे से भी शिक्षा ग्रहण नहीं की । परिणाम यह हुआ अपनी सब विशेषताओं को खो बैठा ।”

आत्मा में असंख्य शक्ति और सद्गुण छिपे हुए हैं। अधिक क्या कहा जाय तीर्थंकरों और सर्वज्ञों की आत्मा में जितनी शक्तियाँ और विशेषताएँ थीं उतनी ही आज हमारी आत्मा में हैं। रंच-मात्र भी न्यूनता नहीं है। कमी केवल उन्हें पहचानने की और उनका उपयोग करने की है। पर मानव यही नहीं कर पाता है तथा उसके कारण बाद में पश्चात्ताप करता है ऐसा पश्चात्ताप करने वाले के साथ किस की सहानुभूति हो सकती है? लोग यही कहते हैं—

करसा था तो क्यों किया, अब करि क्यों पछताय ।

बोवे पेड़ बबूल का, आम कहाँ से खाय ?

तो बंधुओं, मानव इस संसार के प्रलोभनों में फँसकर अपने आपको भूल जाता है और सब कार्य उलटे ही करने लगता है। अर्थात् पर पदार्थ जोकि नष्ट होने वाले हैं उनकी प्राप्ति और योग में लगा रहता है, किन्तु आत्मिक गुण जो शाश्वत सुख प्रदान करने वाले हैं उनकी उपेक्षा करता हुआ कर्म-बंधन बाँधता चला जाता है।

वह भूल जाता है कि यह संसार अर्थात् इसमें प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली समस्त वस्तुएँ नष्ट होने वाली हैं। संस्कृत में कहा भी है—

यद् दृष्टं तन्नष्टम् ।'

आँखों से देखी जाने वाली सब वस्तुएँ नाशवान हैं।

अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार स्वप्न आता है और वह तुरन्त नष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह संसार भी है। कविकुल भूषण तिलोक ऋषिजी महाराज का एक सारगर्भित पद्य भी इसी आशय को स्पष्ट करता —

यह संसार स्वप्न सो है जन,
जँसो है बिजली रो सबकारो ।

औरण पत्र कान गज को पुनि,
बाबल छाया संघ्या रो उजारो ॥

इन्द्र धनुष्य ध्वजा सम चंचल,
अंबु की लहर प्रपोट विचारो ।

कहत तिलोक यो रीत खलक को,
धार सुपंथ के आतम तारो ॥

पद्य की भाषा अत्यन्त सरल और सीधी है किन्तु अन्तःकरण को भिगो देती है। वास्तव में जो महापुरुष होते हैं वे अपने काव्य या कविता को विद्वत्ता की दृष्टि से नहीं लिखते। वे यह नहीं चाहते कि लोग उनके शब्दाडंबरों की सराहना करें और ऊँचे-ऊँचे शब्दों तथा अलंकारों को देखकर उनके पांडित्य की प्रशंसा करें। वे केवल यह चाहते हैं कि व्यक्ति उनके भाव को समझें तथा भाषा को गहनता में न फँसकर कही हुई बातों को हृदयगम करें।

इसलिये कविता में कहा है— हे भव्य जीवो ! यह संसार स्वप्न के समान है । जिस प्रकार बिजली क्षणभर के लिये चमककर पुनः लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार संसार भी समस्त वस्तुएँ और शरीर भी अल्पकाल में ही नष्ट हो जाते हैं । एक हमारी आँखों देखी सत्य घटना है—

जब हम रोपड़ (पंजाब) में थे । एक श्रावक अष्टा-मला अर्थात् बिल्कुल स्वस्थ था, व्याख्यान सुनने के लिये आया । उसने सामायिक नहीं ली और माला फेरने लगा । उसी समय उसकी तबीयत खराब हो गई । लोगों ने हमसे यह बताया तो हमने स्थानक में पं० श्री ज्ञानमुनि जी महाराज के साथ जाकर उसे मांगलिक मन्त्र-श्रवण कराया । पर देखते-देखते ही उसी समय उसके प्राण पखेरू देह छोड़कर चल दिये ।

इसलिये कवि ने जीवन को बिजली की आभा के समान माना है । आगे कहा है—पेड़ पर जब नवीन पत्ते आते हैं, कितने कोमल और कमनीय लगते हैं किन्तु अल्पकाल में ही वे जीर्ण और पीले पड़ जाते हैं फिर अधिक समय नहीं टिकते । अगला उदाहरण संसार के अस्थायीपन का दिया है कि हाथी के कान सदा चंचल अर्थात् हिलते-डुलते रहते हैं, तथा सूर्य के ऊपर बादलों की आई हुई छाया भी अधिक देर नहीं रह पाती, इसी प्रकार संसार की स्थिति है जो स्थायी नहीं रहती । इसी के लिये संध्या के उजले, इन्द्र धनुष और पानी की लहर का भी दृष्टान्त दिया है तथा कहा है कि संसार पानी के बुलबुले के समान है ।

इन सभी उदाहरणों से आशय यही है कि संसार क्षणिक है, अशाश्वत और अस्थिर है । अतः इसके प्रति मोह-माया रचना नासमझी है सांसारिक पदार्थों का कितना भी भोग किया जाये उसे तृप्ति नहीं होती । अपितु लालसाएँ बढ़ती ही जाती हैं । इसीलिये महापुरुष इन्हें समाप्त करने के प्रयत्न में रहते हैं ।

एक उर्दू कवि ने भी तंग होकर कहा है—

मरे हुये हैं हजारों अरमाँ,
फिर उसर्प है हसरतों की हसरत
कहाँ निकल जाऊँ या इलाही,
मैं दिल की बसअत से तंग होकर ।

—दाग

क्या कहा है शायर ने ? वह कहता है—इस दिल में हजारों अरमान भरे हुए हैं और उनके पूरे होते जाने पर भी जो पूरे नहीं हो रहे हैं उनके लिये हसरत बनी रहती है अर्थात् खेद होता रहता है । दिल को इस हालत से परेशान हुआ मैं, हे भगवान् ! कहाँ-कहाँ जाऊँ ?

जो भव्य प्राणी होते हैं उन्हें संसार में इसी प्रकार छटपटाहट होती है और जब वे संसार को असार समझ लेते हैं तभी उससे अशक्ति हटाकर ज्ञानाराधन में जुटते हैं। ज्ञान प्राप्त करना आत्मसाधना का पहला कदम है। ज्ञान के अभाव में आत्मा के हिन के लिये की गई कोई भी क्रिया सफल नहीं हो पाती। क्योंकि ज्ञान ऐसा आत्मिक प्रकाश है, जिसके कारण अज्ञान और मिथ्यात्व का अन्धकार नहीं टिकता तथा प्राणि को सच्ची वस्तु-स्थिति की जानकारी होती है।

हमारा आज का विषय इसी बात को लेकर है कि संसार को असार समझें तो ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। हमें इसका शाब्दिक अर्थ नहीं लेना है कि संसार को असार कह दिया तो ज्ञान हासिल हो जाएगा। नहीं, इसका भावार्थ यह है कि संसार को जब हम असार समझ लगे तो हमारी प्रवृत्तियाँ इसकी ओर से हटकर आत्म-उत्थान की ओर मुड़ जायेंगी। अर्थात् हमारा ध्यान पर से हटकर 'स्व' की ओर चला जाएगा तथा 'स्व' की शक्ति और असाधारण गुणों को समझने के लिये हम ज्ञान प्राप्त करने की लालसा बढ़ायेंगे।

आत्म-चिंतन

बंधुओ, आपकी समझ में आ गया होगा कि संसार को असार समझ लेने पर हमारी दृष्टि बाह्य-पदार्थों से हटकर अन्तर की ओर उन्मुख हो सकती है। पर अब हमें यह देखना है कि आत्माभिमुख होकर हमें किस प्रकार चिन्तन करना है तथा उसे किस प्रकार अपने आचरण में उतारना है ?

पूर्ण एकान्त और शांत वातावरण में बैठकर सर्वप्रथम हमें यही सोचना चाहिए कि यह देह क्षणभंगुर है, प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। बाल्यावस्था के पश्चात् युवावस्था और उसके पश्चात् वृद्धावस्था आती है। हमारे न चाहने पर भी ये अवस्थाएँ शरीर में स्वयं ही स्थान लेती रहती हैं। शैशवावस्था में शिशु की शारीरिक शक्ति अत्यल्प होती है किन्तु ज्यों-ज्यों वह कुमारवस्था और युवावस्था की ओर बढ़ता है, उसकी शक्ति ऊषाकाल के सूर्य के समान बढ़ती जाती है। और जिस प्रकार सूर्य का तेज मध्याह्न काल तक क्रमशः बढ़ता हुआ प्रखरतम हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य की शक्ति, उसका शारीरिक सौन्दर्य और तेज अपनी चरम सीमा या पूर्णता को प्राप्त होता है।

किन्तु मध्याह्न काल के पश्चात् ही सूर्य का तेज जिस प्रकार क्षीण होता चला जाता है और सायंकाल तक वह अस्त हो जाता है, उसी प्रकार युवावस्था के पश्चात् शरीर की शक्ति, कांति और तेज भी क्रमशः घटता जाता है और एक दिन पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

दिवस के प्रारम्भ और अत का यह क्रम जिस प्रकार अनादिकाल से चला आ रहा है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर के जन्म और मरण का क्रम भी सदा से चलता आया है। इस क्रम को संसार का कोई भी महापुरुष, महाराजा चक्रवर्ती या तीर्थंकर भंग नहीं कर सका, सभी को इसी क्रम से यह संसार छोड़ना पड़ा है।

किन्तु जिन महामानवों ने यह समझ लिया कि—

“शरीरमाद्यं खलु धर्मं साधनम् ।”

सभी धर्म कर्मों के लिये शरीर ही सबसे बड़ा साधन है।

ऐसा समझ लेने वाले अपने शरीर का लाभ उठाकर निश्चक मृत्यु का आलिगन करते हैं, पर मोह-माया में फँसे रह जाते हैं वे अन्त समय के निकट आते जाने पर पश्चात्ताप करते हुए चेतने का प्रयत्न करते हैं किन्तु शरीर के अशक्त हो जाने से तथा इन्द्रियों के क्षीण हो जाने के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते। वे सोचते ही रहते हैं—

मन के मन ही माँहि मनोरथ वृद्ध भये सब,

निज अंगन में नाश भयो वह यौवन हू अब।

विद्या ह्वं गई बाँझ, बूमबारे नहि दीखत,

दोरो आवत काल, कोप कर दसनन पीसत।

कबहूँ नहि पूजे प्रीति सों चक्रपाणि प्रभु के चरण।

सब-बंधन काटे कौन अब ? अजहूँ गहू रे हरि शरण।

किन्तु ऐसा सोचने से फिर क्या लाभ होता है जब समय निकल चुकता है। समय रहते तो वह मोह के प्रबल उदय से नेत्रवान होते हुए भी अन्धा बना रहता है, कान होते हुए भी बहरा और चेतन होते हुए भी जड़ के समान निष्क्रिय रहता है। दिन-रात भोग-विलास में रत रहता है तथा उसके लिये न ना प्रकार के साधन जुटाने में न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य तथा औचित्य-अनौचित्य का भी ध्यान नहीं रखता।

औरों के प्रति विश्वासघात करके अर्थ का उपार्जन करता है, असत्य भाषण, छलकपट, चोरी और हिंसा करके ऐश्वर्य की वृद्धि करता है। केवल एक कार्य वह नहीं करता, और वह है धर्मारोधन। उसको अपनी वृद्धावस्था में करने के लिये रख छोड़ता है। सोचता है जब बुढ़ापा आ जाएगा तब धर्माचरण कर लेंगे। इतना ही नहीं वह तो यहाँ तक विचार करता है कि यदि इस जीवन का अन्त अचानक आ गया तब भी क्या हानि है? आत्मा तो नष्ट होने वाली नहीं है। यह अजर-अमर और अविनाशी है अतः जब पुनर्जन्म होगा तब भी धर्म का साधन कर लेंगे।

ऐसे मूढ़ व्यक्तियों के लिए क्या कहा जाए ? जो अपनी आत्मा को ही इस प्रकार धोखा देते हैं उन्हें समझाना बड़ा कठिन कार्य है। भगवान् महावीर ने तो स्पष्ट कहा है—

दुस्लहे खलु माणुसे भवे,
चिरकालेण वि सस्वपाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १०-४

अर्थात्—हे गौतम ! सब प्राणियों के लिए मनुष्यभव चिरकाल तक भी दुर्लभ है। दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी उसकी प्राप्ति होना कठिन है। क्यों कि कर्मों के फल बड़े गढ़े होते हैं, अतः समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

यह चेतावनी केवल गौतम स्वामी के लिए ही नहीं थी अपितु मनुष्य मात्र के लिए है। अगर हम गंभीरता पूर्वक विचार करें तो सहज ही सोच सकते हैं कि आगामी भव में मनुष्य जन्म उन व्यक्तियों का हो भी कैसे सकता है, जो लोग इस जीवन को विषय-भोगों का उपभोग करने में तथा नाना प्रकार के पापों द्वारा अर्थ-संचय करने में ही व्यतीत करते हैं। उनकी तो वही दशा होगी जो एक कवि ने बड़े कठोर शब्दों में बताई है। कहा है :—

योंही जन्म लोयो, माया वाद में विगोयो—
कबहूँ न सुख सोयो भयो विष ही को घाट को ।
बया धर्म कीनो नाहीं, हरि रंग भीनो नाहीं,
साधन को चीन्थो नाहीं करी पुण्य पाप को ।
लोक में न यश परलोक ते न वश शुक,
तन उर धार्यो न खबंथा बन्थो काट को ।
कहत गुपाल नर देह को जनम पाय,
घोबी को सो कुत्तो भयो घर को न घाट को ।

तो ऐसा व्यक्ति जो अपने सम्पूर्ण जीवन को मोह-माया में फंसाकर खो देता है तथा सांसारिक पदार्थों में आसक्त रहकर उनके लिए हाय-हाय करते हुए बिता देता है। कभी भी सुख से सो नहीं पाता, वह धर्माधन से वंचित रह जाता है। ऐसा व्यक्ति जो आत्म-मुक्ति के साधनों को नहीं पहचान पाता और पुण्य-पाप के भेद को नहीं जानता वह न इस लोक में यश का भागी बनता है और न ही आगामी भव में देवगति या मनुष्य गति ही प्राप्त कर पाता है। इसीलिये कवि कहता है कि वह घोबी के कुत्ते के समान न इधर का रहता है और न उधर का ही। उसके इहलोक-परलोक दोनों ही बिगड़ते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति सहज नहीं है उसके साधनों को आत्मा केवल मनुष्य योनि में ही कर सकती है क्योंकि अन्य योनियों में बुद्धि की मात्रा अत्यल्प होती है। अतः जो आत्मा मानव-जन्म में मोक्ष की साधना नहीं कर पाती, जन्म और मरण के फंदे से बचने के लिये प्रयत्न नहीं करती, वह पतित होकर निकृष्ट योनियों में पुनः-पुनः जन्म लेती रहती है। अतः इस जन्म में क्षणिक सुख भोग कर अगले जन्म में पुण्य की कमाई कर लेने का विचार महामूर्खता से भरा हुआ कहा जा सकता है।

सफलता कैसे मिले ?

यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कुछ व्यक्ति जीवन की सफलता के विषय में विचार करते हैं तो अपनी सीमित दृष्टि के कारण इहलौकिक सफलता प्राप्त कर लेने को ही जीवन का सफल होना मान लेते हैं। अर्थात् धन, यश, परिवार की वृद्धि अथवा प्रचुर भोगोपभोग भोगना ही उनके जीवन का लक्ष्य या जीवन की सफलता का प्रमाण होता है। किन्तु ऐसा दृष्टिकोण सर्वथा गलत है क्योंकि इन दृश्यमान पदार्थों की प्राप्ति शीघ्र ही वियोग में बदल जाती है। या तो जीवनकाल में ही इनका वियोग हो जाता है अथवा जीवन समाप्त होते ही सब यहीं रह जाता है।

इसलिए भव्य प्राणियों ! हमें जीवन की सफलता आत्मा के शाश्वत कल्याण की दृष्टि से माननी चाहिए अगर इस जीवन के द्वारा हम आत्मा को ऊँचाई की ओर ले जा सकें तो ही समझना चाहिए कि हमारा जीवन अंशतः सफल हुआ है।

इसके लिए सर्वप्रथम तो हमें प्रतिपल यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि आत्मा अमर है किन्तु यह जीवन अमर नहीं है। किसी भी दिन और किसी भी क्षण यह नष्ट हो सकता है। हमें अपने मन को सदा यह चेतावनी देनी चाहिए—

ऐसे चित्त कर कृपा, त्याग तू अपनी चालहि ।

सिर पर नाचत खड़ा जान तू ऐसे कालहि ॥

ये इन्द्रियगन निष्ठुर, यान मत इनको कहिबौ ।

शांत भाव कर प्रहन सीख कठिनाई सहिबौ ॥

निजमति सरंग सम चपल तजि नाशवान जग जानिये ।

जाने करहु तामु इच्छा कछुक शिब-स्वरूप उर आनिये ॥

चित्त से कहा है—अरे मन ! अब तो तू अपनी कुचाल छोड़ और यह समझ कि मेरे सिर पर काल खड़ा नर्तन कर रहा है। देख, ये इन्द्रियां अत्यन्त निष्ठुर हैं अतः इनका कहना मानकर पापों का बंध मत कर ! तू सम-भाव

धारण कर और परीपहों को जीतने की आदत डाल । मन की इच्छाओं को तरंगों के समान चपल मानकर उनके वश में मत हो तथा कुछ समय ईश-चिन्तन में लगा ।

वस्तुतः किसी व्यक्ति के पास अपार वैभव है, लोग बड़ा आदमी मानकर उसका सम्मान करते हैं, बड़े परिवार का वह स्वामी है, तथा सदा ऐश्वर्य में खेलता है, किन्तु अगर उसे अपने जीवन को सफल बनाने का ध्यान नहीं है और आत्म-कल्याण के उद्देश्य को लेकर वह साधना नहीं करता है तो उसका समस्त वैभव व्यर्थ है । धर्म-साधना के अभाव में उसकी भोग लिप्सा उसे ले डूबने वाली है । जिन इन्द्रिय सुखों और विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य अपने अमूल जन्म को व्यर्थ खोकर भी सफल मानता है, उनके विषय में भगवान् महावीर क्या कहते हैं ?

खणमित्त सोक्खा बहु कालदुक्खा,
पगामदुक्ख, अणिगामसुक्खा ।
संसार मोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४-१३

अर्थात्—यह काम भोग क्षणभर सुख देने वाले हैं और चिरकाल तक दुख देने वाले हैं । उनमें सुख थोड़ा है और दुख बहुत अधिक है । काम भोग जन्म-मरण से छुटकारा पाने के विरोधी हैं, मोक्ष सुख के परम शत्रु हैं तथा अनर्थों की खान हैं ।

इन भोगों को भोगते रहने पर भी कभी तृप्ति नहीं होती । एक शायर ने भी कहा है ।—

हजारों ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पै दम निकले ।
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले ॥

सुप्रसिद्ध शायर 'गालिब' का यह कथन है कि हृदय में हजारों तपन्नाएँ हमेशा बनी रहती हैं और उनके पूरी होते जाने पर भी इतनी अधिक बची रहती हैं कि हर समय उन्हें पूरी करने की इच्छा बनी ही रहती है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि विषय योग अतृप्तिकारक हैं । इनका जितना भी सेवन किया जाय उतनी ही व्याकुलता अधिक बढ़ती है । इसलिये भव्य प्राणी इनसे विमुख हो जाते हैं तथा अपने हृदय में से विषय लालसा को जड़ को ही उखाड़ फेंकते हैं । परिणाम यह होता है कि वे निराकुल होकर धर्माश्रयण करते हैं तथा साधना के पथ पर अग्रसर होते चले जाते हैं । वे भली-भाँति समझ लेते हैं कि सच्चा सुख बाहर नहीं है, अंदर ही है । एक कवि ने बड़ी सुन्दर बात कही है :—

वह पहलू में बँठे हैं और बबगुमानी,
लिये फिरती मुझको कहीं का कहीं है ।

शायर का कहना है—खुदा तो मेरे दिल के अन्दर ही छिपा बैठा है पर मेरी नासमझी उसे पाने के लिये न जाने कहीं-कहीं भटकाती है ।

बात एक ही है । आत्मा ही अपने शुद्ध स्वरूप में परमात्मा है तथा आत्मा में ही अनंत सुख और अनंत शांति विद्यमान है । इसलिये बाहर परमात्मा की तथा सच्चे सुख की खोज करना बूथा है । सच्चा सुख तभी प्राप्त हो सकेगा जब हम संसार के सभी पदार्थों को क्षणभंगुर मानकर आत्मा में रमण करेंगे ।

और ऐसा तभी होगा जबकि हम संसार को असार समझ लेंगे । हमारी यह दृष्टि ही सम्प्रज्ञान का मुख्य लक्षण साबित हो सकेगी । दूसरे शब्दों में संसार को असार समझ लेने पर ही हमारी बुद्धि सच्चे ज्ञान से मेल खाएगी और हमारे कर्म साधना के राजमार्ग पर अडिग रूप से बढ़ सकेंगे । ★



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय की पच्चीसवीं गाथा में भगवान ने फरमाया है—क्रियारुचि किसे कहना ? क्रियारुचि का स्वरूप क्या है ? इसी संदर्भ में आगे बताया है दर्शन और ज्ञान के विषय में अभिरुचि रखना क्रियारुचि है किन्तु दर्शन और ज्ञान में रुचि रखना ही क्रियारुचि की पूर्णता नहीं है, उसके साथ चारित्र्य का भी संबंध है। चारित्र्य मूल वस्तु है और जो अपने चारित्र्य को उच्च तथा पवित्र रख सकता है, वही दर्शन और ज्ञान का पूर्णतया लाभ उठाता हुआ अपनी आत्मा का उद्धार कर सकता है। और इसके विपरीत जो चारित्र्यिक दृढ़ता नहीं रख पाता उससे विचलित हो जाता है, वह दर्शन और ज्ञान के होते हुए भी अपने उच्च ध्येय में सफल नहीं हो सकता। कहा भी है :—

“यथा खरो चंदनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु चंदनस्य ॥”

जैसे चंदन का बोझा लादने वाला गधा केवल बोझ का ही अनुभव करता है, चंदन की सुगन्ध से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही चारित्र्यहीन व्यक्ति मात्र ज्ञान का बोझा ढोने वाला ही कहा जाता है उसे अपने ज्ञान से तनिक भी लाभ हासिल नहीं होता।

इसी बात को दूसरे शब्दों में भी समझाया जा सकता है कि—ज्ञान की गति क्रिया है और :—

“गतिं बिना पथज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमोप्सितम् ॥”

मार्ग का ज्ञान होने पर भी व्यक्ति अगर गति न करे अर्थात् चले नहीं तो अपने अभीष्ट नगर में नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार अपार ज्ञान हासिल कर लेने पर भी साधक अपने साधना-पथ पर क्रियारूप गति न करे तो शिवपुर कैसे पहुँच सकता है ?

इस प्रकार ज्ञान के साथ क्रिया आवश्यक है और क्रिया के साथ ज्ञान। क्योंकि व्यक्ति के पैरों में गति हो, वह खूब इधर-उधर चलता फिरता हो, किन्तु अपने निदिष्ट मार्ग का उसे ज्ञान न हो तो भी वह कोल्हू के बैल के समान या तो गति कर करके भी वहीं रहेगा अथवा इधर-उधर भटक जाएगा। इसलिए

ज्ञान का होना भी अनिवार्य है और हम इसी उद्देश्य को लेकर ज्ञान-प्राप्ति के कारणों का विवेचन कर रहे हैं। ज्ञानप्राप्ति के ग्यारह कारण हैं जिनमें से आठ कारणों को हम भली-भाँति समझा चुके हैं और आज नवें कारण के विषय में कहना है। ज्ञान-प्राप्ति का नवाँ कारण है— सीखे हुए ज्ञान पर पुनः पुनः विचार करना। जो ज्ञान हासिल किया जाय उसका बार-बार चिंतन करने पर ही वह वृद्धि को प्राप्त होता है।

बहीखाता पलटते रहो

आप लोगों को आपके बुजुर्ग शिक्षा देते हैं—“सदा बहीखाते के पन्ने उलटते रहो।” वे कहते हैं—“बहियारा पन्ना उलटे तो सबा तोलो सोना लादे।”

यहाँ सोने से मतलब सोना ही नहीं है। क्योंकि बहीखाते में सोने की डलियाँ रखी हुई नहीं होतीं। उनका भाव यह होता है कि— बही के पन्ने उलटते रहने से ध्यान रहता है कि अमुक से हमें रकम लेनी है या अमुक में रकम डूब रही है। कभी-कभी तो समय पर रकम न माँगी जाय तो मियाद समाप्त हो जाने से फिर मिलनी संभव नहीं होती। इसीलिये बहीखाते उलटने का आदेश आपको दिया जाता है कि आपको देने व लेने का बराबर ध्यान रहे।

शास्त्रों के अनुसार भी जो कर्ज लिया जाता है वह अवश्यमेव चुकाना पड़ता है। ऋण, वीर और हत्या इन तीनों का फल भुगते बिना छुटकारा कदापि संभव नहीं है। अतः इनसे बचने के लिए भी अपने प्रतिदिन के कार्य-कलाप और आचरण पर रात्रि को अवश्यमेव चिंतन करना चाहिये। उसे भी एक तरह से अपने व्यवहार का बहीखाता ही मानना चाहिये। अगर आप अपने प्रतिदिन के कार्यों का लेखा-जोखा रखेंगे तो आपको अपनी भूलों का तथा किये गए अनुचित कार्यों का पता चल जाएगा और उनके लिए पश्चात्ताप करते हुए आप भाविष्य में उनसे बचने का प्रयत्न करेंगे।

तो हमारा आज का विषय तो यह है कि सीखे हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति करते रहें तो ज्ञान की वृद्धि होती है। शास्त्रों में बताया गया है कि गौतम-स्वामी ने भगवान महावीर से अनेकों प्रश्न पूछ-पूछकर अपने ज्ञान की वृद्धि की। प्रश्न भी थोड़े नहीं, पढ़ने में आया है कि छत्तीस हजार प्रश्नों तर भगवान और गौतम स्वामी के बीच हुए। जम्बू स्वामी भी सुधर्मा स्वामी के सम्मुख एक शास्त्र पूरा करते ही दूसरा पढ़ने की आज्ञा अद्विलम्ब माँगते थे। यह सब ज्ञान-प्राप्ति और ज्ञान वृद्धि की जिज्ञासा के कारण ही संभव होता है। जिस व्यक्ति में ज्ञान प्राप्त करने की प्रबल उत्कंठा होती है, वह अपना

अधिक से अधिक समय ज्ञानाराधन में ही लगाता है। भले ही वह उसका पढ़ा हुआ ही क्यों न हो, वह पुनः-पुनः उसका स्वाध्याय करके भी उतना ही प्रसन्न होता है।

सब जणिबा प्रवर्त्त

अहमदनगर में एक बड़े अनुभवी, ज्ञानी एवं धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा रखने वाले श्रावक थे। उनका नाम किशनलालजी मुथा था। बहुत पहले मैंने भी उनसे कुछ शास्त्रों का पठन किया था।

जिन दिनों मैं उनसे शास्त्रीय अध्ययन करता था, वहीं पर एक विदुषी और साध्वी शिरोमणि स्थविरा महासती रामकुँवरजी भी विराज रहीं थीं। पन्द्रह सोलह साध्वियों में वह सबसे बड़ी थीं, स्वयं भी बहुत विदुषी थीं। किन्तु जब भी मैं मुथाजी से शास्त्र पढ़ता वे बयोवृद्धा सतीजी भी उसी शास्त्र की एक प्रति लेकर बैठ जातीं तथा पढ़े जाने वाले विषय की पुनरावृत्ति किया करतीं थीं।

तारीफ की बात तो यह है कि उनसे छोटी एक सती थीं, जब उनसे कहा गया कि तुम भी शास्त्र को लेकर बैठो ताकि कुछ न कुछ लाभ हासिल हो सके तो वे बैठतीं तो क्या, बोलीं—“म्हारे तो सब जाणिया प्रवर्त्त।” अर्थात्—‘भुझे तो सबकी जानकारी है।’

सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनसे बड़ी, ऊँचे दर्जे की तथा विद्वान सती श्री रामकुँवरजी महाराज तो सब जानकारी होते हुए भी शास्त्र लेकर बैठ जातीं और छोटी सती कहने लगीं—‘म्हारे तो सब जाणिया प्रवर्त्त। भले ही उन विषयों की उन्हें जानकारी होगी, किन्तु अगर वही विषय पुनः दुहरा लिया जाता तो क्या नुकसान था ? और ज्ञान पक्का ही तो हो जाता।

मंदसौर में एक गौतम जी वाधिया नाम के सुश्रावक थे। घर के सम्पन्न ही क्या लक्षाधीश थे किन्तु उनकी धर्म में अटूट श्रद्धा थी। उन्हें भगवती सूत्र सुनने का बड़ा शौक था। जो भी संत उनके यहाँ पधारते वे उनसे प्रार्थना करते—“भगवन् ! भगवती सूत्र सुनाइये। न जाने जीवन में कितनी बार उन्होंने भगवती सूत्र सुना और समझा होगा। क्या जरूरत थी उन्हें बार-बार उसे सुनने की ? केवल इसीलिए तो सुनते थे कि उनका सीखा हुआ ज्ञान और की हुई जानकारी कहीं कम न हो जाय। वास्तव में ही ज्ञान के सच्चे पिपासु जिनवाभी रूपी अमृत का पान करके कभी भी नहीं अघाते। वे जिनवाणी रूप शारदा से पुनः पुनः प्रार्थना करते हैं :—

तेरी ही कृपा तें मति-तिमिर विनसि जाय,
तेरी ही कृपा तें ज्ञान-भानु को उजास होय।

तेरी ही कृपा तें दूर कुमति पलाय जाय,
 तेरी ही कृपा तें हित सुमति प्रकाश होय ।
 तेरी ही कृपा तें गण बोध टलि जाय सब,
 तेरी ही कृपा तें वर काव्य को अभ्यास होय ।
 तेरी ही कृपा तें विद्या बुद्धि बल बधे माय,
 अमीरिख सकल सकल उर आस होय ।

पूज्यपाद श्री अमीरुषि जी महाराज को कितनी भाव भरी प्रार्थना है ?
 कहते हैं—“हे जिन वाणी माता ! तू मुझ पर कृपा कर । क्योंकि तेरी कृपा
 होने से ही बुद्धि पर छाया हुआ अंधकार लुप्त हो सकता है तथा ज्ञान रूपी
 सूर्य का प्रकाश आत्मा में फैल सकता है ।”

“तेरी कृपा से ही दुर्बुद्धि का पलायन हो सकता है तथा उसके स्थान पर
 सुबुद्धि अपने दिव्य आलोक सहित मेरे मन में प्रवेश कर सकता है ।”

“तेरी कृपा होने पर ही मेरे समस्त दोष नष्ट हो सकते हैं तथा मुझे
 सुन्दर एवं आत्म-हितकारी काव्यों का अभ्यास हो सकता है ।”

“अधिक क्या कहूँ ? हे देवी ! तेरी कृपा ही जाय तो मेरा विद्या और
 बुद्धि का बल बढ़ सकता है और मेरे हृदय की समस्त कामनाएँ फलीभूत हो
 सकती हैं ।”

कवि ने आगे कहा है—जिन-जिन पर तेरी कृपा हुई है वे सभी इस संसार
 सागर से पार हो गये हैं तथा अपने जीवन को सफल बना गए हैं ! मैं भी
 तुम्हारी कृपा का हृदय से अभिलाषी हूँ क्योंकि :—

तेरी ही कृपा तें घने जडमति दक्ष बने,
 तेरी ही कृपा तें शुभ जग जस छायो है ।
 तेरी ही कृपा तें श्रुतसागर को पावे पार,
 तेरी ही कृपा तें गणराजा पद पायो है ।
 तेरी ही कृपा तें सब आगम सुगम होय,
 आगम में तेरी ही अखंड बल गायो है ।
 सुमति बढ़ाय दे हटाय दे अज्ञान तम,
 अमीरिख जननी शरण तव आयो है ।

कहते हैं—“मैंने सुना है और पढ़ा है कि तेरी कृपा से महामूर्ख भी पंडित
 बन गये हैं और सम्पूर्ण जगत में अपने यश का प्रसार कर गए हैं ।”

“तेरी कृपा से ही अनेक जडमति श्रुत-सागर में गोते लगाकर अपूर्व निधि
 प्राप्त कर चुके हैं और गणराज कहलाए हैं ।”

‘मैं और कुछ नहीं जानता पर इस बात पर अटूट विश्वास रखता हूँ कि
 अगर तेरी कृपा हो जाय तो समस्त आगम मेरे लिए अत्यन्त सुगम और दूसरे

शब्दों में कर कंकणवत् हो सकते हैं क्योंकि आगमों में तेरी ही अद्वितीय शक्ति का वर्णन है ।”

कहा भी है :—

‘सर्वस्थ लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्वं एव सः ।’

शास्त्र सबके लिए नेत्र के समान हैं, जिसे शास्त्र का ज्ञान नहीं वह अन्धा है ।

इसीलिए कवि ने अन्त में कहा है—‘हे जिनवाणी माता ! मैं और तो कुछ नहीं जानता, बस तेरी शरण में आ गया हूँ । अतः अब तू ही मेरे अन्त-मनिस में से अज्ञानान्धकार को दूर कर तथा ज्ञान की ज्योति जलाकर इसमें सुमति की स्थापना कर ।’

महातप स्वाध्याय

बन्धुओ, जिनवाणी अथवा आगम के वचन ही आत्मा का हित करने वाले हैं । आगमों का पुनः पुनः पठन या स्वाध्याय ज्ञान की अभिवृद्धि करता है तथा दानादि अन्य समस्त शुभ क्रियाओं की अपेक्षा अनेक गुना अधिक फल प्रदान करता है । कहा भी है :—

‘कोटिदानादपि श्रेष्ठं स्वाध्यायस्य फलं यतः ।’

मनोयोग पूर्वक उत्तम ग्रन्थों का स्वाध्याय एवं चिंतन-मनन करोड़ों की सम्पत्ति का दान करने की अपेक्षा भी अधिक उत्तम है ।

वस्तुतः स्वाध्याय अत्यन्त शुभ-भावनाओं के साथ मनोयोगपूर्वक किया जाना चाहिये । अन्यथा वह केवल तोता रटन्त भी कहलायेगा तथा आत्मा में रंचमात्र भी शूद्धता नहीं ला सकेगा । क्योंकि :—

‘पठनं मननविहीनं पचनविहीनेन तुल्यमशनेन ।’

चिंतन और मनन रहित वाचन ऐसा ही है, जैसा कि पाचन क्रिया से रहित खाया हुआ भोजन ।

मानव जो भी आहार करता है वह पच जाने पर ही ऐसा रस बनाता है जो कि शरीर को पुष्ट करे । पाचनशक्ति के अभाव में उदरस्थ की हुई प्रत्येक वस्तु शरीर को लाभ के बदले हानि पहुँचाती है । इसी प्रकार पढ़ा जाने वाला विषय आहार के समान है और उस पर चिंतन-मनन करना पाचन क्रिया कहला सकती है । इस क्रिया के अभाव में पठित विषय सारहीन और निरर्थक साबित होता है । और समय की बर्बादी अथवा हानि ही पत्ले पड़ती है ।

इसीलिए स्वाध्याय करना जिस प्रकार आत्मा को खुराक देने के समान अनिवार्य है, उसी प्रकार उस पर चिंतन-मनन करना उस खुराक को पचाकर ऐसा रस बनाना है, जिससे आत्मा शुद्ध और दृढ़ बन सके ।

स्वाध्याय में बड़ी भारी शक्ति छिपी हुई है इसीलिए इसे महान तप माना गया है। आज हम देखते हैं, तप का अर्थ लोग केवल उपवास करने से ही लेते हैं और तप के नाम पर एक, दो, आठ, दस, महीने और उससे भी अधिक दिन लगातार उपवास करके अपने आपको तपस्वी मान लेते हैं। इसके अलावा अनेक साधु-महात्मा पंचाग्नि तप करके अपने आपको घोर तपस्वी साबित करते हैं। किन्तु हमें भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि केवल शरीर को भूखा रखकर या उसे अग्नि से तपाकर ही हम तप करने के उद्देश्य को पूर्ण नहीं मान सकते। यद्यपि इस प्रकार के तपों को भी मैं व्यर्थ नहीं कहता अगर समभाव तथा निरहंकार होकर करने पर ये सभी अपना-अपना फल अवश्य प्रदान करते हैं तथा यह भी उत्तम है, किन्तु सबसे बड़ा तप और सर्वोत्तम फल देने वाला तप स्वाध्याय ही है।

धर्मग्रन्थों का तथा आगमों का स्वाध्याय करने से बुद्धि निर्मल होती है, ज्ञान की वृद्धि होती है तथा वस्तु तत्वों की जनकारी के साथ-साथ संसार की असारता और भोगों की अनिष्टता का मन को भान होता है। इसके परिणाम स्वरूप प्राणी संसार में रहकर भी उससे अलिप्त रहता है तथा भोगों को भोगता हुआ भी उनमें अनासक्त भाव रखकर कर्म-बन्धनों से बचा रहता है। ऐसा जोव प्रतिक्षण सांसारिक सुखों का त्याग करने अथवा मृत्यु का स्वागत करने के लिये तैयार रहता है। वह अपने मन को प्रतिपल यही उद्बोधन देता रहता है—

अति चंचल ये भोग, अगतहं चंचल तैसो ।

तू क्यों भटकत मूढ़ जीव संसारी जैसो ॥

आशा फाँसी काट चित्त निर्मल हूँ रे ।

साधन साधि समाधि परम निज पद को हूँ रे ॥

करिरे प्रपीत मेरे वचन दुरि रे तू इह ओर को ।

छिन यहै-यहै दिनहू भलां निज राखै कहु घोर को ॥

मन को कितनी सुन्दर चेतावनी दी गई है कि—“जैसा यह संसार चंचल अथवा अस्थिर है, इसी प्रकार संसार के भोगोपभोग भी अस्थिर हैं अतः मेरे मूढ़ मन; तू क्यों इन सब में भूला हुआ भटक रहा है? मेरी तो तुझे यही सीख है कि तू अभिलाषाओं के फंदे से छूटकर अपने आप को निर्मल बना तथा समाधि भाव रखता हुआ आत्म-साधना करके अपने निज-स्वरूप को और दूसरे शब्दों में परमात्म पद को प्राप्त कर।”

पुनः कहा है—“हे मन ! तू मेरे वचनों पर विश्वास कर कि यह संसार एक दिवस के समान है जो प्रतिपल अस्त होने की ओर बढ़ता है। इसलिए तू इससे विमुक्त होगा।”

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि जो भव्य प्राणी सदा स्वाध्याय करते हैं वे संसार की असारता को भली-भाँति समझ लेते हैं तथा अपने मन को इसी प्रकार उद्बोधन देते हुये उसे विशुद्ध बनाये रखते हैं। और ऐसी आत्माएँ ही अन्त में मुक्ति-लाभ करती हैं।

स्वाध्याय के प्रकार

अब हमें यह देखना है कि स्वाध्याय कौन सी क्रियाओं के करने से अपने सम्पूर्ण अर्थ को साबित करता है? स्वाध्याय केवल ग्रन्थों के पुनः-पुनः पढ़ लेने मात्र को ही नहीं कहते हैं। उसके भी पाँच प्रकार के भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—वाचना, पृच्छना पर्यटना, अनुप्रेक्षा तथा धर्मकथा।

वाचना—वाचना का अर्थ है—शास्त्र की वाचनी लेना या पाठ लेना। हम अपने आप कितना भी अध्ययन करें पर विषय को जानवानों के समझ ए बिना कदापि उसे उसके सही रूप में नहीं समझ सकते। इसलिए विनय पूर्वक गुरु से पाठ लेना चाहिए। वही वाचना अर्थात् वाचनी लेना कहा जाता है।

पृच्छना—यह स्वाध्याय का दूसरा भेद है। गुरु से पाठ ले भी लिया किन्तु कहीं पर कोई बात समझ में नहीं आई और किसी प्रकार की शंका रह गई तो पाठ लेने का कोई लाभ नहीं होगा, उलटे शंका का शल्य चित्त को भ्रमित कर देगा या उसमें किसी प्रकार की अश्रद्धा का जन्म हो जाएगा। इसलिए लिए हुए पाठ में कहीं भी कोई बात समझ में आने से रह गई हो अथवा किसी प्रकार का सन्देह जाग्रत हुआ हो तो मन ही मन में तर्क-वितर्क करने की अपेक्षा उसी समय अपने गुरु अथवा आचार्य से शंका का समाधान कर लेना चाहिये। इसी को पृच्छना या पूछना कहते हैं।

पर्यटना—स्वाध्याय का तीसरा भेद पर्यटना है। पर्यटना का अर्थ है लिए हुए पाठ की बारम्बार पुनरावृत्ति करना। आज के युग में हमारी बुद्धि ऐसी नहीं है कि किसी बात को हमने एक बार पढ़ा या सुना तो वह याद हो गई और उसे फिर कभी भूलें ही नहीं।

आप महाजन हैं, महाजनों को सदा हिसाब-किताब रखना पड़ता है और बहीखानों में रकमें जोड़नी, घटानी व बढ़ानी पड़ती हैं। इसके लिए आप बचपन में कितने पहाड़े, अद्वे, पौने, सवाये, ड्यौड़े और ढाये रटते हैं? आपके माता-पिता आपके सीखे हुए अन्य विषयों पर अधिक ध्यान नहीं देते। किन्तु पहाड़े और हिसाब-किताब में तनिक भी गलतियाँ नहीं रहने देते। इसी प्रकार अंग्रेजी पढ़ते समय आपको एक-एक शब्द का मायना घंटों याद करना पड़ता है। संस्कृत भाषा भी सरल नहीं है, जब तक शब्दों के रूप और धातुएँ आप खूब याद नहीं कर लेते हैं तब तक उसमें भी प्रगति नहीं हो सकती। इस प्रकार ये सांसारिक लाभों को प्रदान करने वाली वस्तुएँ भी जब आप रटते

हैं, बार-बार दोहराते हैं तो फिर मुक्ति प्रदान करने वाले आध्यात्मिक विषयों को समझने वाले आगमों और शास्त्रों को बिना बार-बार दोहराये, बिना उन पर पुनः-पुनः चिन्तन मनन किये कैसे आत्मा को निर्मल बना सकते हैं ? उन्हें भी बार-बार दोहराना आवश्यक है और इसी को पर्यटना कहते हैं ।

अनुप्रेक्षा—यह स्वाध्याय का चौथा अंग है । बार-बार पर्यटना करके ज्ञान की जो बातें याद की जाती हैं उन पर गम्भीर विचार करना और उन पर नाना प्रकार से मनन करना अनुप्रेक्षा कहलाता है । बिना विचार किये और मनन किये केवल शब्दों और वाक्यों की याद कर लेना ही काफी नहीं होता, जब तक कि उन्हें भावनाओं में रमा नहीं लिया जाये । जब आगमों की शिक्षाएँ हमारे विचारों में, भावनाओं में और हृदय में रम जाती हैं तभी उनका सच्चा लाभ आचरण के द्वारा उठया जाता है ।

धर्मकथा—यह स्वाध्याय का पाँचवाँ और अन्तिम अंग है । जब पूर्व के चारों अंगों या सीढ़ियों को व्यक्ति सफलता पूर्वक पार कर लेता है तब वह धर्मकथा करने लायक बन सकता है । धर्मकथा में व्याख्यान, उपदेश या प्रवचन कुछ भी कहा जाय, सभी शामिल हो जाते हैं । किन्तु धर्मोपदेश देना सहज नहीं है, अत्यन्त कठिन कार्य है । उपदेश देने वाले के सामने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं । प्रथम तो आध्यात्मिक विषयों को व्यवस्थित ढंग से जनता के सामने रखना, उसे सरल से सरल ढंग से समझना, श्रोताओं के द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देना तथा विविध प्रकार की शंकाओं का निवारण करना, यह सब धर्मकथा करने वाले के लिए आवश्यक है, दूसरे अपने विचारों को प्रभावोत्पादक रूप में प्रगट करना उससे से भी अधिक आवश्यक या अनिवार्य है । कर्षों के अच्छी से अच्छी और सत्य बात को भी अगर लोगों के सामने उत्तम तरीके से न रखी जाय तो उसका उतना प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ना जितना साधारण बात को भी प्रभावोत्पादन तरीके से रखी जाने पर पड़ता है । इसलिये धर्मकथा करने वाले को स्वाध्याय के पूर्व वर्णित चारों अंगों में पूर्ण परिपक्वता हासिल करके ही धर्मकथा पर आना चाहिए ।

वैसे देखा जाये तो धर्मोपदेश करना स्वाध्याय के अन्य सभी अंगों की अपेक्षा अनेक गुणा अधिक महत्वपूर्ण है । इसके द्वारा अनन्त कर्मों की निर्जरा होती है । क्योंकि जहाँ स्वाध्याय के चार अंगों से केवल अपना ही लाभ होता है वहाँ धर्मोपदेश से असंख्य अन्य व्यक्तियों को लाभ हो सकता है ।

राजा परदेशी जिसके हाथ सदा खून से सने रहते थे. एक दिन के धर्मोपदेश सुनने से बदल गया, छः व्यक्तियों की हत्याएँ रोज करने वाला अर्जुनमाली धर्मोपदेश से ही हत्याएँ करना छोड़कर मुनि हो गया और

डाकू अंगुलिमाल भगवान के उपदेश से अपनी आत्म-साधना की ओर बह चला ।

दोनों हाथ लड्डू

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्मकथा अथवा धर्मोपदेश का बड़ा भारी महत्व है और यह स्वाध्याय का सबसे महत्वपूर्ण अंग और महातप है । कई व्यक्ति कह देते हैं—महाराज ! सैकड़ों हजारों व्यक्ति उपदेश सुनते हैं पर उसके अनुसार करते क्या हैं ? बस आप बोलते रहते हैं और वे दस्तूर के समान सुनते हैं तथा समय होते घर के लिए रवाना हो जाते हैं ।

अब ऐसे व्यक्तियों को कैसे समझाया जाये ? हम केवल यही कह सकते हैं—“अरे भाई ! तो व्यक्तियों में से अगर दो व्यक्तियों ने भी जिन-वचनों को आत्म-सात् कर लिया तो कितनी अच्छी बात है । अट्ठानवें व्यक्तियों को जाने दो । जिनके पल्ले पड़ा वही बहुत है ।

इसके अलावा अगर सब लोग भी नहीं समझते हैं तो भी धर्मोपदेश देने वाले को तो लाभ होगा ही । उनकी ज्ञान वृद्धि होगी और कल्याणकारी भावनाओं को दृढ़ता प्राप्त हो सकेगी । साथ ही वह समय शुभक्रिया में व्यतीत होगा । और क्या चाहिए ? धर्मोपदेश से श्रोता और बक्ता दोनों को ही लाभ होता है हानि किसी की नहीं होती । श्रोता जिस समय को केवल बातों में, अनीति युक्त व्यापारों में अथवा अन्य इसी प्रकार के कर्म बन्धनों को बढ़ाने वाले कर्मों में बर्बाद करते, वह तो नहीं करेंगे । उतने समय में उनके परिणाम कुछ तो स्थिर रहेंगे ही । इसलिए धर्मकथा प्रत्येक दृष्टि से लाभकारी है ।

अन्त में केवल इतना ही कहना है कि प्रत्येक मुमुक्षु, प्राणी को प्रतिदिन थोड़ा सा समय भी अवश्यमेव सत्स्वाध्याय तथा चिन्तन मनन में बिताना चाहिए । वैसे कहा गया है—

“चतुर्वारं विघातव्यः स्वाध्यायोष्यमहनिशम् ।”

रात और दिन में सात्त्विक ग्रन्थों का स्वाध्याय चार बार करना चाहिए । लोकमान्य तिलक ने तो कहा है—

“मैं नरक में भी उत्तम पुस्तकों का स्वागत करूँगा क्योंकि इनमें वह शक्ति है कि जहाँ ये होंगी वहाँ अपने आप ही स्वर्ग बन जाएगा ।”

इसलिए हमें अन्य अनिवार्य क्रियाओं के समान ही स्वाध्याय को भी अनिवार्य कार्य मानना चाहिए तथा कितनी भी व्यस्तता होने के बावजूद भी कुछ समय इसके लिए निकालना चाहिए । अन्यथा इस संसार के कार्य तो कभी सम्पन्न होने वाले हैं नहीं; रात-दिन हाथ-हाथ करता हुआ प्राणी केवल अर्थोपार्जन और उसके लिए भी झूठ, फरेब, अनीति तथा धोखा देने के फल

स्वरूप माना प्रकार के पापों का उपाजन करता हुआ तथा लोगों की दृष्टि में हृदयहीन साबित होता हुआ इस जन्म को खो देगा ।

कवि श्री अमरचन्द जो महाराज ने कहा भी है :—

छल-छद्म अनेक प्रकार रचे,
सदसत्य—विवेक बिनष्ट भया ।
सबके दिल में बन शल्य चुभा,
न कदापि करी तिलमात्र दया ।
मदमत्त बना महिषासुर-सा,
बस पीकर विषयों की धिजया ।
अपना-पर का हित साध सका-
कुछ भी नहि, व्यय नृजन्म गया ।

तो बन्धुओ, यह दुर्लभ मानव-जन्म पाकर उसे हमें इस तरह व्यर्थ ही नहीं खो देना है । वरन् उसका जितना भी संभव है लाभ उठाना है । और वह धर्मग्रन्थों को पढ़ने से तथा उनका पुनः-पुनः स्वाध्याय करने से ही संभव हो सकेगा । वही बात जो एक बार पढ़ने अथवा सुनने से समझ में नहीं आती, दुबारा तिवारा पढ़ने से सहज ही हृदयंगम हो जाती है । आप परीक्षा देते समय प्रश्न पत्र को केवल एक बार ही नहीं पढ़ते, बार-बार पढ़ते हैं । क्यों ? इसीलिए कि पूछी हुई बात को भली-भाँति समझ सकें ।

फिर मोक्ष प्रदान करने वाला आध्यात्मिक विषय आप एक बार पढ़ने से ही सहज में कैसे समझ सकेंगे । इसीलिये कहा गया है प्रतिदिन स्वाध्याय करो । जो पढ़ नहीं सकते उन्हें सुनने की आदत डालनी चाहिए । उससे भी ज्ञान लाभ होता है । कहने का अभिप्राय केवल यही है कि जैसे भी बन सके स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये और उसे आचरण में उतारकर आत्मा को ऊँचाई की ओर ले जाना चाहिए । तभी उसका कल्याण होना सम्भव होगा ।





धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनो,

हमारा विषय ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारणों को लेकर चल रहा है। कल हमने इनमें से नवें कारण 'स्वाध्याय' पर स्पष्टीकरण किया था और आज दसवें कारण पर विवेचन करना है।

ज्ञान-प्राप्ति का दसवाँ कारण है—ज्ञानवंत के पास रहकर ज्ञान हासिल करना। यह बात अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। अगर किसी ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक को ज्ञानवंत का समागम नहीं हुआ और वह अनुपयुक्त व्यक्ति के पास ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से पहुँच गया तो उसे लाभ के बदले घोर हानि उठानी पड़ेगी। इसलिये ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारणों को जोर देकर यह कारण बताया गया है कि ज्ञानवंत के समीप रहकर ही ज्ञान प्राप्त करें। प्रज्वलित दीपक से ही दीपक जलता है, बुझे दीपक के पास हजारों दीपक पड़े रहें तब भी प्रकाश नहीं मिलता।

आज के ज्ञानदाता

आधुनिक युग में तो हमें कदम-कदम पर ज्ञानदाताओं की प्राप्ति होती है। ज्ञान के नाम पर शिक्षा देने वालों की आज तनिक भी कमी नहीं है। स्कूलों और कालेजों में शिक्षा देने वाले सभी अपने आपको ज्ञानदाता ही मानते हैं। किन्तु ज्ञान के नाम पर विभिन्न विषयों को रटाकर विश्वविद्यालयों की डिगिरियाँ दिलवा देना ही क्या ज्ञान लाभ करना कहलाता है? जिन कतिपय प्रकार की जानकारियों को प्राप्त कर ऊँची-ऊँची नौकरियाँ मिल भी जाती हैं और अधिक से अधिक तनखाह मिलने लगती है क्या उसे ही ज्ञान हासिल करना कहा जा सकता है? नहीं, अगर ज्ञान प्राप्त करके भी मानव सच्चा मानव नहीं बन सका, उसमें आत्म विश्वास उत्पन्न नहीं हो सका उसके अन्दर छिपी हुई महान् शक्तियाँ जागृत नहीं हो सकीं तथा उसका चरित्र सर्वगुण सम्पन्न नहीं बन सका तो वह अनेक विद्याओं का ज्ञाता और अनेक भाषाओं का जानकार विद्वान भी ज्ञानी नहीं कहला सकता। एक कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से यही बात कही है:—

मतिमान हुए धृतिमान हुए,
 गुणवान हुए बहु खा गुरु सातें ।
 इतिहास भूगोल खगोल पढ़े नित,
 न्याय रसायन में कटी रातें ॥
 रस पिगल भूषण भावभरी,
 गुण सोख गुणी कविता करी घातें ।
 यदि मित्र चरित्र या चारू हुआ,
 धिक्कार है सब चतुराई की बातें ॥

पद्य का अर्थ आप समझ ही गये होंगे कि कोरे शब्द और भाषाओं के पांडित्य से आत्मा का तनिक भी कल्याण नहीं होता । इतिहास, भूगोल, खगोल, न्यायशास्त्र तथा रस अलंकारों को रिपुर्ण भाषा बोलने और लिखने से भी कोई लाभ नहीं है अगर ज्ञान का फल जो कि चरित्र या सदाचार है, उसकी प्राप्ति न हुई तो । ज्ञान की सार्थकता चरित्र के लाभ में निहित है । अब तक संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने पूर्व कर्मों की निर्जरा करके मुक्ति लाभ किया है वह अपने सुदृढ़ चरित्र की बदौलत ही किया है । एक संस्कृत कहावत है—

सर्वे पदा हस्तिपदे निम्ननाः

अर्थात्—हाथी के पैर में सभी पैरों का समावेश होता है, इसी प्रकार सदाचार में सभी पवित्रताओं का तथा समस्त गुणों का समावेश होता है ।

किन्तु आज के ज्ञानदाता ज्ञानार्थी को शिक्षित और विद्वान् बना देते हैं, उन्हें अध्यापक, वकील, मजिस्ट्रेट या इसी प्रकार के अन्य पदवीधारी भी बना सकते हैं किन्तु उन्हें सदाचारी नहीं बना सकते । वे किताबी ज्ञान देते हैं किन्तु आचरण की शुद्धता प्रदान नहीं कर सकते । इसका कारण यही है कि वे स्वयं ही दृढ़ आचारी नहीं होते, आचरण की महत्ता एवं उसकी गम्भीरता पर विश्वास नहीं रखते । और इससे स्पष्ट है कि जिस बात को वे स्वयं ही दृढ़तापूर्वक नहीं अपना सकते औरों में कैसे डाल सकते हैं ?

सारांश कहने का यही है कि आज अधिकतर ज्ञान के नाम पर जो दिया जाना है वह ज्ञान नहीं कहला सकता केवल शिक्षा कहलाती है जो सांसारिक लब्धियों को प्राप्त कराने में सहायक बनती है । देखा जाय तो शिक्षक का अपना चरित्र ही ऐसा होना चाहिये जो मूक शिक्षक का कार्य करे, जिसे देखकर शिक्षार्थी की श्रद्धा जागृत हो जाय । अन्यथा जो शिक्षा व्यक्ति को निर्बलों को सताने के लिये प्रेरित करे, जो उसे धरती और धन का गुलाम बनाए तथा भोग-विलास में डुबाये, वह शिक्षा भी नहीं कहला सकती, उसे ज्ञान कहना तो महामूर्खता है ।

सच्चा ज्ञानी कौन ?

प्रश्न उठता है कि जब स्कूलों और कालेजों में प्राप्त किया हुआ ऊँचा से ऊँचा ज्ञान भी ज्ञान नहीं कहलाता तो फिर ज्ञान किसे कहा जा सकता है ? इस विषय में सक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि वह ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है जिस ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो :—

‘ज्ञानान्मुक्ति प्रजायते ।’

ज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है अर्थात् इस संसार में आत्मा को पुनः-पुनः जन्म-मरण करने से द्यूटकारा मिल सकता है ।

अब जिज्ञासा होती है कि ज्ञान ऐसा क्या जादू कर देता है जिसे आत्मा संसार से मुक्त हो जाती है ? इसका समाधान यह है कि सच्चा ज्ञान वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रकाश में ला देता है । वह हमें बतलाता है कि अमुक वस्तु त्यागने योग्य है और अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य । उसे विशुद्ध सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो जाती है और विवेक उसकी आत्मा में जागृत हो जाता है जिसके कारण वह विषय-भोगों से विरक्त होने लगता है । और किन्हीं कारणों से उनका त्याग नहीं कर पाता तो, अन्तःकरण में उनमें लिप्त नहीं होता ।

कहा जा सकता है कि अगर सम्यक्दृष्टि भोगों को हेय समझता है तो उनका सर्वथा त्याग क्यों नहीं करता ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि विवेक के जागृत रहने पर भी और भोगों को हेय समझने पर भी पूर्व कर्मों के उदय से चारित्र्य का अनुष्ठान नहीं कर पाता किन्तु उसकी आत्मा में छटपटाहट रहती है । जैसे एक कंदी कारागृह में रहने पर वहाँ का कष्ट भोगता है खूबा-सूखा खाता है किन्तु प्रतिक्षण चाहता है कि कब इस कारागार से निकलूँ ।

इसी प्रकार ज्ञानी और सम्यक्दृष्टि संसार को कारागृह समझता हुआ रुचिकर न होने पर भी भोगों को भोगता है पर उसकी अभिलाषा यही रहती है कि कब इस संसार-कारागार से निकलकर मुक्त हो जाऊँ । ज्ञानी पुरुष सदा आत्मा के अजर-अमर और अविनाशी स्वरूप का विचार करता है । चिन्तन में लीन होकर वह सोचता है कि न जाने किस-किस दिशा से आये हुए अनन्त परमाणुओं का समूह यह मेरा शरीर है जो प्रतिपल नष्ट होता जा रहा है । वह विचार करता है—शरीर पुद्गलमय और आत्मा चेतनामय है, शरीर रूपी है और आत्मा अरूपी है, शरीर नश्वर है, आत्मा अनश्वर है । मैं आत्मा हूँ शरीर नहीं हूँ । शरीर के नष्ट हो जाने पर भी मेरी आत्मा ज्यों की त्यों अनन्त शक्तिशाली बनी रहेगी ।

ज्ञानी पुरुष भली-भाँति जानता है कि यह शरीर जब स्वयं मेरा नहीं है तो किसी का पुत्र, किसी का पिता और किसी का पति कैसे हो सकता है ? यह मेरा होता तो मेरे वश में रहता । मैं नहीं चाहता हूँ तब भी यह बालक से

युवा हुआ है, युवा से प्रौढ़ और वृद्धत्व की ओर चलता जाएगा। और एक दिन लोग कहेंगे :—

जिन दाँतों से हँसते थे हमेशा खिल खिल ।
अब दर्द से हैं वही सताते हिल हिल ।
कहाँ हैं अब वे जवानी के मजे ?
ऐ जोक बुढ़ापे से है दौत किल-किल ॥

वस्तुतः कौन चाहता है कि वह वृद्ध हो जाये, उसकी समस्त इन्द्रियों शिथिल हो जायँ और गर्दन हिलने लगे। दाँतों का गिर जाना और मुँह का पोपला हो जाना कौन पसन्द करता है।

तो सच्चा ज्ञानी अपने शरीर को नश्वर और अपनी आत्मा से अलग मानता है। इसी प्रकार वह विषय-भोगों को भी घोर अन्तर्कारी और त्याज्य मानता है। वह विचार करता है कि काम विकार इस दुर्लभ मानव-जीवन को वरदान बनाने के बदले घोर अभिशाप बना देता है। किसी ने कहा भी है :—

ज्ञानी हूँ को ज्ञान जाय ध्यानी हूँ को ध्यान जाय ।
मानी हूँ को मान जाय मूरा जाय जंग ते ॥
ओगी की कमाई जाय, सिद्ध की सिद्धाई जाय ।
बड़े की बड़ाई जाय रूप जाय अंग ते ॥

वास्तव में ही ये भोग अथवा काम विकार रूपी पिशाच ज्ञानी का ज्ञान, ध्यानी का ध्यान, सम्मानित का मान, वीर की वीरता, योगी की जन्म भर की कमाई को नष्ट कर देता है तथा व्यक्ति के बड़प्पन को मिट्टी में मिलाकर उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य पर पानी फेर देता है।

इसीलिये महापुरुष विषय-विकारों से बचते हैं तथा अपनी इन्द्रियों पर और मन पर पूर्ण संयम रखते हैं। वे मन के दास नहीं बनते। स्वामी बनते हैं तथा मन अनुसार स्वयं न चलकर मन को अपनी इच्छानुसार चलाते हैं। वे अन्य प्राणियों को भी चेतावनी देते हैं :—

यदि कथमपि नश्येद् भोगलेशेन नृत्वं,
पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखो देहिनां स्थात् ।
इति हत विषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं,
यदि भवमृत्तिमुक्ते मुक्ति सौख्येऽस्ति वाञ्छा ॥

अर्थात्—यदि विषय भोगों के लेश मात्र से भी किसी प्रकार मनुष्यत्व नाश हो जाय तो जीव को महान दुःख से भी पुनः प्राप्त नहीं हो सकता। अतः यदि जन्म-मरण रहित मुक्ति रूपी सुख में तुम्हारी इच्छा है तो विषयों की आशा को त्यागकर तुम्हें धर्मक्रियाओं में संलग्न होना चाहिये।

वैष्णव धर्मग्रन्थों में एक गणिका का उदाहरण आता है। उस गणिका का नाम पिङ्गला था। कहा जाता है कि एक दिन वह अपूर्व शृङ्गार करके अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में बैठी रही। किन्तु महान प्रतीक्षा के बावजूद भी वह आधी रात तक नहीं आया तो पिङ्गला को बड़ी ग्लानि हुई। उसने सोचा—जितना समय आज मैंने इस व्यक्ति की प्रतीक्षा में बर्बाद किया उतना अगर ईश्वर के भजन में लगाती तो मेरा शायद कल्याण हो जाता।

यह विचार आते ही उसने उसी क्षण से वेश्यावृत्ति का त्याग कर दिया और अरुने मन को संपूर्णतः भगवद्भजन में लगाया। परिणाम यह हुआ कि उसके सप्तन पाप नष्ट हो गए और उसकी आत्मा का उद्धार हो गया।

कहने का अभिप्राय यही है कि असंख्य पापों का उपार्जन करने वाली वेश्या भी भोगों से विरक्त होकर संसार-मुक्त हो गई तो फिर संसार में ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो अरुने आत्मा का उद्धार नहीं कर सकता? पर इसके लिये धर्म पर सच्ची श्रद्धा और सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है। अगर व्यक्ति सही ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा तो उसे मोक्ष-प्राप्ति का सच्चा मार्ग नहीं मिल पाएगा और वह इन सांसारिक लब्धियों में उलझकर पुनः-पुनः संसार भ्रमण करता रहेगा।

सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो ?

अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि मुमुक्षु सच्चा ज्ञान कैसे प्राप्त करे? सच्चे ज्ञानदाता की पहचान करना कठिन है पर असंभव नहीं। सच्चा ज्ञान वही है जो आत्मा को शुद्धि की ओर ले जाय तथा उस ज्ञान को प्रदान करने वाला ज्ञानवंत कहला सकता है। हमारा आज का विषय भी यही है कि ज्ञानवंत के पास पड़े तो सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

कैसे देखा जाय तो हमारे लिये सच्चे ज्ञानदाता आगम और जिन वचन हैं किन्तु किसी भी अज्ञानी व्यक्ति का उनसे सीधा संपर्क करना कठिन होता है। जब तक आगमों में निहित ज्ञान को कोई ज्ञानवान सरल और समझा कर न बताए, तब तक उनसे कुछ हासिल करना कठिन होता है। और आगमों के ज्ञान को स्कूलों अथवा कॉलेजों के शिक्षक और प्रोफेसर नहीं पढ़ते उन्हें तो स्वयं आत्म-साधना के पथ पर चलने वाले माधु पुरुष ही समझा सकते हैं।

शास्त्रों में वर्णन आता है कि सुबाहुकुमार को दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् स्थविर महाराज के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिये बैठाया गया। आपको जानने की जिज्ञासा होगी कि स्थविर किसे कहते हैं ?

संस्कृत भाषा में 'स्थविर' का अर्थ है 'वृद्ध'। 'हमारे ठाणांग (स्थानांग) सूत्र में तीन प्रकार के स्थविर बताए गये हैं—वयस्थविर, दीक्षा स्थविर और सूत्रस्थविर।

वय स्यविर—उसे कहेंगे जिसने जन्म लेने के पश्चात् साठ वर्ष की उम्र तक ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया है। एक बात और है कि भले ही किसी व्यक्ति ने अधिक ज्ञान हासिल नहीं किया हो किन्तु साठ वर्ष की उम्र तक में उसे संसार में विभिन्न प्रकार के इतने अनुभव हो जाते हैं, दूसरे शब्दों में उसे अच्छी और बुरी सभी प्रकार की इतनी परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है कि बिना पढ़े भी उसे नाना प्रकार का ज्ञान अपने आप ही प्राप्त हो जाता है।

आज के युवक अपनी थोड़ी सी शिक्षा के अहंकार में आकर अपने गुरुजनों की अथवा स्वयं अपने माता-पिता की भी भर्त्सना करने लगते हैं। स्पष्ट कहते हैं—“तुम क्या जानो इस विषय में? हमने पढ़ी है यह बात।” वे इस बात को भूल जाते हैं कि उन्होंने चार दिनों में किताबों से जो ज्ञान प्राप्त किया है उस से अनेक गुना अधिक ज्ञान उनके गुरुजनों ने प्रत्यक्ष में अपने अनुभवों में भोगकर प्राप्त कर लिया है।

जिस प्रकार कोई भी कला केवल किताबों में पढ़कर नहीं सीखी जाती, उसका सही ज्ञान करने पर होता है, उसी प्रकार ज्ञान की किताबों में पढ़ लेने मात्र से पूर्णत्व प्राप्त नहीं कर पाता जब तक कि उसे जीवन में न उतारा जाय। इसलिये जहाँ युवावस्था में केवल किताबी ज्ञान होता है वहाँ वृद्धावस्था में अनुभवों का विशाल भण्डार ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है :—

“युवावस्था बहुत सुन्दर है, इसमें संदेह नहीं, पर जहाँ जीवन की गहनता की जांच होती है वहाँ यौवन का कोई महत्व नहीं रह जाता।”

—डास्टाएव्सकी

तो युवावस्था जहाँ अनुभव शून्य और ज्ञान से कोरी होती है वहाँ वृद्धावस्था अनुभव-ज्ञान से बोझिल। इसी कारण कहा जाता है—

“ज्यों ज्यों बीजे कामरी, त्यों त्यों भारी होय।”

नाना प्रकार के कष्टों, संकटों और परेशानियों से गुजरने के बाद ही एक वृद्ध अपने ज्ञान-कोष की वृद्धि कर पाता है।

‘फ्रॉकलिन’ नामक एक दार्शनिक ने बड़े सुन्दर शब्दों में बताया है कि आयु के अनुसार किस प्रकार मनुष्य में परिवर्तन होता है। उसने कहा है—

“At 20 years of age the will reigns ; at 30 the wit, at 40 the judgement.”

अर्थात्—बीस वर्ष की आयु में संकल्प शासन करता है, तीस वर्ष में बुद्धि और चालीस वर्ष में विवेक।

दार्शनिक का कथन यथार्थ है। बीस वर्ष की उम्र में युवक केवल विचार करता है और मंसूबे बाँधता है। क्रियात्मक कुछ भी नहीं कर पाता। किन्तु

तीस वर्ष का होते-होते उसकी बुद्धि का विकास होता है तथा उसकी सहायता से वह प्रत्येक कार्य को सही ढंग से करने का प्रयत्न करने लगता है। पर इस उम्र में भी वह उचित अनुचित का पूर्णतया विभाजन नहीं कर पाता यह विभाजन वह चालीस वर्ष की उम्र के बाद कर पाता है जबकि उसका विवेक प्रत्येक बात में 'दूध का दूध और पानी का पानी' करने में समर्थ हो जाता है। तो इस कथन से स्पष्ट है कि चालीस वर्ष के पश्चात् साठ वर्ष की अवस्था तक व्यक्ति अपने अनुभव, ज्ञान और विवेक के बल पर वय स्थविर कहलाने लगता है और ऐसे स्थविर अन्य व्यक्ति को ज्ञान देने में समर्थ हो जाते हैं।

दीक्षा-स्थविर—जो भव्य प्राणी सांसारिक दुखों से भयभीत होकर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं, अर्थात् साधुत्व अंगीकार कर लेते हैं। वे अपने संयम मार्ग पर बीस वर्ष तक चलने के पश्चात् दीक्षा स्थविर कहलाने की योग्यता हासिल कर लेते हैं।

कोई प्रश्न कर सकता है कि दीक्षा ग्रहण कर लेने अर्थात् पंच महाव्रतों के पालन का प्रारम्भ कर देने के पश्चात् भी बीस वर्ष तक उन्हें स्थविर क्यों नहीं कहा जा सकता ?

इसका कारण यही है कि दीक्षा ग्रहण कर लेते ही साधना में वह दृढ़ता नहीं आ जाती और उसका ज्ञान इतना परिपक्व नहीं हो जाता कि वह औरों का भी पूर्णतया मार्ग-दर्शन कर सके। दीक्षा तो अनेक अल्पवय के बालक भी ग्रहण कर लेते हैं। अतिमुक्त कुमार ने मात्र आठ वर्ष की अवस्था में ही साधुत्व स्वीकार कर लिया था और साधु बन जाने के बाद भी वे बाल-क्रीड़ा किया करते थे।

नाव तिरे रे !

उदाहरणस्वरूप एक दिन वर्षाकाल के पश्चात् अपने से बड़े संनों के साथ वे जंगल की ओर जाते हैं तथा लौटते समय बच्चों के स्वभावानुसार रेत की पाल बनाकर बहता हुआ पानी रोक देते हैं तथा उसमें अपना छोटा सा पात्र तैराकर खुश होते हैं और शोर मचाते हैं—'मेरी नाव तिरे, मेरी नाव तिरे।

तो स्वाभाविक है कि दीक्षा ले लेने पर भी ऐसे संत कदापि स्थविर कहला सकते। हाँ बीस वर्ष तक दीक्षा का पालन कर लेने के पश्चात् वे अवश्य ही नाना प्रकार के परीषद् सहकर तथा उच्च कोटि का ज्ञानार्जन करके इस लायक बनते हैं कि वे औरों का मार्ग-दर्शन कर सकें तथा स्थविर कहला सकें।

सूत्र स्थविर—सूत्र स्थविर को ही ज्ञान स्थविर भी कहते हैं। स्थानांग सूत्र और 'समवायांग' इनके विषय में विस्तृत रूप से बताया जाता है कि जो

‘स्थानांग सूत्र’ और ‘समवायांग सूत्र’ का भलो-भाँति अध्ययन कर ले वह सूत्र स्थविर या ज्ञान स्थविर कहलाता है ।

इस विषय में भी तर्क करने वाले चूकते नहीं हैं । वे कहते हैं - “भगवती सूत्र” सबसे बड़ा है तथा पञ्चवगा एवं जीवाभिगम सूत्र भी इतने बड़े और महत्वपूर्ण हैं फिर ‘स्थानांग सूत्र’ एवं ‘समवायांग सूत्र’ के जानकार ही स्थविर क्यों कहनाते हैं ?”

बात यह है कि ये सूत्र एक तरह से ज्ञान की खाता बहिये हैं । आपके यहाँ एक गोकड़वही होती है और एक खाताबही । रोम डूबही में आपको प्रति-दिन लिखना पड़ता है तथा खाताबही में ऊपर नाम दे देने से आपको पता चल जाता है कि किससे कितना लेना है और किसे कितना देना है ।

तो जिस प्रकार आपकी खाताबही होती है उसी प्रकार ‘स्थानांग सूत्र’ एवं ‘समवायांग सूत्र’ ज्ञान की खाता बही है । इनके द्वारा जानार्थी ज्ञान के विषय में पूर्ण जानकारी कर सकते हैं । इसलिए इन सूत्रों के जानकार को सूत्र स्थविर माना जाता है तथा उन्हें औरों का ज्ञान दान के योग्य बताया गया है ।

आप समझ गए होंगे कि ऐसे स्थविरों या अनुभवी संतों के पास ज्ञान प्राप्त करने से ही सम्यक्ज्ञान हासिल हो सकता है जो कि आत्म-साधना में सहयक बनता है । स्थविर या अनुभवी संतों के पास ज्ञान सीखने से वह बड़ी सरलता से जानार्थी के मस्तिष्क में जम सकता है । क्योंकि वे आगमों के पूर्ण ज्ञाता होते हैं अतः प्रत्येक विषय को बड़ी सरलता से समझा देने में समर्थ होते हैं । अन्यथा अपने आपको महाविद्वान और पंडित मनने वाले व्यक्ति औरों को तो सही माग पर लाने में असमर्थ होते ही हैं स्वयं भी संसार में उपहास का पात्र बनते हैं ।

योगीश्वर स्वर्गवासी हुए

एक पंडित जी जो अपने आपको बड़ा पहुँचा हुआ संत मानते थे, प्रतिदिन गंगा के किनारे पर गायत्री-मन्त्र का जोर-जोर से पाठ किया करते थे ।

गंगा के समीप ही एक कुम्हार रहता था । उसके यहाँ मिट्टी ढोने के लिए एक गधा था । संयोगवश वह प्रातःकाल उसी समय जंर-जोर से रेंका करता था । तिस समय पंडित जी गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते थे ।

प्रतिदिन ऐसा होने पर पंडित जी का ध्यान उस ओर गया तथा वे विचार करने लगे—ओह, लगता है कि यह पशु पूर्व जन्म का कोई महान् योगी है जो मेरे साथ ही मन्त्र का पाठ किया करता है । इसे कदापि पशु नहीं मानना चाहिए । लोग कहा करते हैं -

“धर्मोण होना पशुभिः समानाः ।”

पर पंडित जी उस गधे को देखकर सोचते, यह मनुष्य से भी उच्च प्राणी

है जो पशु होकर भी धर्म का आराधन करता है तथा धार्मिक विचार रखता है। वे उसे अपना गुरुभाई और साथी मानते थे तथा उसे योगीश्वर कहा करते थे। वे मन्त्र-पाठ करते और गधे के भी साथ देने से अत्यन्त प्रसन्न होते थे।

यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा। किन्तु एक दिन जब पंडित जी गायत्री-मन्त्र का पाठ कर रहे थे, उन्हें अपने गुरु भाई की आवाज सुनाई नहीं दी। जब मन्त्र समाप्त होने तक भी वह नहीं बोला तो वे उसकी खोज में कुम्हार के यहाँ गए।

कुम्हार के यहाँ जाकर पंडित जी उससे बोले—“भाई तुम्हारे यहाँ एक योगीराज रहते थे, वे आज कहाँ गए ?”

योगी ? कैसे योगीराज ? कुम्हार ने चकित होकर पूछा।

“अरे वही जो मेरे साथ प्रतिदिन प्रातःकाल गायत्री-मन्त्र का पाठ किया करते थे।”

“महाराज ! मेरे यहाँ तो कोई योगी या सयासी आज तक नहीं रहा केवल एक गधा था जो आज मर गया।” कुम्हार ने पंडित जी की मूर्खता को कुछ-कुछ समझते हुए उत्तर दिया।

पंडित जी यह समाचार सुनकर बड़े दुखी हुए पर कुम्हार के बोलने के ढंग से कुपित होकर बोले—

“तुम कैसे जेवकूप हो ? एक महान योगी के निधन पर कहते हो मेरा गधा मर गया ?”

कुम्हार समझ गया कि पंडितजी को अपने ज्ञान का अजीर्ण हो गया है। वह उन्हें खलती मानकर पिंड छुड़ाने के लिए बोला—“भूल हुई महाराज ! मेरे यहाँ रहने वाले योगी सचमुच ही स्वर्ग चले गए।”

पंडित जी फिर और बया कहते ? मुँह लटकाये उदास भाव से गंगा तट पर आए, स्नान किया और एक महायोगी के निधन के उपलक्ष में शोक प्रदर्शित करने के लिए नाई के यहाँ जाकर अपना सिर मुड़ा आया। तत्पश्चात् अपने घर के लिये रवना हुए।

मार्ग में उन्हें वहाँ के नगर सेठ मिले। पंडित जी सेठ जी के यहाँ यज्ञ-मानी करते थे अतः सदा पूजा-पाठ करने जाया करते थे। सेठजी ने उन्हें फिर मुड़ाए उदास भाव से रास्ते पर चलते हुए देखा तो पूछ बैठे—“बया हुआ पंडित जी ! परिवार में कहीं कोई स्वर्गवासी हो गया है क्या ?”

“अरे, परिवार का कोई मर जाता तो मुझे इतना दुख नहीं होता किन्तु आज तो एक महान् योगीश्वर का निधन हो गया है। आप तो नगर सेठ हैं, नगर की नक हैं। आपको क्या उनके लिए शोक नहीं मनाना चाहिए।” पंडित जी ने तिरस्कार के स्वर में उत्तर दिया।

सेठजी के गौरव को चोट लगी और अपने आपको नगर का अगुआ मानकर उन्होंने भी नाई के यहाँ जाकर पहला कार्य सिर मुड़ाने का किया। इसके बाद जैसा कि उनका प्रोग्राम था राज्य के मन्त्री से मिलने का और इसीलिए वे अपनी हवेली से चले थे, अब चल दिए।

सुबह-सुबह ही सिर मुड़ाए नगर सेठ को अपने यहाँ आया हुआ देखकर मन्त्री जी चकराए और सर्वप्रथम इसका कारण पूछा। सेठ जी ने उत्तर दिया—

“हमारे पंडित जी ने बताया है कि आज अपने नगर में एक महान् योगीराज का स्वर्गवास हो गया है और अगर उनका शोक हमने नहीं मनाया तो राज्य के बड़े आदमी होने के नाते लोग हमें बुरा कहेंगे। इसलिए सोचा कम से कम इतना तो कर ही लिया जाय ताकि लोग मान जाएँ कि हमें भी योगीराज के निधन का शोक है। मैं तो कहता हूँ कि आपको भी ऐसा ही करना चाहिये अन्यथा लोग कहेंगे इस राज्य के बड़े-बड़े आदमियों में किसी को भी धर्म पर और धर्मात्माओं पर श्रद्धा नहीं है।”

सेठ जी की बात मन्त्री को भी उचित जान पड़ी उन्होंने भी अपना मस्तक केश-रहित करवाकर नगर में हुए महान् योगी के निधन का शोक मनाया। किन्तु जब वे राज-दरबार में पहुँचे तो महाराज को नमस्कार करते ही उन्होंने पहला प्रश्न यही पूछा—“मन्त्रिवर ! क्या हुआ है ? आज आपने मस्तक कैसे मुँडाया ?”

“अन्नदाता ! आज हमारे नगर में एक महान् और सिद्ध योगी का स्वर्गवास हो गया है।”

“अच्छा ! क्या नाम था उनका ? राजा ने सहजभाव से पूछा।”

“नाम तो मुझे मालूम नहीं है महाराज !”

“तो वे नगर में कब से रह रहे थे, और कहाँ ठहरे हुए थे ?”

“मुझे यह भी मालूम नहीं है हुजूर !”

राजा बड़े चकित हुए। बोले “आपको कुछ भी मालूम नहीं है तो फिर उनके स्वर्गवासी होने का शोक किसके कहने से मनाया है ?”

“मुझे तो नगर सेठ ने बताया था।” मन्त्री ने कुछ शर्मिन्दा होते हुए उत्तर दिया।

राजा ने सेठजी को बुलवाया और उनसे भी योगीराज के विषय में पूछा। पर सेठजी क्या जानते थे जो बताते, उन्होंने पंडित जी का नाम लिया। अब राजा का कुतूहल बढ़ा अतः उन्होंने पंडितजी को भी बुलवाया और उनसे स्वयं उनके, सेठजी के और मन्त्री के सिर मुँडाकर शोक मनाने का कारण पूछा।

पंडितजी बेचारे राज-दरबार से बुलावा आने के कारण वैसे भी घबराये हुए थे पर धीरे-धीरे बोले—

“महाराज ! गंगा नदी के किनारे एक कुम्हार के घर में पूर्व जन्म के कोई महान योधी गधे के रूप में रहते थे और जब मैं प्रतिदिन प्रातःकात्र गायत्री मन्त्र का पाठ करता था वे भी मेरे साथ मन्त्र बोला करते थे ।”

पंडितजी की बात सुनकर राजा और समस्त दरबारी सही बात समझ गये और हँस पड़े । राजा बोले—“मन्त्री जी, आर लोगों की बुद्धि का कितना सुन्दर प्रमाण है ? अरे ! पंडितजी तो महाज्ञानवान हैं क्या आप लोग भी अब ऐसे ज्ञानी हो गए हैं ? सब तो हो चुका मेरे राज्य का कल्याण ।” राजा की बात सुनकर मन्त्री जी व सेठजी अत्यन्त शर्मिन्दा हुए और मस्तक झुकाकर घर लौट आए ।

तो बंधुओ ! मेरे कहने का अशय यही है कि संसार में ऐसे-ऐसे ज्ञान-वंतों की भी कमी नहीं है । किन्तु अगर हमें मोक्ष-प्राप्ति का सही मार्ग जानना है तो हमें सच्चे ज्ञानवान की भी खोज करनी चाहिए तथा उनसे सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करके उस मार्ग पर ब्रह्म बढ़ाने चाहिए । हमारा जीवन अल्प है किन्तु साधना बहुत बरनी है । अगर समय इसी प्रकार व्यर्थ जाता रहेगा तो कुछ भी हाथ नहीं लगेगा । एक उर्दू के कवि ने भी कहा है :—

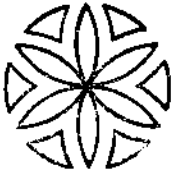
रहती है कब बहारे जवानी तमान उम्र ।

मानिन्द बूये गुल, इधर आई उधर गई ॥

कवि का कथन यथार्थ है । जिन्दगी तो अल्पकालीन है ही, उसमें भी दृष्टावस्था, जिस समय मनुष्य अधिक से अधिक साधना कर सकता है वह तो फूल की खुशबू के समान है जो एक ही झोंके में इधर से उधर चली जाती है ।

इसलिए हमें समय व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए तथा सच्चे ज्ञानवान के पास ज्ञान हासिल करके अत्म-ज्योति जगाते हुए संसार मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए ।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल मैंने आपको ज्ञान-प्राप्ति का दसवाँ कारण समझाया था कि ज्ञानवन्त के पास ही ज्ञान लेना चाहिए। आज ज्ञान प्राप्ति के ग्यारहवें कारण पर विवेचन करना है। यह है इन्द्रियों के विषयों का त्याग करना।

जो महामानव अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वही सम्यक्ज्ञान हासिल कर सकता है। इन्द्रियों के मुख्य पाँच विषय हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। यों तो इन्द्रियों के तीसरे विषय और दो सौ चालीस विचार बताये गये हैं और इस प्रकार विस्तृत रूप से इनके सम्बन्ध में समझाया गया है। किन्तु हमें अभी इन पाँच मुख्य विषयों को ही लेना है।

अनर्थकारी इन्द्रियाँ

मानव इस संसार में रहकर जितने भी पापों का उपाजन करता है, वे सब इन्द्रियों के वश में न रह पाने के कारण ही करता है। इन्द्रियों के वश में होकर ही वह संसार में पुनः पुनः जन्म लेता है और मरता है। किसी भी तरह मृत्यु के चंगुल से छूट नहीं पाता। और छूटेगा भी कैसे? किसो विद्वान ने कहा है :—

कुरंगमातंगपतंगभृंगमीना हता पंचभिरेव पंच।

एकः प्रमादी स कथं न न हन्यते यस्सेवते पंचभिरेव पंच ॥

अर्थात् - हिरण गाने से हाथी हस्तिनी से, पतंग दीपक से, भ्रमर गन्ध से और मछलियाँ जीभ के स्वाद से मोहित होकर अपने प्राण खो देती हैं। फिर जिन्हें पाँच इन्द्रियाँ हैं और जो सभो विषयों की आसक्ति में फँसते हैं तो उनको मृत्यु क्यों छोड़ेगी।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो एक-एक इन्द्रियों के वश में होकर वे पशु-पक्षी भी जब मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो पाँच-पाँच इन्द्रियों के वश में रहने वाले मनुष्य बार-बार मृत्यु के चंगुल में क्यों नहीं फँसेंगे ? अर्थात् अवश्य ही फँसेंगे ।

इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि वह अपनी इन्द्रियों को अशुभ क्रियाओं में प्रवृत्त करके पापोपार्जन करने की बजाय शुभ क्रियाओं में लगाये जिससे पुण्य का उपार्जन हो सके और बंधे हुए कर्मों की निर्जरा हो ।

कर्णेन्द्रिय

हमारे पास कर्णेन्द्रिय है इसके द्वारा सुना जाता है । पर सोचने की बात यह है कि इनसे क्या सुना जाय ? क्या सितेमा के गाने ? या विकारों को प्रोत्साहन देने वाली अश्लील बातें ? नहीं, ऐसी बातों को सुनने से मन विषयों की ओर उन्मुख होता है तथा उसके कारण अशुभ कर्मों का बन्ध होता है । अतः अश्लील गाने या अश्लील बातें न सुनकर कामों से हमें धर्मोपदेश अथवा जिन-वचन सुनना चाहिये । संगीत सुनना बुरा नहीं है, न उसे सुनना कहीं वर्जित ही किया है किन्तु उसके माध्यम से हमें ईश्वर की प्रार्थना और उसके गुण-गाण सुनना च हिये ।

संगीत के द्वारा मानव जितनी सुगमता और शीघ्रता से अपने इष्ट में तन्मय हो सकता है वैसे अन्य कोई भी दूसरा साधन नहीं है । योगी लोग आत्मा और परमात्मा की एकता के लिये घोर तपस्या करके अपने शरीर को सुखा देते हैं वह एकता या अभिन्नता संगीत से सहज में ही प्राप्त हो सकती है । इसलिये कार्लाइल नामक एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है :—

Music is well said to be the speech of angels."

संगीत को फरिश्तों की भाषा ठीक ही कहा है ।

हम भी प्रायः देखते हैं कि भक्त लोग संगीत के द्वारा ही अपने आपको ईश्वर से मिलाते हैं । आज संसार में जितने भक्त हुए हैं उनका अपने प्रभु की अर्चना का सबसे बड़ा साधन भजन-कीर्तन ही रहा है । सूरदास, तुलसीदास और मीरा आदि अनेक भक्तों के सुन्दर-सुन्दर पद्य आज घर-घर में गाये जाते हैं । लाखों व्यक्ति उनसे प्रभावित होते रहे हैं और आज भी होते हैं । इसलिये हमें अपने कानों से परमात्मा की प्रार्थना या आगामों की वाणी सुननी चाहिये, जिससे हमारा मन निर्मल हो सके । और हम स्वस्थ चित से ज्ञान-प्राप्ति कर सकें ।

चक्षु-इन्द्रिय

दूसरी इन्द्रिय हमें आँख के रूप में प्राप्त है । आँख शरीर का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अनमोल अंग है । आँखें हृदय की तालिका हैं । जो बात वाणी

प्रकट नहीं कर पाती वह बात, आँखें आसानी से बता देती हैं। मनुष्य की आँखों में बड़ी चमत्कारिक शक्ति होती है वे अन्तर के प्रत्येक भाव को बड़ी आसानी से ग्रहण कर लेती हैं। यथा—कोई लज्जाजनक बात होते ही वे झुक जाती हैं, आनन्द का अनुभव होने पर चमक उठती हैं, करुणा का भाव आते ही बरस पड़ती हैं और वही आँखें क्रोध का भाव आने पर जल उठती हैं। आँखों से ग्रहण किये हुए भाव का मन पर भी बड़ा भारी असर होता है। जैसे विषय-विकारों को प्रोत्साहित करने वाले नाटक सिनेमा, या नृत्य अदि देखने पर मन में तुरन्त विकार आता है उसी प्रकार महापुरुषों के चित्र देखने पर अथवा त्यागी सत्पुरुषों के दर्शन करने पर मन के विकार नष्ट होते हैं तथा आत्मा निर्मल बनती है।

चारित्रवान् सन्तों के दर्शन करने पर भी हृदय में पवित्रता की ज्योति जल उठती है तथा मन और बुद्धि परिष्कृत हो जाते हैं।

सन्त तुलसीदास जी अपने मन से कहते हैं :—

मन इतनीई या तनु को परम फलु ।
सब अंग सुभग बिन्दुमाधव छबि तजि सुभाव,
अबलोकु एक पलु ॥

अर्थात्—‘हे मन ! इस शरीर का परम फल केवल इतना ही है कि नख से शिख तक सुन्दर अङ्गों वाले श्री बिन्दुमाधव जी की छवि का पल भर के लिये अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर स्थिरता के साथ प्रेम से दर्शन कर।’

तो भाइयो, आँखों का उपयोग हमें इसी प्रकार सन्त-मुनिराजों के दर्शन करने में तथा मन को पवित्र बनाने वाले दृश्यों को देखने में करना चाहिये। तभी हमारी बुद्धि निर्मल होगी तथा मन जानाजंन करने में लग सकेगा।

जिह्वा-इन्द्रिय

तीसरी इन्द्रिय मानव की जिह्वा है। जिह्वा के द्वारा रस का अनुभव किया जाता है। मनुष्य जो कुछ भी खाता है उसके स्वाद का अनुभव जिह्वा करती है। वह यह नहीं देखती कि अमुक वस्तु उदर में जाकर लाभ पहुँचायेगी या हानि। उसे केवल अपना ही स्थाल रहता है। जिह्वा की लोलुपता के कारण अनेक व्यक्ति रोगों के शिकार हो जाते हैं और कभी-कभी तो उनके प्राणों पर भी आ बनती है।

महात्मा कबीर ने इसलिये जिह्वा की भर्त्सना करते हुए कहा है :—

खट्टा भीठा चरपरा, जिह्वा सब रस लेय ।
धोरों कुतिया मिलि गई, पहरा किसका बेय ॥

कहने का अभिप्राय यही है कि जीभ की लोलुपता के कारण मनुष्य भक्ष्या-

भक्ष्य का ख्याल नहीं करता और इसके कारण अपने शरीर की ही हानि नहीं अपितु बुद्धि का भी नाश कर देता है। आप लोग कहा भी करते हैं :—

जसा अन जल खाइये, तसा ही मन होय ।

जसा पानी पीजिये, तसी बानी सोय ॥

अर्थ आप समझ ही गये होंगे कि अन्न और जल शुद्ध ग्रहण किये जायें तो मन तथा वचन शुद्ध होते हैं और इनके अशुद्ध होने पर वे अशुद्ध तथा विकृत हो जाते हैं।

यह सही है कि आहार के अभाव में शरीर टिक नहीं सकता। जीवन का निर्वाह के लिए आहार ग्रहण करना अनिवार्य है। किन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि आहार नीति द्वारा कमाये हुए पैसे से लाया गया हो तथा वे पदार्थ स्वयं भी शुद्ध और सत्त्विक हों। संसार के त्यागी, तपस्वी एवं सन्त-मुनिराज भी आहार करते हैं पर वे जिह्वा की लोलुपता के बशीभूत होकर कोई अखाद्य उदरस्थ नहीं करते। केवल शरीर को टिकाये रखने के लिए शुद्ध वस्तुओं का उपयोग करते हैं।

किन्तु खेद की बात है कि आज के मानव ने आहार का असली प्रयोजन जोकि केवल शरीर-निर्वाह है उसे भुला दिया है तथा जिह्वा की वृत्ति को ही मुख्य प्रयोजन मान लिया है। यही कारण है कि नाना प्रकार की सत्वहीन किन्तु जिह्वा को वृत्त करने वाली चीजों को भोजन में स्थान दिया जाता है।

इतना ही नहीं, आज के अधिकांश व्यक्तियों ने मांस, मछली और अण्डे आदि जोकि हिंसा के प्रमाण हैं उन्हें भी अपने भोजन में सम्मिलित कर लिया है। वे जिह्वा की लोलुपता के कारण यह जानने का भी प्रयत्न नहीं करते कि मांसाहार से कितनी हानियाँ उठानी पड़ती हैं।

डॉक्टरों और वैद्यों का कथन है कि मांस प्रथम तो देर से पचता है दूसरे कफ वात, पित्त के विकार उत्पन्न करता है। रक्त-दोष और विशूचिका आदि को जन्म देता है। इसमें चीनी और नशास्ता का अंश मात्र भी न होने से मस्तिष्क की नसों को कमजोर बनाता है और इसके कारण मस्तिष्क और बुद्धि अपना कार्य बराबर नहीं करते। स्पष्ट है कि जब बुद्धि काम नहीं करेगी तो मनुष्य ज्ञान की प्राप्ति कैसे करेगा।

मांस भक्षण करने वालों के हृदय में अत्यन्त निर्दयता, क्रूरता और कठोरता होती है। उनके हृदय की गति तीव्र हो जाती है और श्वास-प्रश्वास तीव्रता से आते-जाते हैं। इसलिए साधना और योगाभ्यास करने वाले व्यक्ति जो कि प्राणायाम को अत्यधिक महत्व देते हैं वे मांसाहार कदापि नहीं करते।

महाभारत में कहा गया है :—

अध्यासा सर्वभूतानामायुष्माश्चो रुजः सदा ।
भवत्यभक्षयन्नासं दयावाःप्राग्निनामिह ॥
हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः ॥
मांसस्याभक्षणे धर्मो, विशिष्ट इति न श्रुतिः ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति मांसभक्षण न करके प्राणियों के विषय में दयावान् होते हैं वे सबसे मानवीय, आयुष्मान और रोग से रहित होते हैं। हमारी यह श्रुति है कि मोने का दान तथा गायों के दान की अपेक्षा मांस-भक्षण का त्याग करने से विशिष्ट धर्म होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो भव्य पुरुष अपनी आत्मा को ऊँचा उठाना चाहते हैं, अपन ज्ञान को निर्मल बनाते हुए उसमें अधिकाधिक वृद्धि करना चाहते हैं उन्हें अपनी जिह्वाइन्द्रिय पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हुए शुद्ध और सात्विक आहार के द्वारा अपनी बुद्धि को कुशाग्र बनाना चाहिए।

प्राणेंद्रिय यह मनुष्यों को सुगन्ध और दुर्गन्ध की पहचान कराती है। सुगन्ध सभी व्यक्तियों को प्रिय लगती है और भक्त तो ताजे पुष्प, अगर एवं चन्दनादि के द्वारा अपने इष्ट को भी प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं।

किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो इन बातों की ओर ध्यान दिये बिना दुर्गन्ध को भी सुगन्ध मानकर अपने आपको उसी में रमा लेते हैं। प्याज, लहसुन, मांस, मदिरा आदि का सेवन करने वाले उन बस्तुओं की सुगन्ध को भी सुगन्ध मानते हैं। मदिरा-पान करने वाले व्यक्ति के पैर बरबस ही मद्य-शाला की ओर बढ़ जाते हैं और उसे भले ही मद्य पीने के लिए न मिले, उसकी सुगन्ध पाकर भी वह मस्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति कभी अपने जीवन को निर्मल नहीं बना पाता।

स्पर्शेंद्रिय—यह मनुष्य की पाँचवीं इन्द्रिय है। स्पर्श करते ही इसे वस्तु की कठोरता, कोमलता तथा चिकनेपन या खुरदरेपन का आभास हो जाता है। जो व्यक्ति इसके बश में होते हैं, वे विलासी कहलाते हैं। ऐसे व्यक्ति कठोर शय्या पर नहीं सो सकते, मोटा कपड़ा नहीं पहन सकते और खुन्दरा वस्त्र ओढ़ नहीं सकते।

किन्तु साधक, त्यागी या सन्त ऐसी बातों की परवाह नहीं करते। उन्हें पहनने को रेशम मिले या मृगछाला, बिछाने के लिये पुष्पों की शय्या हो या पथरीली भूमि, ओढ़ने के लिये मुलायम चदर ही या टाट सभी समान होते हैं। इस प्रकार की वस्तुओं के प्रति उदासीनता रखते हुये वे अपना चित्त ज्ञान-ध्यान और साधना में लगाते हैं।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है इन्द्रियों के विषयों का आकर्षण बड़ा प्रबल होता है और बड़े-बड़े विद्वान भी इनके वश में होकर अपना अहित कर बैठते हैं ।

मनुस्मृति में कहा गया है :—

“बलवान् इन्द्रिय-ग्रामो दिद्धांसमपि कर्षति”

भावार्थ है—इन्द्रिय-समूह बड़ा बलवान है यही कारण है कि विद्वान भी इनके विषयों के मुलावे में आकर इनकी ओर अकर्षित हो जाया करते हैं । अतएव विषयों से प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिये ।

महापुरुष, जोकि पापों से भयभीत होते हुए अपनी आत्मा को उनसे बचाना चाहते हैं, वे अपनी समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करते हैं और तभी उनकी बुद्धि निर्मल होती हुई आत्मोत्थान में संलग्न होती है ।

भगवद्गीता में भी यही बताया गया है :—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

कछुआ जैसे सब ओर से अंग समेट लेता है वैसे ही जब पुरुष इन्द्रियों को उनके विषय से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है ।

यद्यपि इन्द्रियाँ शरीर में अरना-अपना कार्य करने के लिये हैं और इनसे काम लेना भी चाहिये । किन्तु सोचना यह है कि इनसे कैसा कार्य लिया जाय ? हमारे आगम पुकार-पुकार कर कहते हैं कि मनुष्य अगर चाहे तो इन्हीं इन्द्रियों की सहायता से मन को सुमार्ग पर चला कर सुगति प्राप्त कर सकता है और अगर वह स्वयं ही इनके इंगितानुसार चल पड़े तो कुगति की ओर प्रमाण करता है ।

“इन्द्रिय पराजय शतक नामक ग्रन्थ में एक पद्य दिया गया है । जिसमें कहा है :—

अच्छ अश्व अति चपल नित,

घकत कुगति की ओर ।

चामंत भव जाता सुधी,

खँचिसु जिन-बच डोर ॥

अच्छ यानी इन्द्रियाँ । संस्कृत में अच्छ को अक्ष कहते हैं, दोनों शब्दों का अर्थ इन्द्रियाँ ही है । पद्य में इन्द्रियों को चंचल घोड़ों की उपमा दी गई है । कहा है—ये इन्द्रियाँ रूपी चपल घोड़े आत्मा को कुगति की ओर घकेलते हैं । अर्थात् आत्मा को नरक तथा तिर्यच पर्याय में ले जाने का प्रयत्न करते हैं ।

किन्तु जो आगमों के ज्ञाता और ज्ञानवंत हैं वे जिन-वचन रूपी डोरी या लगाम लगाकर दन्हें रोकते हैं तथा आत्मा को निम्न गति में जाने से बचाते हैं ।

आप लोग गृहस्थ हैं, भली-भाँति जानते हैं कि घोड़े को किस प्रकार रोका जाता है । आप जिस घोड़े पर बैठते हैं, अगर वह लगाम खींचने से आपके काबू में नहीं आता तो आप उसे काँटे की लगाम लगा देते हैं । काँटे की लगाम जब उसे टोंकती है तो वह अपनी चंचलता छोड़ने पर मजबूर हो जाता है । उतने पर भी नहीं मानता तो आप उसे ऐसे स्थान पर जहाँ पत्थर और ढेले होते हैं वहाँ दौड़ाते हैं । कहने का मतलब यह है कि इस संसार में उस पशु की चपलता मिटाने के लिये तो आप खूब होशियारी से काम लेते हैं ।

किन्तु इन इन्द्रिय रूपी घोड़ों को बहकाने से रोकने के लिये प्रयत्न क्यों नहीं करते । एक पशु पर सवारी करते समय तो आपको बड़ा डर बना रहता है कि कहीं गिर न पड़े और शरीर को चोट न लग जाय । पर इन्द्रियों रूपी इन पाँचों घोड़ों के बहक जाने पर आपको डर नहीं लगता ? उस समय आपको भय नहीं होता कि अगर ये बहक कर कुमार्ग पर चल दिये तो आत्मा को कितनी चोट पहुँचेगी ?

जिन विषय सुखों को भोगकर आप आज फले नहीं समाते हैं, क्या वे सदा के लिये आपको उपलब्ध रहेंगे ? नहीं, ये सब बिजली के समान चंचल हैं । आज हैं तो कल नहीं भी रह सकते हैं । आज जिस जवानी पर आप धमंड करते हैं कल वह स्वयं ही आपको छोड़ जाएगी । इसे चार दिन की चाँदनी ही माननी चाहिये । इसके बाद अंधेरी रात निश्चय ही आने वाली है । उस समय आपका यह रूप और लावण्य नष्ट हो जाएगा । आज तो आपको सौन्दर्य और बल का धनी मानकर आपके सामने आपकी खुशामद करते हैं, वे ही कल आपको देखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगेंगे । इसलिये इस संसार को और इस जीवन को स्वप्न की भी भाया मानकर चेतो और उस सुख के लिये प्रयत्न करो जो सदा अक्षय रहेगा ।

कवि सुन्दरदास जी ने प्राणी को इस संसार को स्वप्न और भ्रम मानकर चेतावनी दी है ।

कोउ नृप फूलन सेज पर सूतो आई,
जब लम जाग्यो तो लौं अति सुख मान्यो है ।
नींद जब आई, तब वाही कूँ स्वपन आयो,
भाय पर्यो नरक के कुण्ड में यों जान्यो है ।
अति दुख पावे पर निकस्यो न बधों हो जाहि,
जागि जब पर्यो तब स्वपन बखायो है ।
यह झूठ वह झूठ जगत स्वपन दोऊ,
'सुन्दर' कहत ज्ञानी सब भ्रम मान्यो है ।

अपनी सरल भाषा में कवि ने बताया है कि यर जगत कोरा भ्रम और मृग मरीचिका है या स्वप्न जैसी माया है। इसलिये हमें इसके आकर्षण में नहीं फसना है। विषय-विकार क्षणिक और झूठा सुख प्रदान करके आत्मा को दुःख के गहरे गर्त में ढकेल देते हैं। अतः हमें इस जीवन को क्षणभंगुर समझकर एक क्षण का भी विजम्ब नहीं करना चाहिये तथा धर्मारोधन में जुट जाना चाहिये। अनेक व्यक्तियों की आदत होती है कि वे युवावस्था तो धन का उपार्जन करने में और इन्द्रियों के सुखों को भोगने में बिताते हैं तथा धर्म-कर्म को वृद्धावस्था में करने के लिये छोड़ देते हैं। उन्हें इस बात की परवाह नहीं रहती कि जिस वृद्धावस्था में वह धर्मारोधन करेंगे वह आणी भी या नहीं? और आ भो गई तो उस समय उनमें धर्मोपार्जन करने की शक्ति रहेगी भी या नहीं।

जल्दी क्या पड़ी है ?

एक सेठ अतुल धन का स्वामी था और सदा ऐश्वर्य में झूला करता था। किन्तु उसकी पत्नी बड़ी ज्ञानवती थी। वह अनेक बार कहती—

“सेठ जी, धन तो आपके पास बहुत है और इसका भोग भी आपने बहुत कर लिया है। अच्छा हो कि अब आप थोड़ा बहुत समय परमात्मा की भक्ति में लगाएँ। यह शरीर हमें केवल भोगों को भोगने के लिये ही नहीं मिला है। यह तो पारसमणि के सदृश है जिससे हम आत्मा को सुवर्ण के समान निर्मल बना सकते हैं। कहीं ऐसा न हो कि आप आत्मा को सोना न बना पाएँ और यह शरीर-रूपी पारसमणि आपके हाथ से चली जाय।”

“क्या बाहियात बात करती हो सेठानी ! अभी मेरी उम्र ही क्या है ? कर लूँगा धर्मारोधन ! ऐसी जल्दी क्या पड़ी है ?” सेठ उत्तर देकर टाल देता।

संयोगवश एक बार सेठ जी बीमार पड़ गए और सेठानी से बोले—
“जल्दी से फोन करके डॉक्टर को बुलाओ।”

सेठानी ने डॉक्टर को बुलाया और डॉक्टर ने सेठजी की अच्छी तरह परीक्षा करके दवा का नुस्खा लिख दिया। तत्पश्चात् सेठानी ने दवाइयाँ मँगाईं और मँगाकर एक आलमारी में रख दीं।

जब दिन भर हो गया तो सेठजी धबराकर बोले—“सेठानी ! क्या अभी तक मेरी दवाइयाँ नहीं आईं ?”

“दवाइयाँ तो कभी की आ गईं, आलमारी में रखी हैं।” सेठानी ने शांति से उत्तर दिया।

“अरे भली आदमिन फिर मुझे देती क्यों नहीं हो तुम ?”

“सेठानी, जल्दी क्या है ? दे दूँगी दवाई आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों या उसके बाद कभी किसी दिन भी दे दूँगी ।”

“पर मैं इससे पहले ही मर गया तो फिर वह दवा मेरे किस काम आएगी ?”

यही अबसर सेठानी चाहती थी । छूटते ही बोली — “आज आप यह क्या कह रहे हैं ? मृत्यु अभी कैसे आ सकती है ? आप सदा कहते हैं न कि अभी मेरी उम्र ही बना है, धर्म-कर्म सब बाद में कर लूँगा । इसीलिये मैंने सोचा कि मृत्यु तो आपके पास अभी फटक ही नहीं सकती अतः दवाई किसी दिन भी दे दूँगी जल्दी क्या है आखिर ?”

सेठानी की बात सुनकर सेठ की आँखें खुल गईं । बोला— “मैं बड़ी भारी गलती कर रहा था सेठ नी ! सचमुच ही जीवन का कोई भरोसा नहीं है । मुझे स्वस्थ होते ही अब अपना चित्त परमात्मा के चिन्तन में लगाना है । मैं समझ गया हूँ कि जिम तरह रोग नाश के लिये औषधि की जरूरत है, उसी प्रकार जन्म-मरण का नाश करने के लिए ईश्वर की आराधना करना भी जरूरी है । वह बिना विलम्ब किये प्रारम्भ कर देना चाहिये अन्यथा मेरा यह शरीर रूपां पारस-पत्थर जो मुझे मिला है व्यर्थ हो जायेगा ।”

सेठानी पति की बात सुनकर आनन्दाश्रु बहाता हुई उठी और उसने उसी क्षण लाकर अपने पति को दवा दी । सेठ स्वस्थ होते ही दत्त-चित्त से ईश्वर के भजन-पूजन में लग गया ।

वस्तुतः हमें यह मनुष्य का चोला इनीलिये मिला है कि इसकी सहायता से हम अपने कर्म-बन्धनों को काटकर परमपद प्राप्त करें । किन्तु लोग इन्द्रिय सुखों के भोगों में यह बात सर्वथा भूल जाते हैं । उन्हें ऐसा लगता है मानो वे अनन्तकाल तक इसी स्थिति में रहेंगे और इसीलिये यहाँ भोगने के लिये हजारों प्रकार के साधन जुटाते हैं तथा धन से तिजोरियाँ भर लेते हैं । किन्तु उर्दू कवि जौक का कहना है :—

क्या यह दुनिया! जिनमें कोशिश हो न दी के वास्ते ।

वास्ते वाँ के भी कुछ, या सब वहाँ के वास्ते ॥

इम दुनियाँ में आकर परलोक के लिए भी कुछ करना चाहिए; यह नहीं कि यहाँ के लिए तो हम दिन-रात कोशिश करें और उधर की फिक्र बिल्कुल ही छोड़ दें ।

कमलवत

भले ही आप गृहस्थ हैं, फिर भी धर्माराधन एवं आत्म-साधना कर सकते हैं । सत्कार में रहकर भी संसार से विरक्त और भोगों को भोगते हुए भी उनसे अलिप्त रह सकते हैं । साधना करने के लिए साधु बन जाना ही आवश्यक

नहीं है। सच्चा साधु वही है जो संसार में रहकर भी सांसारिक पदार्थों में असक्ति न रखे, स्वजन-परिजनों के बीच में रहकर भी उसके प्रति मोह न रखे।

हमारे आगम कहते हैं :—

सन्ति एगेहि भिब्रूहि गारस्था संजमुत्तरा ।
गारत्येहि य सर्वेहि, साहवो संजमुत्तरा ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ५-२०

भगवान का कथन है—एक-एक गृहस्थ ऐसा है जो संतों की अपेक्षा भी साधना-मार्ग में श्रेष्ठ है। भले ही उसने साधुत्व अंगीकार नहीं किया है और सांसारिक कार्य करता है। प्रश्न होगा कि समस्त सांसारिक कार्यों को करते हुए भी वह संतों की अपेक्षा श्रेष्ठ क्यों माना जा सकता है ?

इसका उत्तर यही है कि वह अपने मन और इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखता है तथा जिन-वचनों पर पूर्ण आस्था रखना हुआ निर्लिप्त भाव से सांसारिक कार्य करता है। देखा जाय तो कर्मों का बन्धन और कर्मों की निर्जरा पूर्णतया भावनाओं पर निर्भर होती है। उसके लिये गृहस्थ या साधु का वेश कारण नहीं बनता।

इसीलिये श्लोक में बताया गया है कि जो गृहस्त संयम-मार्ग पर चलते हैं, श्रेष्ठ हैं और पंचमहाव्रतधारी साधु तो सभी गृहस्थों से श्रेष्ठ हैं ही।

बन्धुमो मेरे, आज के कथन का सारांश केवल यही है कि हमें अपनी इन्द्रियों पर संयम रखना चाहिए। ऐसा न करने से आत्मा कर्म-भार से बोझिल हो जायेगी तथा उन्नति को और जाने के बदले अवनति की ओर अग्रसर होने लगेगी। कहा भी है :—

“आपदाम् प्रथितः पंथा इन्द्रियाणामसंयमः ॥”

इन्द्रियों का असंयम यानि विषयों का सेवन ही आपत्तियों के आने का मार्ग कहा गया है।

यद्यपि इन्द्रियों को अपना कार्य करने से रोका नहीं जा सकता किन्तु प्रयत्न करने पर उन्हें अशुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होने से रोका जा सकता है और शुभ-क्रियाओं में लगाया जा सकता है। हमें केवल उन्हें कुमार्ग पर जाने से मोड़क सुमार्ग की ओर बढ़ाना है।

हमें कभी भी यह नहीं भूलना है कि संसार का कोई भी पदार्थ और स्वयं अपना शरीर भी स्थायी रहने वाला नहीं है। श्री भर्तृहरि ने एक श्लोक में बताया है :—

आधिष्याधि शतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते ।
लक्ष्मीयंत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव ध्यापदः ॥
जातं जातमवश्यमासु विवशं मृत्युः करोत्यात्मपात् ।
तत्किं नाम निरंकुशेन विधिना यन्निमित्तं सुस्थितम् ॥

अर्थात्—सेकड़ों मानसिक और शारीरिक रोग स्वास्थ्य का नाश कर डालते हैं। जहाँ सम्पत्ति और वैभव है वहाँ विपत्ति चोर के समान दरवाजा तोड़कर आक्रमण करती है। जो जन्म लेता है, उसे मृत्यु शीघ्र ही अपने चंगुल में फँसा लेती है। तब बताओ निरकुश विधि ने कौन-सी वस्तु सदा स्थायी रहने वाली बनाई है ?

कवि का कथन यथार्थ है कि संसार में कोई भी वस्तु स्थायी रहने वाली नहीं है। या तो उनका स्वयं ही विधोग हो जाता है या फिर मनुष्य मरकर उन्हें छोड़ जाता है। इसलिये आवश्यक है कि मृत्यु को सदा स्मरण रखा जाय।

कहा जाता है कि बादशाह ने अपने महल में स्थान-स्थान पर, यहाँ तक कि दरबार में भी अनेक कब्रें बनवा रखी थीं। यह उसने इसलिये किया था कि कब्रों को देखकर उसे हृदय मृत्यु याद आती रहे और मृत्यु के याद आ जाने से वह पापों से बचता हुआ खुदा को याद करता रहे।

जो व्यक्ति संसार में आसक्त नहीं रखता वह अपना सम्पूर्ण समय भी सांसारिक कार्यों में बरबाद कर सकता है। अपने एक-एक क्षण की कीमत मानकर साधना के लिये तथा जन्म-जन्म के लिए समय निकाल ही लेता है। ऐसा व्यक्ति ही सच्चा सन्त या महात्मा कहला सकता है।

कवि जोक ने कहा है :—

सरापा पाक हैं, घोये जिन्होंने हाथ दुनिया से।

नहीं हाजत कि वह पानी बहायें सर से पाऊँ तक ॥

कितनी सुन्दर बात है ? वास्तव में सांसारिक विषय भोगों से जिन्होंने मुक्ति पा ली है उनकी आत्मा पूर्णतया पाक अर्थात् निर्मल हो चुकी है। ऐसे व्यक्तियों को गंगास्नान या मल-मलकर शरीर को साफ करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिनके हृदय से वासनएँ निकल जाती हैं उन्हें फिर किसी भी दिखावे की आवश्यकता नहीं रहती।

इसीलिए बन्धुओ ! हमें इन्द्रियों के विषयों से बचना चाहिए ताकि हमारी बुद्धि निर्मल बने और निर्मल बुद्धि के द्वारा हम सम्यक्ज्ञान हासिल कर मोक्ष-मार्ग पर बढ़ सकें। मुक्ति का सही पथ ज्ञान ही दिखा सकता है और ज्ञान-लाभ वही साधक कर सकता है जो अपने मन और इन्द्रियों पर समय रखने में समर्थ हो।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

पिछले कुछ दिनों से हमारे यहाँ श्री उत्तराध्ययन के अट्ठ-ईसवें अध्ययन की पच्चीसवीं गाथा चल रही है। उसमें क्रियारुचि का स्वरूप क्या है इस सम्बन्ध में बताया गया है। अब तक हमने दर्शन और ज्ञान के विषय में विचार-विमर्श किया है तथा ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारणों अथवा साधनों के विषय में भी समझाया है। उन साधनों को क्रिया रूप में लाना ही चारित्र्य कहलाता है। चारित्र्य कहा जाय अथवा आचरण, दोनों का आशय एक ही है।

चारित्र्य का महत्त्व

चारित्र्य आत्म-साधना का एक महत्त्वपूर्ण ही नहीं बरन् अनिवार्य अंग है। इसके बिना ज्ञान-प्राप्ति का कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह जिन वचनों को सुनकर उन पर श्रद्धा या विश्वास रखे, उन्हें समझे और फिर उन्हें अपने जीवन में उतारे। क्योंकि केवल सुनने और समझ लेने अथवा तोते के समान शास्त्रों का स्वाध्याय कर लेने से ही कभी हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। कहा भी है :—

“सर्वे व्यसनिनो ज्ञेया यः क्रियावान् स पंडितः।”

जो मनुष्य सत् प्रवृत्ति नहीं करते हुए केवल पठन-पाठन में ही लगे रहते हैं, वे केवल ज्ञान में आसक्ति रखने वाले ही कहलाते हैं। किन्तु जो पुरुष अपने ज्ञान को आचरण में उतार लेते हैं वे ही क्रियावान् और पंडित कहलाते हैं।

क्रिया आवश्यक क्यों ?

प्रश्न होता है कि क्रिया करना आवश्यक किसलिए है ? इसका समाधान यह है कि अगर व्यक्ति ज्ञान के द्वारा धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप तथा संसार की नश्वरता और आत्मा की अमरता आदि के विषय में जान तो लेंगा किन्तु सब कुछ जानते हुए भी अपने आचरण और कार्यों को शुभ में प्रवृत्त नहीं करेगा अर्थात् अपने मन एवं इन्द्रियों के द्वारा शुभ क्रियाएँ नहीं करेगा तो कर्मों की

परन्तु उसकी आत्मा पर चढ़ती जाएँगी और उसके मस्तिष्क में भरा हुआ ज्ञान व्यर्थ साबित हो जाएगा। आत्मा को जन्म-मरण से मुक्त करने के लिए आवश्यकता हमें इसी बात की है कि हम पूर्वोपाजित कर्मों की निर्जरा करें अर्थात् उन्हें समाप्त करें और नवीन कर्म-बन्धनों से बचें। यह तभी हो सकता है, जबकि हम अपना एक-एक कार्य करते हुए सावधानी बरतें। यह ध्यान रखें कि ऐसा करने से किसी पाप-कर्म का उपाजन तो नहीं हो जाएगा? जीवन में पापों का आगम चोरों के समान चुपचाप और अति शीघ्रता से हो जाता है। इसलिए आप जिस प्रकार अपने धन की सुरक्षा के लिए उसे तिजोरी में ताला लगाकर रखते हैं और ऊपर से मकानों की दीवारें भी ऊँची ऊँची और कभी-कभी तो उन पर नुकीले काँच के टुकड़े लगाकर बनवाते हैं। उसी प्रकार अपनी आत्मा के सद्गुण रूपी अमूल्य रत्नों की रक्षा के लिए भी व्रतों की दीवारें निर्मित करें तथा इन्द्रियों के सयम रूपी नुकीले काँचों से पाप रूपी चोरों को आने से रोकें। व्रत ग्रहण करने का अर्थ है—मन और इन्द्रियों को अशुभ की ओर प्रवृत्त न होने देने की प्रतिज्ञा करना अथवा जितना संभव हो, मर्यादा में रहना। इन्हें ग्रहण करने से मनुष्य अनेकानेक व्यर्थ के कर्मों के बन्धन से अपनी आत्मा को बचा सकता है।

कर्मों का आगमन किस प्रकार होता है इस विषय में एक बड़ा सुन्दर श्लोक कहा गया है :—

गवाक्षात् समीरो ययायाति गेहं
तडागं च तोयप्रवाह प्रणात्पा ।
गलद्वारतो भोजनाद्या पिचंडं,
तथात्मानमाशु प्रमार्दश्च कर्मः ॥

गवाक्ष यानी झरोखा। जिस प्रकार किसी भी मकान में झरोखे से हवा आती है, उसी प्रकार आत्मा रूपी घर में प्रमादादि पापों की हवा इन्द्रियों रूपी झरोखों से आ जाती है। किन्तु झरोखों में किवाड़ लगाकर और उन्हें बंद करके हवा को आने से रोका जाता है, उसी प्रकार व्रत-रूपी किवाड़ लगाकर इन्द्रिय रूपी झरोखों से भी पाप-कर्म रूपी हवा को आने से रोका जा सकता है।

कर्मों के आगमन को समझाने के लिए दूसरा उदाहरण तालाब में आने वाले पानी के प्रवाह को लेकर दिया गया है। कहा है—तेज वर्षा होने पर जिस प्रकार पानी अनेक छोटी-मोटी नालियों के अन्दर बहता तालाब में जा पहुँचता है, उसी प्रकार व्रतों की रोक न लगाने पर पापकर्म-रूपी जल इन्द्रिय रूपी नालियों में से प्रवाहित होता हुआ आत्मा-रूप तालाब में जा पहुँचता है।

तोसरा उदाहरण है—अपनी जिह्वा पर संयम न रखने से जिस प्रकार खाद्य पदार्थ अथवा जल गले से होता हुआ उदर में उतर आता है, उसी प्रकार पाप कर्म भी किसी न किसी इन्द्रिय-द्वार से आत्मा में उतर आते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक साधक को पापोपार्जन से बचने के लिए व्रतों को अंगीकार करना अनिवार्य है। व्रत जितने अंशों में भी ग्रहण किए जाएंगे उतनी ही रोक अशुभ क्रियाओं पर लगेगी और पापों का उपाजन कम होगा। व्रत एक सुदृढ़ गढ़ के समान होते हैं जो नाना प्रकार के सांसारिक आकर्षणों और प्रलोभनों से मनुष्य की रक्षा करते हैं। सच्चे हृदय से मोक्ष की कामना रखने वाले भव्य प्राणी अपने प्राण देकर भी अपने व्रतों की रक्षा करते हैं।

सेठ सुदर्शन के विषय में आप जानते ही हैं कि उन्होंने सूली पर चढ़ना कबूल कर लिया किन्तु अपने परस्त्री-त्याग के व्रत का अखंड रूप से पालन किया। परिणामस्वरूप सूली भी उनके लिए सिंहासन बन गई।

इसी प्रकार विजयकुमार और विजयाकुमारी की कथा भी हमें पढ़ने को मिलती है। संयोगवश दोनों ने महीने में पन्द्रह दिनों के शील-व्रत के पालन के नियम ले लिए थे। विजयकुमार ने कृष्णपक्ष के और विजयाकुमारी ने शुक्ल पक्ष के।

भाग्यवशात् दोनों का आपस में विवाह हो गया। जब दोनों को एक दूसरे के व्रतों का पता चला तो कितने आश्चर्य की बात है कि दोनों में से किसी के चेहरे पर भी शिकन नहीं आई।

विजयाकुमारी ने पति से कहा—“अच्छा हो कि आप दूसरा विवाह कर लें और मुझे जीवन भर शील व्रत पालने का प्रेम से अवसर दें।”

किन्तु विजयकुमार ने उत्तर दिया—“वाह ! यह कैसी बात कर रही हो ? दूसरा विवाह किसलिए करना ? तुम्हारे समान मुझे भी तो जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने का सुनहरा अवसर मिलेगा। दूसरी शादी करके मैं यह मौका हाथ से नहीं जाने दूँगा। हम दोनों एक दूसरे से अनासक्त भाव से प्रेम रखते हुए तब तक घर में रहेंगे जब तक मेरे माता-पिता को इस बात का पता नहीं चल जाएगा। जिन दिन उन्हें इस बात का पता चलेगा, हम दीक्षा ग्रहण करके दोनों ही आत्म-कल्याण में जुट जाएँगे।”

वास्तव में ही दोनों ने ऐसा किया और जिस दिन इस बात का रहस्य खुला, उन्होंने पंच महाव्रत अंगीकार कर लिये तथा आत्मा का कल्याण किया।

जो महापुरुष इस प्रकार महाव्रतों का पालन कर सकते हैं वे तो धन्य हैं, किन्तु व्रतों का अंशतः अर्थात् बने जहाँ तक पालन करने वाले भी अपनी

आत्मा को निर्मल बना सकते हैं। क्योंकि कर्मों का भार जितना कम हो उतना ही अच्छा। अन्यथा न जाने कितने जन्मों तक उनका परिणाम भुगतना पड़ता है। इसी बात को एक संस्कृत के कवि ने समझाई है :—

प्रमृद्धं जन्मं रजिते द्रव्यजाते,
प्रपौत्रा यथा स्वत्ववाचं वदन्ति ।
भवानंत - संयोजिते पापकार्ये,
विना सुव्रतं नश्यति स्वीयता नो ॥

कर्मों का भुगतान किस प्रकार करना पड़ता है इस पर श्लोक में एक दृष्टांत दिया गया है। कहा है :—

वृद्ध यानी घर का बड़ा व्यक्ति और प्रवृद्ध का अर्थ है वृद्ध से भी बहुत बड़ा दादा, परदादा समझिये। तो मान लीजिये किसी के परदादा ने बहुत सम्पत्ति अर्जित की। कई मकान, खेत आदि सभी कुछ उन्होंने बनवाए और लिए। पर वे अपने अधिकार की वस्तुओं को अगर किसी को दे जाते हैं तो उसके पौत्र या प्रपौत्र उस पर अपना स्वामित्व मानते हैं तथा पीढ़ियों से चली आ रही सम्पत्ति को कानूनमन लेने, का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं हमारे पूर्वजों की यह सम्पत्ति है और इस पर हमारा अधिकार है।

तो बंधुओं, जिस प्रकार कई पीढ़ियों की सम्पत्ति का व्यक्ति मालिक स्वयं बन जाता है, उसी प्रकार अनंत भवों के उपाजित कर्मों का भोक्ता भी उसे ही बनना पड़ता है।

वेदव्यास जी ने भी कहा है :—

स्थकर्मफल निक्षेपं विधान परिरक्षितम् ।
भूतप्राग्मदिमं कालः समन्तात् परिकर्षति ।

—महाभारत

अपने- अपने कर्म का फल एक घरोहर के समान है, जो कर्मजनित अदृष्ट के द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आने पर यह काल इस कर्म-फल को प्राणिसमुदाय के पास खींच लाता है।

जिस प्रकार एक बछड़ा हजारों गायों के बीच में भी अपनी मां को पहचानकर उसके पास चला जाता है, उसी प्रकार अनेक जन्मों के पाप-कर्म भी अपने करने वाले को पहचान लेते हैं और उसे परिणाम भोगने को बाध्य कर देते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि पूर्वजन्मों के कर्म भी सांसारिक सम्पत्ति के समान पीढ़ियों तक सुरक्षित रहते हैं और प्राणी को उन्हें भोगना ही पड़ता है। आपने गजसुकुमाल मुनि के विषय में सुना होगा और पढ़ा भी होगा कि

उनके जीव ने निन्यानवे लाख भव से पूर्व जो पाप-कर्म किया था वह उस जन्म में उदय में आया और सोमिल ब्राह्मण के द्वारा उनके मस्तक पर जलते हुए अंगारे रखे गये। इस प्रकार व्यक्ति अपने दादा, परदादा की पूंजी का मालिक बनता है और आत्मा भी किये हुये पिछले समस्त जन्मों के कर्म का भोक्ता भी अनिवार्य रूप से बन जाता है।

इसलिये आवश्यक है कि व्रतों को ग्रहण करके पूर्व कर्मों की निर्जरा की जाय तथा नवीन कर्मों के बंधन से बचा जाय। जब तक व्रत अंगीकार नहीं किये जाते, तब तक कर्मों का बन्धन होना भी रोका नहीं जा सकता।

एक कवि ने कहा है :—

बुद्धि का सार, तत्त्व विचार,
अर्थ का सार दो पात्र दान।
देह का सार व्रत लो धार,
जबान पशु नाम लेने को।

आना जो हुआ भेरा, फकत उपदेश देने को।

नींद गफलत की छोड़ो तिरो-तिरो यह कहने को॥

अत्यन्त सरल भाषा में कवि ने बड़ी महत्वपूर्ण बातें कह दी हैं। पद्य में कहा गया है बुद्धि का सार क्या है? अर्थात् बुद्धि अगर हमें मिली है तो उसका लाभ हमें कैसे उठाना चाहिये? उत्तर भी इसका साथ ही है कि अगर बुद्धि हमारे पास है तो उससे तत्त्वों का विस्तार किया जाय। जीव क्या है? अजीव क्या है? पुण्य और पाप में क्या फर्क है तथा बन्ध और मोक्ष का स्वरूप क्या है? निर्जरा कैसे की जा सकती है आदि।

जो व्यक्ति इन बातों का विचार नहीं करता कि मैं कहाँ से आया हूँ? अब कहाँ जाने का प्रयत्न करना है? भगवान के आदेश क्या हैं और उनका पालन कैसे हो सकता है? कर्मों की निर्जरा कैसे की जा सकती है और कर्म बन्धनों से बचा जा सकता है? तो वह व्यक्ति चाहे धन-वैभव के अम्बार खड़े कर ले या उच्च से उच्च पदवीधारी बन जाये, उसका समस्त धन और यश आदि सभी निरर्थक हैं।

पद्य में दूसरी बात कही गई है—'अर्थ का सार दो पात्र दान' अर्थात् अगर प्राप्त हुए धन का लाभ लेना है तो सुगन्ध को दान दो। देश के लिये, समाज के लिए, धर्म प्रचार के लिए अनाथ और विधवा बहनों के लिए तथा घनाभाव के कारण जो शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते हैं उन गरीब विद्यार्थियों के लिए अपने धन का व्यय करो तो धन का कुछ सार निकाल सकोगे अन्यथा अपने और अपने बच्चों के लिए तो पशु-पक्षी भी प्रयत्न करते ही हैं। मनुष्य के पास भले ही करोड़ों की सम्पत्ति हो, पर उसकी आत्मा के साथ ता वहाँ

पुण्य जाएगा जो दान देकर उपाजित किया जाएगा। एक उदाहरण से आप यह बात समझ सकेंगे।

तत्वज्ञ सेठ

एक सेठ अत्यन्त वैभवशाली थे। करोड़ों की सम्पत्ति उनके पास थी किन्तु वे दिल के बड़े उदार और परोपकारी वृत्ति के थे। कोई भी याचक उनके द्वार से खाली नहीं जाता था साथ ही उनकी धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और अटूट लगन थी। उनकी इन विशेषताओं के कारण चारों ओर खूब प्रशंसा होने लगी।

एक बार एक महात्मा उनके नगर में आए। महात्मा जी के यहाँ वे सेठजी और अन्य अनेक व्यक्ति भी दर्शनार्थ गए। कुछ समय पश्चात् वहाँ भी सेठजी के विषय में चर्चा होने लगी। लोग महात्मा जी से सेठजी की भाग्यवानी की साहना करने लगे।

किन्तु सेठजी बड़े तत्वज्ञ थे। वे अपनी प्रशंसा और अपने वैभव की सराहना सुनकर बोले—

“महाराज ! ये लोग कहते हैं कि मैं बड़ा मालदार हूँ पर यह बात सत्य नहीं है।”

संत ने सहज भाव से पूछा—“ऐसा क्यों? तुम्हारे पास करोड़ों की सम्पत्ति है और चार-चार सुपुत्र भी हैं। फिर तुम्हारी पुण्यवानी और धन सम्पन्नता में क्या कसर है?”

सेठजी ने मुस्कराते हुये उत्तर दिया—“भगवन् ! बाह्य दृष्टि से जैसा लोग कहते हैं मैं करोड़पति अवश्य हूँ किन्तु आंतरिक दृष्टि से देखा जाय तो मैं केवल बीस हजार का ही मालिक हूँ। क्योंकि मेरी जितनी भी दिखाई देने वाली पूँजी है, वह सब मैं यहीं छोड़कर जाने वाला हूँ केवल शुभ खाते में व्यय किया हुआ बीस हजार रुपये का फल ही मेरे साथ जाएगा।”

“दूसरे, व्यवहार दृष्टि से मेरे चार पुत्र जरूर हैं पर वे भी मुझे सिर्फ श्मशान तक ले जाएँगे। अतः वे चारों पुत्र नकली हैं।”

सेठजी की यह बात सुनकर सब विचार करने लगे यह क्या बात हुई? क्या पुत्र भी नकली होते हैं? फिर असली पुत्र कौन से कहलाते हैं? एक व्यक्ति ने पूछ भी ली यह बात।

सेठजी बोले—“भाई मेरा साथ देने वाले मेरे असली लड़के दो हैं। एक तो धर्म जिसका कुछ ही अंशों में मैंने उपाजित किया है, और दूसरा है पाप। धर्म सुपुत्र है वह मेरी रक्षा करेगा और पाप कुपुत्र है जो कष्ट देगा किन्तु रहेगा तो मेरे साथ ही। इस प्रकार मेरे पुत्र केवल ये ही दोनों हैं।”

सेठजी की बात यथार्थ थी। लोगों की समझ में आ गया कि सच्चा धन

और सच्चे पुत्र इस संसार में कौन से होते हैं। वस्तुतः सेठजी ने बुद्धि और अर्थ दोनों का सार निकाल लिया था।

पद्य में तीसरी बात कही गई है—‘देह का सार जो व्रत धार।’ अर्थात्—इस मनुष्य पर्याय का कुछ सार निकालना है, यानी लाभ लेना है तो जीवन में व्रतों को धारण करो। चाहें व्यक्ति अणुव्रत धारण करे या महाव्रत ग्रहण करे उसे अपने जीवन को संयमित अवश्य बनाना चाहिये।

हम कभी अपने भाइयों से नियम लेने को कहते हैं तो उनका उत्तर होता है :—“महाराज ! बंदोकड़ी में मत नाँखों।” पर भाई ! जरा विचार तो करो कि अपने मकान में तुम दरवाजे और उसमें भी ताले क्यों लगाते हो ? इसलिए न कि कोई घन-सम्पत्ति चुराकर न ले जाए ? तो आत्मा के अन्दर भी तो सद्-गुण रूपी अमूल्य घन है। क्या उसके चुराए जाने की कोई फिक्र नहीं है ? व्रत आत्मा के लिए ताले के समान ही हैं जिनके लगे जाने पर उस घन की चोरी का भय मिट जाता है।

कभी-कभी हमें समझाने के लिए लोगों को कहना पड़ता है—“आप अपनी कमीज में बटन क्यों लगाते हैं।”

उत्तर वे चट से दे देते हैं—“महाराज ! इनके बिना कपड़ा स्थिर नहीं रहता।”

बस ! इसी प्रकार जिस प्रकार बटनों के बिना आपकी कमीज स्थिर नहीं रहती, उसी प्रकार व्रतों के बिना आपका मन भी स्थिर नहीं रह सकता। जो ज्ञानी पुरुष अपने मन को व्रतों के द्वारा नियंत्रण में रख लेते हैं वे चाहे साधु बनें या गृहस्थ बनें रहें आत्म-मुक्ति के मार्ग पर बढ़ चलते हैं। ऐसा क्यों कहा जाता है, इस विषय में कवि सुन्दरदासजी ने कहा है :—

कर्म न विकर्म करे, भाव न अभाव धरे,
शुभ न अशुभ परे धातें निघड़क है।
बस तीन शून्य जाके पापहु न पुष्य ताके,
अधिक न न्यून वाके स्वर्ग न नरक है।
सुख-दुख सम दोऊ नीचहु न ऊँच कोऊ,
ऐसी विधि रहे सोऊ, मिल्यो न फरक है।
एक ही न दोय जाने, बंध मोक्ष भ्रम मानें
सुन्दर कहत ज्ञानी ज्ञान में ही रत है।

जो व्यक्ति नीति और सत्य मार्ग पर चलता हुआ अपना निर्वाह करता है और किसी प्रकार का अभाव होने पर भी उस अभाव को महसूस न करके कोई कुकर्म नहीं करता, किसी के अधीन नहीं रहता और अशुभ कृत्य न करने के कारण निघड़क रहता है। वह न किसी को कुछ देता है और न किसी से कुछ

लेता है, मान-अपमान और सुख-दुख को समान समझता है। अपने परिवार और बन्धु-बान्धवों में रहकर भी किसी के प्रति ममता नहीं रखता। शुभा-शुभ, पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक को कोई चीज नहीं समझता, किसी को ऊँचा और नीचा नहीं समझता सभी में ईश्वर का ही अंश मानता है। इसके अलावा कर्म-बंध और मुक्ति को भी मन का संकल्प मानता है तथा सदा ब्रह्म ज्ञान में लीन रहता है ऐसा ज्ञानी और जितेन्द्रिय पुरुष निश्चय ही जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति अपने मन तथा इन्द्रियों को अपने नियन्त्रण में रख सके। व्रतों को ग्रहण करने के लिए ही इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना होता है। जिस व्यक्ति का मन उसके वश में रहता है, उसका चारित्र्य निष्कलंक होता है कभी भी कोई प्रलोभन उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाता। उसे सदा यही ध्यान रहता है—

ऊँचा महल चिनाइया, सुबरन कली बुलाय ।
ते मन्दिर खाली परे, रहे मसाना जाय ॥
मलमल खासा पहिरते, करते बहुत गुमान ।
टेढ़े होकर चालते खाते नागर पान ॥
महलन नाँही पोढ़ते, परिमल अंग लगाय ।
ते सूपने दीसे नहीं, देखत गये बिलाय ॥

— कबीरदास

संयमी और ज्ञानी पुरुष संसार की विचित्रता और नश्वरता के विषय में सोचता है—जिन वैभवशाली श्रीमन्तों ने सुनहरा काम कराकर ऊँचे ऊँचे महल बनवाए थे, वे आज श्मशान में चले गए हैं और उनके महल सूने पड़े हैं। कीमती मलमल और खासा कपड़ों के वस्त्र पहनने वाले, पान के बीड़े मुँह में दबाए अत्यन्त गर्वपूर्वक एँठकर चलने वाले, इत्र, फुलेल अ.दि लगाकर महलों में फूलों की शय्या पर सुख से सोने वाले भी आज ऐसे विलीन हो गए हैं कि स्वप्न में भी कभी दिखाई नहीं देते।

बस ! अपने चिन्तन में संसार की इसी अनित्यता के बारे में बिचार करते हुए भव्य प्राणी अपने मन को जगत से उदासीन बना लेते हैं तथा समय के केंद्र द्वारा अपने चारित्र्य को सुरक्षित रखते हैं, कलंकित नहीं होने देते।

पद्य में कवि ने आगे कहा है—‘जबान प्रमुनाम लेने को।’ अर्थात् हमें जिज्ञा मिलती है तो उसका उपयोग ईश्वर के गुण-गान और प्रार्थना में करना

चाहिए। निरर्थक वाद-विवाद तथा बे बिर-पैर की बातें करने से कुछ भी लाभ हासिल नहीं होता, उलटे समय की हानि होती है तथा अनगल राग-रंग और विषय-लैजक बातों के करने से भावनाओं में विकृति आती है तथा कर्मों का बंधन होता है।

इधर-उधर बी बकवाद करना पानी को बिलोने के समान है। जिस प्रकार घण्टों, दिनों और महीनों भी पानी को बिलोया जाय तो उसमें से मक्खन की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार व्यर्थ की बातें करने से कुछ भी फल नहीं पड़ता।

इसके अलावा इसी जिह्वा से अगर कट्टु शब्दों का उच्चारण किया जाय तो कभी-कभी बड़ी खून-खराबी, मार-काट और हत्याएँ भी हो जाया करती हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा भी है—

“No sword bites so fiercely as an evil tongue.”

—पी. सिडनी

कोई तलवार इतना भयानक घाव नहीं करती जितना कि एक बुरी जिह्वा।

इसलिए बंधुओ ! हमें अपनी जबान को व्यर्थ की बकवास में नहीं लगाए रहना है तथा उसके द्वारा किसी का दिल दुःखाकर कर्म-बंध भी नहीं करना है। इससे हमें लाभ उठाना है और वह तभी मिल सकता है, जबकि हम इसे प्रभु-भक्ति में लगाए रहें, इसके द्वारा दीन-दुखियों को सान्त्वना प्रदान करें तथा अपनी मधुर वाणी से औरों के दुःख-भार को कुछ न कुछ हल्का करें। जिह्वा की महत्ता को समझने वाला ज्ञानी पुरुष कभी भी उसका गलत उपयोग नहीं करता तथा उसकी सहायता से नाम-स्मरण कर अपने असह्य कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को नाना प्रकार के कष्टों से बचाता है।

पूज्यपाद श्री अमीश्रुषि जी महाराज ने भी ईश-भक्ति या प्रभु का नाम लेने से होने वाले लाभ के विषय में कहा है—

प्रभु नाम लिए सब विघन विलाय जाए,
गरुड़ के शब्द सुन त्रास होत ध्याल को।
महामोह तिभिर पुलाय ज यों दिनेश उदे,
मेघ बरसत दूर करत दुकाल को॥

चिन्तामणि होय जहाँ दारिद्र्य रहे न रंच,
 धनन्तर आये भेदे वेदन कराल को ।
 तैसे जिन नाम से करम को न अंश रहे,
 ऐसे प्रभु अमीरिख जपत त्रिकाल को ॥

जो व्यक्ति भगवान् का भजन करते हैं उनके समस्त विघ्न कपूर के समान विलीन हो जाते हैं। पद्य में बताया है—गहड़ की आवाज सुनकर जिस प्रकार सर्प भयभीत हो जाता है, सूर्य के उदय होते ही घोर अंधकार मूट हो जाता है, बरसात आने पर अकाल दूर होता है, चिन्तामणि रत्न के होने पर दरिद्रता नहीं रहती, तथा धन्वंतरि वैद्य आकर बीमार की समस्त पीड़ाओं को मिटा देता है, इसी प्रकार जिनेश्वर का नाम लेने से बँधे हुए कर्मों का लेश भी आत्मा के ऊपर नहीं रहता। इसीलिए संत-महत्मा प्राणियों को प्रेरणा देते हैं कि अपनी जिह्व इन्द्रिय को व्यर्थ की बातों में न लगाकर उससे परमात्मा का नाम लो ताकि आत्मा का कल्याण हो सके।

कवि आगे कहता है—“मैं यहाँ पर तुम्हें यही चेतावनी देने आया हूँ कि गफलत की निद्रा का त्याग करो और अज्ञान के अँधेरे से ज्ञान के प्रकाश में आकर सही मार्ग पर चलो। अपने चारित्र्य को दृढ़ रखकर अगर साधना के मार्ग पर चलोगे तो इस संसार-सागर को पार कर लोगे।”

आपने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और चित्त मुनि के बारे में सुना ही होगा कि उन दोनों के जीवों ने पाँच जन्म साथ-साथ किए थे और उसके पश्चात् छठे जन्म में वे अलग-अलग हुए।

चित्त मुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को आकर बोध देना चाहा अतः कहा—“ब्रह्मदत्त ! हम पिछले पाँच जन्मों में साथ-साथ रहे हैं पर तुमने नियाणा कर लिया था अतः चक्रवर्ती बन गए और मैंने नियाणा नहीं किया अतः धनाढ्य उत्तम कुल में जन्म लेकर अब मुनि हो गया हूँ।”

“अब भी मैं चाहता हूँ कि तुम अपना हृदय धर्म-ध्यान में लगाओ, कुछ अंगीकार करो तथा साधना के पथ पर बढ़ो ! तुम से अधिक नहीं बन पाता है तो दान दो तथा व्रतों का अंशतः ही पालन करो।”

चित्त मुनि के उपदेश का ब्रह्मदत्त पर कोई असर नहीं हुआ और उसने इन सबके लिए स्पष्ट इन्कार कर दिया। तब मुनि ने कहा—“अच्छा और कुछ भी नहीं हो सकता तो कम से कम अनार्य कर्म तो मत करो ! आर्य कर्म करने का ही निश्चय कर लो।”

किन्तु चित्त मुनि के समझाने का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि—

चित्त कही ब्रह्मदत्त नहीं मानो,
 टोला रे नहीं लगे टाँची ।

कवि ने कहा है कि पत्थर पर जिस प्रकार एक भी टाँची का निशान नहीं पड़ता उसी प्रकार चित्त मुनि का समस्त प्रयत्न निष्फल गया। उनकी एक भी बात ब्रह्मदत्त ने नहीं मानी।

परिणाम यही हुआ कि मुनि तो संयम-पथ पर चलकर उच्चगति के अधिकारी बने और ब्रह्मदत्त सातवें नरक में गए।

वस्तुतः जो व्यक्ति तनिक भी पुरुषार्थ स्वयं नहीं कर सकता उसकी संज्ञा, महात्मा या स्वयं भगवान् भी क्या सहायता कर सकते हैं ?
मन्दिर से निकलो !

एक चोर चोरी करने गया किन्तु दुर्भाग्य से लोगों को उसके आगमन का पता चल गया और वे उसके पीछे पड़ गए। आगे चोर दौड़ता रहा और पीछे-पीछे बहुत से व्यक्ति।

चोर दौड़ता-दौड़ता एक मन्दिर में पहुँचा जिसमें अम्बादेवी विराजमान थीं। अन्दर जाकर वह भयाक्रांत व्यक्ति गिड़गिड़ाया—“माता मुझे बचाओ ! अन्यथा मैं आज मारा जाऊँगा। बहुत से व्यक्ति मेरा पीछा कर रहे हैं।”

अम्बादेवी बोली—“वत्स ! भयभीत मत होओ मैं तुम्हें बचा लूँगी। पर एक काम करना कि तुम्हारा पीछा करने वाले व्यक्ति जब अन्दर आएँ तो जोर से एक हुंकार कर देना।”

“माँ ! मैं कैसे हुंकार करूँगा ? मेरा तो डर के मारे गला बँठ गया है।”

“तो तुम आँखें ही दिखा देना उन्हें, उसके बाद मैं सम्हाल लूँगी।”

“मैं तो आँखें भी नहीं दिखा सकता ये भी तो भय के मारे पथरा गई हैं।” चोर दीनता से बोला।

“अच्छी बात है, तो तुम उठकर दरवाजा बन्द कर लो !” देवी ने तीसरा सुझाव दिया।

पर चोर बोला—“मेरी टाँचें इतनी काँप रही हैं कि मैं उठ भी नहीं सकता। दरवाजा बन्द कैसे करूँ ?”

“अरे भाई ! इतना क्यों भयभीत हो रहे हो ? तुम उठकर मेरी मूर्ति के पीछे छिप जाओ।” देवी ने दया करके फिर आदेश दिया।

पर चोर अत्यन्त भ्रू था। हाथ जोड़कर कहने लगा—“देवी माँ ! मुझ से तो हिला भी नहीं जाता यहाँ से !”

अब तो अम्बामाता को भी क्रोध आ गया। बोली—“तुम महा कायर और निकम्मे व्यक्ति हो। ऐसी पुरुषार्थहीन की मैं कोई सहायता नहीं कर सकती। चले जाओ मेरे मन्दिर में से।”

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को पुरुषार्थी तो होना ही चाहिए। पुरुषार्थ के अभाव में वह कोई भी शुभ कर्म करने में समर्थ नहीं हो

सकता । कहा भी है—

अर्धो वा मित्रवर्गोवा ऐश्वर्यंवा कुलान्वितम् ।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मणि ॥

—वेदव्यास (महाभारत)

जो पुरुषार्थ नहीं करते वे धन, मित्र, ऐश्वर्य, उत्तमकुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी, किसी का भी उपयोग नहीं कर सकते ।

पुरुषार्थ के अभाव में मनुष्य अपने चारित्र को भी दृढ़ नहीं बना सकता और उसका ज्ञान निरर्थक जाता है । अगर व्यक्ति शुभ विचार रखता है तो उसके अनुरूप उसे कर्म भी करने चाहिए तभी वह चरित्रवान और साधक कहला सकता है । किसी भी व्यक्ति की सच्ची परख उसके पांडित्य अथवा विद्वत्ता के बल पर नहीं की जा सकती । अगितु उसके कर्मों को देखकर ही उसके अच्छे बुरे की पहचान की जा सकती है ।

मनुष्य अपने चरित्र का निर्माता स्वयं ही होता है । क्योंकि समस्त अच्छाइयों और बुराइयों उसके अन्दर विद्यमान रहती हैं । ज्ञान और पुरुषार्थ के द्वारा वह अपने अन्दर रही हुई अच्छाइयों को उभार सकता है तथा मिथ्यत्व और अज्ञान के द्वारा बुराइयों को जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने आप में से ही तार निकालकर एक जाल-सा अपने चारों ओर बुन लेता है तथा उसमें फँस जाता है, उसी प्रकार चरित्रहीन व्यक्ति अपने अन्दर की बुराइयों को अपने चारों ओर फँसा लेता है और उसके परिणामस्वरूप कर्मों के असंख्य बंधनों में स्वयं ही जकड़ जाता है ।

चरित्रहीनता का सबसे बड़ा कारण उसकी दुर्बलता, आत्मविश्वस की कमी और अज्ञान होता है । किन्तु जो नर-पुंगव इन कमियों को दूर करके अपने ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित कर लेते हैं वे समस्त बाधाओं को जीतते हुए साधना-पथ पर बढ़ते हैं तथा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं ।

सच्चरित्र व्यक्ति की इच्छा शक्ति अदृष्ट और चमत्कारिक होती है । दूसरे शब्दों में इसी इच्छा शक्ति को हम भावना कहते हैं जिसके बल पर साधक अल्पकाल में भी स्वर्ग और मोक्ष तक प्राप्त कर लेता है । परमात्मा को प्राप्त करने के लिए मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा या गिरजाघर कहीं भी बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है । वह तो उसकी आत्मा में ही निवास करता है ।

कव जोक ने कहा भी है—

वह पहलू में बँठे हैं और बढगुमानी ।
लिए फिरती मुझको कहीं का कहीं है ॥

अर्थात्—परमात्मा तो मेरे अन्दर ही स्थित है किन्तु मेरा भ्रम उसकी खोज में मुझे न जाने कहाँ-कहाँ ले जाता है ।

तो बंधुओ, अन्त में मुझे यही कहना है कि अगर हमें मुक्ति की अभिलाषा है तो हमें अपने ज्ञान के द्वारा चारित्रिक दृढ़ता अपनानी है । और चरित्र में दृढ़ता लाने के लिए व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि के द्वारा मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना है । ऐसा करने पर ही हम अपने आचरण को शुद्ध एवं निर्मल बना सकेंगे तथा अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे ।

यद्यपि सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान भी मुक्ति के साधन हैं किन्तु मुख्य साधन चारित्र्य है । दर्शन एवं ज्ञान में परिपूर्णता आ जाने पर भी जब तक चारित्र्य में पूर्णता नहीं आती, आत्मा को मुक्ति नहीं मिल सकती । और चरित्र में पूर्णता आते ही वह तत्काल जन्म-मरण से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाती है । उसके अनादिकालीन कष्टों का और व्यथाओं का अन्त हो जाता है ।

स्पष्ट है कि चारित्र्य का मूल्य आध्यात्मिक क्षेत्र, तथा व्यावहारिक क्षेत्र दोनों में ही अत्यन्त महत्त्व रखता है । कोई भी व्यक्ति चाहे वह महा विद्वान् हो, दार्शनिक हो, वैज्ञानिक हो अथवा अन्य कोई भी महान् विशेषताएँ अपने आप में रखता हो, जब तक सदाचारी नहीं बन जाता उसे प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती । वही व्यक्ति जीवन में यश का उपाजन करता है और मर कर भी अमर बनता है जो अपने आचरण में दृढ़ता प्राप्त कर लेता है तथा जिसका आचरण स्वयं ही औरों के लिए आदर्श बनकर उनका मार्ग-दर्शन करता है ।

यही हाल आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है । जब तक साधक दान, शील, तप तथा भाव आदि की आराधना करता है, अपने मन और इन्द्रियों को नियंत्रण में रखता है तथा मरणांतक परीषह आने पर भी धर्म-मार्ग को नहीं छोड़ता, वही अपनी आत्मा को निर्मल बनाकर उसे पाँचवीं गति जिसे मोक्ष कहते हैं, उसमें ले जा सकता है ।

अभिप्राय यही है कि प्राणी जब अपना लक्ष्य मुक्ति को बना लेता है तथा उसकी रुचि विश्वास और श्रद्धा सब उसी दिशा में स्थिर हो जाते हैं, तभी उसका चारित्र्य दृढ़ बनता है और वह उत्तरोत्तर उन्नत होता हुआ आत्मा को समस्त कर्मों से मुक्त करता है । अतएव हमें अपने चारित्र्य को निष्कलंक रखते हुए उसे इतना सबल बनाना है कि मुक्ति स्वयं ही आकर हमारी आत्मा का वरण करे ।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा के अनुसार कल चारित्र के विषय में बताया गया था और आज उसी की गाथा के दूसरे चरण में तप का उल्लेख होने के कारण तप के विषय में बताया जायेगा ।

तपश्चर्या के विषय में क्रिया करने की जो रुचि है वह भी क्रिया-रुचि कहलाती है । तप करना अन्य क्रियाओं की तरह सरल नहीं है, उसके लिए शारीरिक कष्ट तो सहन करना ही पड़ता साथ ही समभाव रखना और इन्द्रिय सुखों का त्याग भी करना पड़ता है । किन्तु उसका लाभ अन्य समस्त क्रियाओं की अपेक्षा असंख्य गुना अधिक होता है । ढंढण ऋषि ने तपस्या के बल पर केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया था तथा आगमों में अन्य अनेक भव्य आत्माओं के विषय में वर्णन आता है, जिन्होंने तप के द्वारा अपने इच्छित लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त किया है । तप आत्मा में रहे हुए पापों को तथा दुर्बलताओं को दूर करके उसे तपाये हुए सोने के समान निर्मल, निष्कलुष एवं उज्ज्वल बनाता है ।

बने जितना करो !

हमारे जनागमों में तप का बड़ा विस्तृत विवेचन दिया गया है । उसमें तप के मुख्य प्रकार बारह बताये हैं और उनका विवेचन क्रमशः किया जायेगा । अभी तो हमें यह विचार करना है कि अधिक या कम जितना भी हो सके तप अवश्य करना चाहिये । क्योंकि —

'सकामनिर्जरासारं तप एवं महत् फलम् ।'

— योगशास्त्र

इच्छापूर्वक कष्ट, परीषह एवं उपसर्ग आदि सहन करने से सकाम-निर्जरा की उत्पत्ति होती है, जो कि आदर्श तपस्या ही है और इसका महान् फल यही है कि इससे कर्मक्षय हो जाया करते हैं ।

इसीलिये मेरा कहना है कि जितना हो सके तप करो। अगर रोज सम्भव नहीं है तो द्वितीय, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी इन पाँच तिथियों के दिन ही कुछ न कुछ करो। जितना भी त्याग कर सकते हो, जो भी व्रत धारण कर सकते हो अवश्य करो।

इनके अलावा पाँच तिथियों में भी आपसे प्रारम्भ में न बने तो चतुर्दशी पन्द्रह दिन में एक बार आती है; उस दिन ही अधिक नहीं तो रात्रि भोजन का त्याग करो, हरी मत खाओ, ब्रह्मचर्य व्रत रखो और ये भी न बने तो सामायिक ही करो। अगर एक दिन का महत्त्व आप समझ लेंगे और उस दिन कुछ धर्म-क्रिया अवश्या तप करने लगेंगे तो आपकी इच्छा अष्टमी को भी इसी प्रकार कुछ न कुछ करने की हो सवेगी। आवश्यकता यही है कि अप प्रारम्भ करें। कोई भी काम प्रारम्भ करने के बाद तो पूरा पड़ता ही है पर पूरा तभी होता है जब कि आरम्भ किया जाता है। तप का यही हाल है। व्यक्ति एक नमोकारसी भी करे उससे नरक के बन्धन टूटते हैं। नमोकारसी का अर्थ है—सूर्य उदय होने के एक घण्टे बाद खाना-पीना। यह कोई बठिन बात नहीं है। सहज ही एक घण्टा बिना खाये पीये निकाला जा सकता है। पर होगा यह भी तभी, जककि व्यक्ति इस बात की ओर ध्यान दे, नमोकारसी के महत्त्व को समझे तथा उसके पालन का निश्चय करे।

शास्त्रकारों ने तप का बड़ा भारी महत्त्व माना है और इसे मोक्ष के चार मार्ग दान, शील, तप और भाव में तीसरा स्थान दिया है। तपस्या का अर्थ केवल एक, दो दस या अधिक उपवास करना ही नहीं है अपितु दिनय, सेवा, प्रायश्चित आदि-आदि बारह प्रकार के आभ्यन्तर एवं बाह्य तप माने गये हैं।

अन्य धर्मों में तप का स्थान

यह सही है कि हमारे जैन धर्म में तप की महिमा बड़ी भारी बताई है तथा इसका सूक्ष्म विवेचन स्थान-स्थान पर दिया है। किन्तु अन्य सम्प्रदायों में भी इसका महत्त्व कम नहीं है। वैष्णव सम्प्रदाय तप को अत्यन्त आवश्यक और पवित्र मानता है। बड़ बड़ता है—अधिक तप न किया जा सके तो भी एकादशी का तो व्रत प्रत्येक को करना ही चाहिए।

मराठी भाषा में सन्त तुकाराम जी करते हैं—

पंधरावे दिवशीं एक एकादशी,
कारे न करिशी व्रतसार ॥१॥

पन्द्रह दिन बाद एक एकादशी आती है तब भी हे प्राणी! तू उसे क्यों नहीं करता? उस दिन व्रत क्यों नहीं रखता?

एकादशी का दिन अति श्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु इस व्रत में कुछ विवृति आ गई है। शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय और अनेक बुजुर्ग श्रद्धालु वैष्णव-भक्तों से जानकारी की जाय तो वे बताते हैं—दसमी के दिन एक वक्त खाना चाहिए, एकादशी के दिन निराहार रहकर द्वादशी को पुनः एक वक्त आहार करना चाहिये। किन्तु अब इस विधान के अनुसार नहीं किया जाता। यहाँ तक कि दसमी और द्वादशी को तो एक बार नहीं खाते सो नहीं खाते पर एकादशी को भी निराहार रहने के स्थान पर फलाहार के बहाने कुछ न कुछ खाते हैं। अर्थात् एक दिन के लिये भी खाना नहीं छोड़ते।

जबकि कहा गया है—

न भोक्तव्यं, न भोक्तव्यं सम्प्राप्ते हरिवासरे

—कात्यायन स्मृति

एकादशी के दिन कुछ भी नहीं खाना चाहिये।

इसीलिये सन्त तुकारामजी ने आगे कहा है :—

काय तुझा जीव जातो एक दिवसे

फारान्नाचे पिसे घंशो घड़ी ॥२॥

भर्त्सना के स्वरों में कहा गया है—अरे ! क्या एक दिन न खाने से तेरा जीव चला जायेगा जो तू फलाहार के निमित्त से खाने की तैयारी करता है ?

अभिप्राय यही है कि एकादशी के दिन फलाहार करने का निषेध शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी है और सन्त महात्मा भी यही कहते हैं। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय में भी तपस्या का विधान है। एक महीने में दो बार एकादशी आती है, बारह महीने में चौबीस बार तपश्चर्या हुई। और इसके बीच में कभी प्रदोष होता है कभी वार। उस दिन भी तपस्या रहती है। एकादशी के महत्त्व को बताते हुए वैष्णव धर्म ग्रन्थों में एक कथा है—

दुर्वासा ऋषि ने शाप दिया

महाराजा अम्बरीष भगवान् के परम भक्त थे तथा एकादशी व्रत के अडिग व्रती थे। एक बार उनके यहाँ दुर्वासा ऋषि आये। अम्बरीष ने उन्हें द्वादशी के दिन अपने यहाँ भोजन करने का निमन्त्रण दिया। क्योंकि वे द्वादशी को ब्राह्मण भोजन कराये बिना पारणा नहीं करते थे।

दुर्वासा ऋषि स्नान ध्यान आदि करने के लिये बाहर गये। किन्तु उन्हें उसमें बहुत देर लग गई। द्वादशी थोड़ी ही थी और उसके पश्चात् त्रयोदशी हो जाती थी। इधर शास्त्रों की आज्ञा थी कि एकादशी व्रत करके द्वादशी को

पारणा करना चाहिये । अतः महाराजा अम्बरीष ने ब्राह्मणों की आज्ञा से इस दौष की मिटाने के लिये तुलसी का एक पत्ता मुँह में ले लिया ।

इतने में ही दुर्वासा ऋषि आ गये और बिना आज्ञा लिये महाराज को तुलसी का पत्ता ले लेने के कारण क्रोध से आगबबूला हो गये । मारे क्रोध के उन्होंने अम्बरीष को शाप दे दिया—“तुझे जो इस बात का गर्व है कि मैं इसी जन्म में संसार-मुक्त हो जाऊँगा वह गनत साबित होगा और अभी तुझे संसार में दस बार जन्म मरण करना पड़ेगा ।”

कहते हैं कि ऐसा शाप दे देने पर भी ऋषि को तृप्ति नहीं हुई और उन्होंने कृत्या नामक एक राक्षसी का निर्माण किया जो पैदा होते ही अम्बरीष को खाने के लिये दौड़ी ।

अपने तपस्वी भक्त की यह दुर्दशा भगवान् से नहीं देखी गई और उन्होंने उसी क्षण अपने सुदर्शन-चक्र को भक्त रक्षा के लिये भेज दिया ।

सुदर्शन चक्र आया और वह कृत्या राक्षसी को मारकर दुर्वासा ऋषि के पीछे पड़ गया । दुर्वासा ऋषि चक्र के डर से तीनों लोकों में भागते फिरे पर किसी ने उन्हें आश्रय नहीं दिया । अन्त में वे भगवान् विष्णु के पास गये और विष्णु ने उन्हें महाराजा अम्बरीष से ही क्षमा याचना करने के लिये कहा ।

मरता क्या न करता ? इस कहावत को चरितार्थ करते हुए दुर्वासा ऋषि लौटे और अम्बरीष के चरणों पर आ गिरे । दयालु राजा ने बड़ी विनम्रता से स्तुति करके चक्र को शान्त किया ।

इसके पश्चात् विष्णु भगवान् ने प्रकट होकर दुर्वासा ऋषि से कहा—आप घोर तपस्वी हैं अतः आपका दिया हुआ शाप निष्फल तो नहीं जा सकता किन्तु अपने भक्त के शाप को मैं ग्रहण करता हूँ अर्थात् इसके बदले में मैं दस बार शरीर धारण करूँगा ।

बन्धुओ ! इस कथा से आपको दो बातों का ज्ञान हुआ होगा । प्रथम तो यह कि अपने एकादशी व्रत अथवा तपस्या के प्रभाव से अम्बरीष ने भगवान् को भी अपनी सहायता के लिये बाध्य कर दिया अर्थात् तपस्या में कितनी चमत्कारिक शक्ति होती है यह सिद्ध किया । दूसरे, यह स्पष्ट हो गया कि तपस्या कभी निष्फल नहीं जाती ।

दुर्वासा ऋषि क्रोधी अश्रय थे किन्तु घोर तपस्वी भी थे अतः उनका दिया हुआ शाप खाली नहीं गया और उसे स्वयं विष्णु को लेना पड़ा । इससे ज्ञात होता है कि तप कभी निरर्थक नहीं जाता । अज व्यक्ति थोड़ी-सी भी तपस्या करके उसके फल में सन्देह करने लगते हैं कि कौन जाने इसका लाभ मुझे कुछ मिलेगा या नहीं । वे भूल जाते हैं कि बीज बोने पर फसल पैदा होती तो

अवश्यंभावी है और इसी प्रकार तप करने पर उसका फल मिलना भी निश्चित है, चाहे उसके लिये इच्छा की जाय अथवा नहीं। कहा भी है—

“तपोऽथवा किं न करोति देहिनाम् ?”

प्राणियों के लिये तप क्या नहीं करता है ? अर्थात् सभी प्रकार की सिद्धियाँ तप ही प्रदान करता है।

तप की इस महत्ता के कारण ही सभी धर्मों ने इसे सम्मान दिया है तथा धर्म का अनिवार्य अंग माना है। और तो और मुसलमानों में भी तप करना आवश्यक माना गया है।

आप जानते ही हैं कि रमजान का महीना अने पर वे पूरे महीने रोजा रखते हैं। उन दिनों वे दिन भर कुछ नहीं खाते। रात्रि को चाँद देखने के पश्चात् ही आहार ग्रहण करते हैं।

आप कहेंगे—“वे दिन को नहीं खाते तो क्या हुआ रात्रि को तो खाते हैं।” पर भाई ! यह तो मानो कि वे दिन के चार प्रहर तक तो कुछ नहीं खाते। यह भी क्या कम है ?

हमारे यहाँ तो भोजन में एक ग्रास भी कम खाया जाय तो उसे उपोदरी तप मानते हैं, फिर मुसलमान दिन के चार-चार प्रहर तक भी कुछ नहीं खाते तो यह उनका तप नहीं हुआ क्या ? उनके ऐसा करने से सिद्ध होता है कि वे भी तपस्या को कम महत्त्व नहीं देते, उसे अपने धर्म का अभिन्न अंग मानते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि तपश्चर्या चारित्र्य धर्म का एक सुदृढ़ अंग है। और इसीलिये चाहे जैन धर्म हो, चाहे वैष्णव धर्म, और चाहे मुस्लिम धर्म हो सभी में तपस्या का विधान है। इसके अभाव में कोई भी व्यक्ति अपनी साधना को सम्पूर्ण फलदायिनी नहीं बना सकता।

हमारे यहाँ सोमप्रभ नामक एक बड़े आचार्य हुए हैं। उन्होंने तपस्या को कल्पवृक्ष की उपमा दी है। कल्पवृक्ष ऐसा वृक्ष माना जाता है, जिसके नीचे आकर व्यक्ति जो भी चाहे हो जाता है तथा जो भी वह चाहे मिल जाता है।

आचार्य ने किस प्रकार तप को कल्पवृक्ष माना है यह उनके एक ही श्लोक से विदित होता है। श्लोक इस प्रकार है—

संतोषः स्थूलभूलः प्रशम-परिकर-स्कन्ध-बन्ध प्रपञ्चः ।
पञ्चाक्षी शोध शास्त्रः स्फुर दमयदलः शील तपत्रयालः ॥
श्रद्धाभ्यः पूरसेकाट्टिपुल कुल बलेश्वर्यं तोन्दर्यं भोगः—
स्वर्गादि-प्राप्ति-पुष्पः शिवपद फलदः स्यात्तपः कल्पवृक्षः ॥

आचार्य ने तपस्या को कल्पवृक्ष की उपमा दी है किन्तु आपको जिज्ञासा हो सकती है कि जब प्रत्येक वृक्ष के जड़, शाखाएँ, फल, पत्तियाँ आदि होते हैं तो तपस्या-रूपी कल्पवृक्ष में ये सब हैं या नहीं ? और हैं तो किस प्रकार हैं ?

श्लोक में आपकी इस जिज्ञासा का भी समाधान दिया गया है। सर्वप्रथम इसमें तप-रूपी कल्पवृक्ष की जड़ के सम्बन्ध में बताया है। कहा है—तपस्या-रूपी इस कल्पवृक्ष की जड़ संतोष है। अब आप पूछेंगे कि संतोष जड़ कैसे हुई ? वह इसलिये कि, जिसके हृदय में संतोष होगा वही त्याग कर सकेगा। संतोष के अभाव ने न तो इन्द्रियों पर संयम रह सकेगा, न मन को वश में रखा जा सकेगा और न ही तपस्या हो सकेगी। जहाँ व्यक्ति एक उपवास भी नहीं कर पाता, वहाँ आठ-आठ दिन अथवा महीने भर भी उपवास कर जाता है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि उसे संतोष रहता है। खाद्य पदार्थों के प्रति आसक्ति और श्रद्धा का त्याग करके वह संतोष को धारण करता है और इसलिये उसमें तप करने की शक्ति स्वयं ही आ जाती है।

इसके विपरीत जिस व्यक्ति को इन्द्रियों के विषयों से कभी तृप्ति नहीं होती, भोग भोगकर भी उससे संतोष नहीं होता वह चाहे शुद्ध बन रहे या सन्यासी बनकर वन-वन फिरना प्रारम्भ करदे किन्तु उसका जीवन तपोमय नहीं बन पाता। न वह किसी प्रकार का बाह्य तप ही कर पाता है और न ही आभ्यन्तर तप का आराधना कर सकता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि संतोष के अभाव में भले ही व्यक्ति साधु बन जाय, वह किसी प्रकार का तपाराधन करने में समर्थ नहीं बन सकता, और संतोष को धारण करके वह अपने घर और परिवार में रहकर भी तपस्वी बन सकता है। प्रत्येक परिस्थिति में संतुष्ट रहने वाले व्यक्ति का एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है—

सभी यात्री हैं

किसी गाँव में एक व्यक्ति रहता था, उसके एक ही लड़का था। लड़का जवान हो गया और उस व्यक्ति ने लड़के का विवाह कर दिया।

एक दिन पिता ने किसी उद्देश्य से कुछ व्यक्तियों की मीटिंग करने का निश्चय किया और उन्हें सूचना भेज दी। दैवयोग से उसी दिन तीसरे प्रहर में उसके पुत्र का हार्टफेल हो गया और वह स्वर्गवासी हुआ।

पिता ने पूर्ण शांति से मृत को बैठक ही में लिटाकर उस पर एक कपड़ा डाल दिया तथा स्वयं दरवाजे में बैठकर आमंत्रित व्यक्तियों के आने की प्रतीक्षा करने लगा।

समय होते ही एक-एक करके लोग आने लगे और वह व्यक्ति उन्हें अपने-अपने स्थान पर बिठाने लगा। अचानक ही एक व्यक्ति की दृष्टि कपड़ा ओढ़े हुए किसी व्यक्ति के शरीर पर पड़ी तो उसने पूछ लिया—यह कौन सो रहा है ?”

पिता अपनी उसी शांति के साथ बोला—‘मेरा पुत्र मर गया है। मैंने सोचा कि हम सब पहले अपनी मीटिंग का कार्य निपटा लें तो फिर मिलकर इसे शमशान ले चलेंगे।’

व्यक्ति की बात सुनते ही वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति इस प्रकार चौंक पड़े जैसे वहाँ अकस्मात ही कोई भयंकर सर्प निकल आया हो। एक व्यक्ति ने महान् आश्चर्य से कहा—“आप कैसे हैं ? इकलौता पुत्र मर गया और उसकी लाश पर कफन ओढ़ाकर ऐसी शांति से मीटिंग का कार्य करने जा रहे हैं ? क्या आपको अपने इस जवान पुत्र की मृत्यु का रंज नहीं है ?”

वह व्यक्ति बोला—“भाई, रंज क्या करना ? मेरा और इसका क्या नाता है ? हम सब सराय के मुसाफिर हैं। पूर्व जन्मों के कर्मवश एक-दूसरे से मिलते हैं और अपना-अपना समय पूरा होने पर अपनी-अपनी राह जाते हैं। आत्मा का सगा कौन है ? कोई भी नहीं। अतः एक व्यक्ति पहले चल दिया तो क्या हुआ ? सभी को तो जाना है, इसमें रंज और शोक करने की क्या बात है ?”

बंधुओ, हर परिस्थिति में इस प्रकार समभाव और संतोष रखने वाला व्यक्ति ही निरासक्त भाव से तपाराधन कर सकता है तथा आत्म-साधना में सहायक प्रत्येक क्रिया को पूर्ण एकाग्र चित्त से सम्पन्न करने में समर्थ होता है। भले ही वह व्यक्ति गृहस्थ ही चाहे साधु हो।

तो इस प्रकार तप-रूपी कल्पवृक्ष का मूल संतोष है यह स्पष्ट हो जाता है। अब हमें इसके तने को देखना है कि वह क्या है ?

श्लोक में बताया गया है—शांति-रूपी समूह इस वृक्ष का तना है। जब तक वृक्ष का तना मजबूत और दृढ़ नहीं होता, वृक्ष की डालियाँ एवं फल-फूल आदि स्थिर नहीं रह सकते जैसे खंभों के मजबूत होने पर ही उस पर छत टिक सकती है।

संतोष-रूपी मूल पर शांति-रूपी तना होता है, कवि की यह बात यथार्थ है। आचार्य चाणक्य ने भी कहा—

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसम् ।

न च तद्गन्तुवधानामितश्चेतव धावताम् ॥

संतोष रूपी अमृत से जो लोग तृप्त होते हैं, उनको जो शांति और सुख होता है, वह धन के लोभियों को, जो इधर-उधर भटकते रहते हैं, नहीं प्राप्त होता।

हृदय में शांति का आविर्भाव होना और उसका वहाँ स्थिर रहना अत्यन्त कठिन होता है, सहज नहीं क्योंकि शांति उसी को प्राप्त होती है, जो अपनी सारी इच्छाओं का त्याग कर देता है तथा मैं और मेरेपन की भावना से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को कभी शांति नसीब नहीं होती जो सदा कहा करता है—

मेरो देह मेरो गेह, मेरो परिवार सब,
मेरो धन-माल, मैं तो बहु बिधि भारो हूँ।
मेरे सब सेवक, हुकम कोऊ मेटे नाहि,
मेरी युवती को मैं तो अधिक पियारो हूँ ॥
मेरो वंश ऊँचो, मेरे बाप-दादा ऐसे भये,
करत बड़ाई मैं तो जगत उजारो हूँ।
सुन्दर कहत मेरो-मेरो करि जाने शठ,
ऐसे नहीं जाने, मैं तो काल ही को चारो हूँ ॥

‘मेरी देह, घर, कुटुम्ब, धन-माल सभी मेरा है। मैं बहुत बड़ा आदमी हूँ। कोई सेवक मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। मेरी पत्नी मुझे अत्यन्त प्यार करती है, मेरा कुल और वंश बड़ा ऊँचा है। मेरे दादा-परदादा बड़े नामी व्यक्ति थे और मैं स्वयं भी एक दीपक के समान हूँ।’

कवि सुन्दरदासजी कहते हैं कि ऐसी बड़ाई करने वाला और घमण्ड में चूर रहने वाला मूर्ख यह नहीं जानता कि मैं तो स्वयं ही काल का एक घास हूँ। तो मैं आपको बता यह रहा था कि सांसारिक पदार्थों और परिजनों को दिन-रात मेरा-मेरा कहने वाला व्यक्ति मोह और आसक्ति के गहरे खड्डे में जा गिरता है और फिर उसे शांति नसीब ही कैसे हो सकती है? वह सदा लालची और अज्ञान बन रहा है। सच्चा सुख उससे कोसों दूर भागता है। क्योंकि वास्तविक सुख तो संतोष और उससे उत्पन्न शांति में ही निहित है।

संत तुलसीदासजी ने भी कहा है—

सात द्वीप नव खंड लौं, तीनि लोक जग माँहि ।
तुलसी शांति समान सुख, और दूसरो नाहि ॥

शांति का कितना महत्त्व बताया गया है? वस्तुतः शांति के समान संसार में अन्य कोई भी और सुख नहीं है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी कहा है—

“Peace is the happy and natural state of man.”

—टामसन्

शांति मनुष्य की सुखद और स्वाभाविक स्थिति है। अर्थात्—शांति आत्मा का स्वाभाविक और निजी गुण है। इसके अभाव में अन्यत्र कहीं भी

सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य को विषयों का सुख और आत्मा की शांति दोनों में से किसी एक को चुनना पड़ेगा। ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। इस संसार में रहकर अगर आत्मिक शांति प्राप्त करनी है तो विषयों के सुखों का त्याग करना पड़ेगा और ऐसा नहीं किया गया, अर्थात् विषय-भोगों का त्याग नहीं किया तो जीवन भर अशांति की आग में जलना पड़ेगा।

इसलिए प्रत्येक साधक को चाहिए कि वह संतोष-रूपीमूल पर स्थित शांति-रूपी तने को सुदृढ़ बनाए ताकि उसका तप-रूपी कल्पवृक्ष किसी भी प्रकार के भय से रहित रह सके।

आचार्य ऋणक ने तो शांति को महा तप माना है। कहा है—

शांति तुर्यं तपो नास्ति।

शांति के समान दूसरा कोई तप नहीं है।

यहाँ भी आचार्य सोमप्रभ ने शांति को तप-रूपी कल्पवृक्ष का सबसे महत्वपूर्ण अंग तना माना है जिसके आधार पर सम्पूर्ण वृक्ष टिका रहता है।

श्लोक में आगे कहा है—‘पञ्चाक्षी शोधशाखः।’ अर्थात्-पाँच अक्ष, यानी इन्द्रियाँ वृक्ष की शाखाएँ हैं। इन इन्द्रियों को जब पूर्णतया अपने नियंत्रण में रखा जाएगा तभी इन पर मधुर फल और फूल लग सकेंगे। फल और फूल से तात्पर्य है शुभ कर्मों का बंध होना।

आप जानते ही हैं कि जो प्राणी अपनी इन्द्रियों को अपने वश में नहीं रख पाते, उन्हें नाना प्रकार के पाप कर्मों का भागी बनना पड़ता है तथा संसार में अनादर और अपवश का भागी बनना पड़ता है। इसके विपरीत जो अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं, संसार उनके उन्मुख मस्तक झुकाता है।

तप का प्रभाव

एक राजा बड़ा प्रमादी था और सदा विषय भोगों में अनुरक्त रहता था। वह अपने राज्य-कार्य में बड़ी लापरवाही रखता था अतः वह सारा कार्य उसके मन्त्री को ही करना पड़ता था।

मन्त्री प्रथम तो बेचारा दिन-रात राज्य के कार्य में व्यस्त रहता, और कभी राजा के पास किसी आवश्यक कार्य से जाता तो राजा घंटों उसे द्वार पर बिठाये रखता। जैसे-तैसे मिलता तो भी सीधे मुँह बात न करता और नाना प्रकार से उसकी भर्त्सना करने लगता था।

यह सब देखकर मन्त्री को इन सांसारिक कार्यों से बड़ी नफरत हो गई। यद्यपि वह राज्य का कर्ता-धर्ता था और उसके पास भी अतुल ऐश्वर्य इकट्ठा हो गया था, किन्तु उसमें उसे तनिक भी सुख नजर नहीं आता था।

आखिर उसने सब कुछ छोड़ देने का निश्चय किया और एक दिन अपने

पुत्रों को आदेश दिया—“जितना भी धन ले जा सको ले जाकर किसी अन्य राजा के राज्य में रहो !”

पुत्रों ने पिता की आज्ञा का पालन किया और धन-माल लेकर कियो अन्य स्थान पर चले गये । इधर मन्त्री ने बचा हुआ धन गरीबों को बाँट दिया और स्वयं श्रुपचाप जंगल की ओर चल दिया । जंगल में जाकर उसने घास-फूस को एक छोटी-सी झोंपड़ी बनाई और उसमें रहकर तप करने लगा ।

जब दो-चार दिन बाद उस विषयी राजा के राज्य में मन्त्री के न होने से बड़ी अव्यवस्था हो गई तो राजा को मन्त्री का ध्यान आया । उसने अपने कर्मचारी मन्त्री को बुलाने के लिए भेजे किन्तु उन्होंने लौटकर यही उत्तर दिया—“मन्त्री तो सन्यासी बन गये हैं और तपस्या करने में लग गए हैं ।”

तब राजा स्वयं जंगल में मन्त्री के पास गया और बोला—“मन्त्रिवर ! तुम तो इतने बड़े राज्य के सम्पूर्णतः कर्ता-धर्ता थे तथा प्रचुर धन तुम्हारे पास था, फिर क्यों सन्यासी हो गये हो ? इस तपस्या में लग जाने से तुम्हें क्या हासिल हुआ ?”

मन्त्री ने उत्तर दिया—“महाराज ! मेरे सन्यासी बन जाने और तपारा-धन करने से प्रथम तो यही हुआ है कि जहाँ मैं आपके द्वार पर घंटों बैठा रहता था और आप दर्शन भी नहीं देते थे, आज स्वयं ही चलकर मेरे पास आए हैं । यह केवल मेरे दो-चार दिन के तप ही का फल है । अधिक करने पर फिर क्या लाभ होगा, यह अगला समय बताएगा । किन्तु यह तो निश्चित है कि धन-वैभव और विषय-भोगों का त्याग कर देने पर तुरन्त ही शुभ फल की प्राप्ति होने लगती है । जब तक मैं आपका मन्त्री बनकर इन सांसारिक सुखों को सुख मानता रहा, मुझे एक दिन के लिये भी शांति प्राप्त नहीं हुई । पर आज सब को छोड़ देने से मैं अपने आपको बड़ा हल्का मानता हूँ तथा मेरा चित्त बड़ी शांति का अनुभव करता है । वास्तव में ही इन्द्रियों का दास बनने से बढ़कर संसार में और कोई दुःख नहीं है । इसलिए मैं सब छोड़-छाड़कर तपाराधन में लग गया हूँ और अब आपके राज्य में लौटकर नहीं आऊँगा ।”

मन्त्री की बातें सुनकर राजा की भी आँखें खुल गईं और वह भी अपने पुत्र को राज्य सौंपकर साधु बन गया तथा अपने मन और इन्द्रियों को पूर्णतः वाग में करके तपश्चर्या में लीन हो गया ।

आगे कहते हैं—वृक्ष में पत्तियाँ भी होती हैं, वे पत्तियाँ कौन-सी हैं ? उत्तर दिया है—वैदोष्यमान अभयदान करने की जो प्रवृत्ति है वे ही इस तप-रूपी कल्पवृक्ष की पत्तियाँ हैं ।

मेघ कुमार मुनि ने अपने पिछले हाथी के भव में तीन दिन तक पैर ऊँचा रखकर एक खरगोश के प्राण बचाये। यह अभयदान का उत्कृष्ट उदाहरण है। हमारे आगमों में बताया गया है कि पशु भी त्याग, व्रत तथा प्रत्याख्यान करके आठवें स्वर्ग तक जा सकता है फिर मनुष्यों में तो ऐसी अभयदान की उत्तम भावना हो तो वह क्या नहीं प्राप्त कर सकता ?

शरणागत की रक्षा करना इतना उत्तम धर्म है कि उसके समक्ष अन्य समस्त धन क्रियाएँ भी फीकी हैं। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता उसके सभी सुकृत नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है—

शरणागत कर्हं जे तर्जाहि, हित अनहित निज जानि ।

ते नर पामर पापमय, तिन्हहि विलोकत हानि ॥

— संत तुलसीदासजी

कहते हैं— जो व्यक्ति अपनी ही लाभ-हानि का विचार करता हुआ शरण में आए हुए को शरण देने से इन्कार कर देता है उस अधम और पापी व्यक्ति का दर्शन भी महा अशुभ होता है।

और इसके विपरीत प्राणियों की रक्षा करने वाले महान् पापी के समस्त पापों का प्रायश्चित्त रक्षा करने जैसे पुण्य-कर्म के द्वारा होता है। अभयदान देना व्रत, उगवास, जप, तप आदि समस्त क्रियाओं से उत्तम है।

श्लोक में कहा है—शील सम्पत्प्रवालः। जो तपस्वी होगा वह शील-धर्म का पालन अवश्य करेगा। शील की महिमा अपरम्पार है और उसका पालन करने वाले विरले ही होते हैं।

महात्मा कबीर ने कहा भी है—

जानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक ।

जनिमा तपिमा बहुत हैं, शीलवंत कोई एक ॥

कहते हैं—जानी, ध्यानी, संयमी, दाता, शूरी और जप-तप करने वाले तो बहुत मिल जाते हैं किन्तु शीलवान् पुरुष कोई-काई ही होते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त कठिन है और सच्चा तपस्वी ही इसका पूर्णतया पालन कर सकता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि तपस्या का मूलाधार ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य का अथवा शील-धर्म का पालन न करने पर कठिन से कठिन या घोर तपस्या भी निर्जीव और निष्फल साबित होता है। शील-धर्म के संयोग से ही तपस्या महान् बनती है।

श्री सूत्रकृतांग में कहते भी हैं—

“तन्मेव वा उत्तमं बंधचेरं ।”

अर्थात्—ब्रह्मचर्य व्रत सब तपों में उत्तम है ।

स्पष्ट है कि जीवन में शील-धर्म का बड़ा भारी महत्त्व है । इसी के बल पर धर्म, सत्य, सदान्वार, बल व लक्ष्मी आदि टिके रह सकते हैं । शील ही इन सब सद्गुणों का आश्रय-स्थल है ।

महर्षि वेदव्यास ने भी शील की महिमा का बखान करते हुए महाभारत में लिखा है—

शीलं प्रधानं पुरुषे, तद्यस्येह प्रणश्यति ।

न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बंधुभिः ॥

व्यासजी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि शील मानव जीवन का अमूल्य रत्न है । उसे जिस मनुष्य ने खो दिया उसका जीना ही व्यर्थ है चाहे वह कितना धनी अथवा भरे-पूरे घर का क्यों न हो ।

अब प्रश्न होता है कि तप-रूपी कल्पवृक्ष का सिंचन किस प्रकार के जल से होता है ? उत्तर है—श्रद्धा-रूपी जल से वह सींचा जाता है । श्रद्धा के अभाव में तप तो क्या कोई भी शुभ क्रिया फलदायिनी नहीं बनती क्योंकि श्रद्धा वह शक्ति है जो कर्म करने में उत्साह, प्रेरणा एवं आत्मिक बल प्रदान करती है । श्रद्धा के अभाव में मनुष्य कभी भी इस संसार-सागर से पार नहीं हो सकता । न कभी ऐसा हुआ है और न होना सम्भव ही है । ऐसा क्यों ? इसलिए कि—

“श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः ।”

यह गीता की बात है कि—श्रद्धालु पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ज्ञान प्राप्त होने पर ही इन्द्रियों की संयम-साधना हो सकती है ।

आशय वही है कि श्रद्धा के द्वारा व्यक्ति अपनी उत्तम से उत्तम अभिलाषा को भी पूर्ण कर लेता है । वैष्णव ग्रन्थों में एक लघुकथा है—

पापों का भागीदार कोई नहीं

रत्नाकार नामक एक व्याध था । यद्यपि वह ब्राह्मण था फिर भी व्याध का कार्य करता था । रत्नाकार जंगल में पशु-पक्षियों का शिकार तो करता था वन मार्ग से होकर जाने वाले व्यक्तियों को भी लूट लेता था ।

एक दिन संयोगवश उधर से नारद जी निकले । व्याध ने उन्हें भी घेर लिया । छानने के लिये तो उनके पास था ही क्या ? पर नारद जी ने व्याध से कहा—भाई ! तुम अपने जिन स्वजनों के लिये घोर पाप-पूर्ण कार्य करते हो वे सब तुम्हारे द्वारा उपार्जित इस धन के ही भोक्ता हैं, किन्तु तुम जो महान् पापों का उपार्जन कर रहे हो इनमें कोई भी हिस्सा नहीं बटायेगा ।

व्याध ऋषि की बात सुनकर चकित हुआ और बोला—“क्या आप सच कहते हैं। इन समस्त पापों का फल अकेले मुझे ही भोगना पड़ेगा ?”

“हाँ यह बिल्कुल सत्य है। कोई भी तुम्हारे पापों में हिस्सा बटाने के लिए तैयार नहीं होगा, विश्वास न हो तो जाकर अपने घरवालों से पूछ आओ ! मैं तब तक यहीं खड़ा रहूँगा।”

रत्नाकर व्याध नारद ऋषि के प्रति अनायास ही श्रद्धा उमड़ पड़ी थी अतः उन पर विश्वास करके वह भागा हुआ घर गया और बारी-बारी से अपनी पत्नी, पुत्र, भाई आदि सभी से पूछा—“मेरे कमाए हुए धन में से तो तुम सभी हिस्सा बटाते हो पर मेरे पापों का कष्ट भोगने में कौन-कौन हिस्सा बटाएगा, यह बताओ ?”

व्याध की बात सुनकर सब मौन रह गए, किसी ने भी पापों में हिस्सा बटाने के लिए हाँ नहीं की। यहाँ तक कि उसकी पत्नी भी इसके लिए तैयार नहीं हुई। इसीलिए महापुरुष प्राणी को बेतावनी देते हैं—

पापों का फल एकले, भोगा कितनी बार ?

कौन सहायक था हुआ, करले जरा विचार !

कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार।

देख भोगले स्वर्ग-सुख, वे ही अपरम्पार ॥

तो रत्नाकर व्याध जिन भयंकर पापों का उपाजन कर रहा था उनका फल भोगने में जब परिवार का एक भी व्यक्ति तैयार नहीं हुआ और उन्होंने कह दिया—“हम तुम्हारे पाप के भागी नहीं हैं” तो व्याध की आँखें खुल गईं और वह उलटे पैरों लौटा। नारद जी के समीप आकर वह उनके चरणों पर गिर पड़ा और बोला—

‘भगवन्, मुझे क्षमा कीजिये। आपकी बात यथार्थ है। मेरे घर पर एक भी व्यक्ति मेरे पापों में हिस्सा लेने को तैयार नहीं है। अब आप बताइये मेरा उद्धार कैसे हो सकेगा ?”

नारदजी ने कहा—“भाई ! तुम ‘राम-नाम’ जपा करो।”

पर आश्चर्य की बात थी व्याध “राम राम” शब्द का उच्चारण नहीं कर सका।

बजाय उसके व्याध ने प्रसन्नता-पूर्वक इस बात को स्वीकार कर लिया और श्रद्धापूर्वक राम के बदले उलटा ‘मरा-मरा’ मन्त्र का जप करने लगा। इसी मन्त्र के प्रताप से वह वह व्याध आगे जाकर ‘बाल्मीकि’ मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यह सब श्रद्धा का ही प्रताप था। श्रद्धा ऐसी अमूल्य और चमत्कारिक भावना है कि उसके द्वारा मनुष्य के मन में समस्त दुर्गुण दूर हो जाते हैं तथा

भावनाएँ विषय-विकारों की ओर से हटकर शुभ-क्रियाओं को प्रेरणा देने लगती हैं। सम्यक् श्रद्धा जीवन-निर्माण का मूल कारण होती है जो मानव को उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर करती है। इसके अभाव में मनुष्य का जीवन ज्ञान को पीठ पर लादे हुए गधे के समान बन जाता है। अर्थात् श्रद्धा के अभाव में ज्ञान केवल दिमाग में बोल के सदृश ही रह जाता है। उसका कोई उपयोग नहीं होता। अतएव प्रत्येक साधक और तपस्वी को अपना प्रत्येक शुभ कर्म श्रद्धा की स्निग्धता के साथ करना चाहिये, तभी इच्छित फल की प्राप्ति हो सकती है।

अब हमारे सामने प्रश्न आता है—कल्पवृक्ष में फूल कैसे लगते हैं? इस विषय में विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उत्तम कुल, उच्च-जाति, आर्यदेश, सुन्दर शरीर, विपुल ऐश्वर्य एवं स्वर्ग की प्राप्ति आदि सभी तप-धर्म के फूल अथवा पुष्प हैं।

किन्तु हमें केवल पुष्पों से ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये अपितु इस वृक्ष से फलों की प्राप्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये। ध्यान में रखने की बात है कि तपस्या में जहाँ चाह की भावना रहती है। अर्थात् साधक श्रेष्ठ, राजा या देव-पद आदि की प्राप्ति करने की कामना मन में रखता है तो स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। पर यह तप का दोष है।

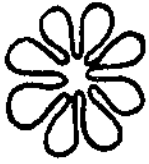
तप का सच्चा और सर्वश्रेष्ठ फल केवल मोक्ष है। जो प्राणी निस्वार्थ भाव से तप करता है वह अन्त में आत्म-मुक्ति प्राप्त कर अक्षय सुख का भागी बनता है। इसीलिए महापुरुष प्राणी को बार-बार चेतावनी देते हैं—

“क्रूरद्वारकपाटभेदि दबरे स्फीतं तपस्तप्यताम् ॥”

अर्थात् संसार रूपी कैदखाने के क्रूर द्वारों को चकनाचूर कर देने वाले और मोक्ष सुख को देने वाले इस समृद्ध तप को तुम आराधना करो।

बन्धुओं, तप के महत्व को आप समझ गये होंगे और यह भी समझ गये होंगे कि इसे कल्पवृक्ष क्यों कहा गया है। यह जान लेने के बाद अब आवश्यक है कि हम अपनी शक्ति के अनुसार आन्तरिक और बाह्य तप करके कर्म-मल का नाक करें तथा सर्वोच्च गति की प्राप्ति के प्रयत्न में जुट जाएँ। तभी हमारा मानव-जन्म सार्थक कहला सकेगा।





धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अष्टादशवें अध्याय की पच्चीसवीं गाथा का विवेचन करते हुए कल तपश्चर्या के विषय में हमने विचार-विमर्श किया था और आज विनय के विषय में कहना है।

विनय के सात भेद बताये गये हैं। किस-किसका विनय करना चाहिये इस बारे में कहा है—ज्ञान के विनय, दर्शन का विनय, चारित्र्य का विनय, मन का विनय, वचन का विनय, काया का विनय एवं लोकोपचार विनय करना चाहिये। ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र आदि विनयों को साथ लोकोपचार विनय भी अन्त में बताया है। यह क्या है इस विषय में ठाणांग सूत्र में कहा है—

“लोगोवयार विणए सत्तविहे पणस्से तंजहा अब्भासवत्तियं, परच्छंदाणुवत्तियं कज्जहेउं, कज्जपडिकइया, अत्तगवेसणया, देस-कालगया, सव्वन्द्यभुयपडिलोमया।”

इसमें लोकोपचार विनय सात प्रकार का बताया गया है जिनमें से पहला है—

अब्भासवत्तियं—अभ्यास का अर्थ है प्रयत्न करना। किन्तु यहाँ यह अर्थ नहीं है, यहाँ अभ्यास से अर्थ लिया गया है—गुरु के नजदीक रहने का अभ्यास रखना। गुरु के समीप रहने से शिष्य को अनेक प्रकार का लाभ प्राप्त होता है। उनसे अध्ययन करने से शास्त्र-ज्ञान तो प्राप्त होता ही है, साथ ही उनके जीवन से भी मूल्य शिक्षा मिलती रहती है जो शिष्य के चारित्र्य को शुद्ध और सुन्दर बनाती है। चारित्र्य का ज्ञान केवल पुस्तकों और धर्म-ग्रन्थों में पढ़कर प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसे व्यवहार में लाकर ही समझा जा सकता है। चारित्र्य के बल पर ही मनुष्य अपने जीवन को दूषित करने वाले सांसारिक प्रवृत्तियों से बच सकता है।

इसीलिए पूज्यपाद श्री अमीरुद्दिन जी महाराज मनुष्य को चरित्रवान बनने के लिये प्रेरणा देते हुए कहते हैं :—

मानुष जनम शुभ पाये के भुलाय मत,
औसर गयाम चित्त, फेर पछितावेगो ।
साधु जन संगत अनेक भाँत कर तप,
छोरिके कुपंथ एक ज्ञान पंथ आवेगो ॥
जीव वया सत्य गिरा अदत्त न लीजे कभी,
धारिके शियल मोह ममत मिटावेगो ।
ठावेगो सुकिया एते मन में विराग धार,
कहे अमीरिख तबे मोक्षपद पावेगो ॥

कवि ने कहा है—हे जीव ! ऐसा महान और शुभ मानव भव पाकर तू भूल मत कर, अगर यह अवसर तूने खो दिया तो फिर जन्म-जन्मान्तर तक पश्चात्ताप करना पड़ेगा । इसलिए साधु-जनों की तथा गुरुओं की संगति कर, उनके समीप रहकर ज्ञान दर्शन, चारित्र एवं तप की आराधना करने का प्रयत्न कर तथा अज्ञान एवं मिथ्यात्व के कुपंथ पर न चलकर ज्ञान के शुभ मार्ग पर आ !

हे साधक ! तेरा चारित्र तभी निर्मल बनेगा जब कि तू अहिंसा का पालन करेगा, अपनी जिह्वा से सत्य का ही उच्चारण करेगा, कभी बिना दी हुई वस्तु को नहीं लेगा, शीलवान् बनेगा तथा समस्त सांसारिक वस्तुओं पर से आसक्ति हटाकर निरासक्त भाव से अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ आत्मा की उन्नति के लिये भी प्रयत्न करता रहेगा । ऐसा करने पर ही तू अपने सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकेगा ।

वस्तुतः जो साधक अपने गुरु के समीप रहकर ज्ञानार्जन के साथ-साथ आत्मा को उन्नत बनाने वाले अन्य सद्गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करेगा तथा अपने गुरु की दिनचर्या, उनके त्याग-प्रत्याख्यान तथा उनकी तपः साधना पर प्रगाढ़ विश्वास और श्रद्धा रखता हुआ उन्हें अपनाने का प्रयत्न करेगा वही अपनी आत्मा को सफल बनाता हुआ आत्म-कल्याण कर सकेगा ।

लोकोपचार विनय का दूसरा भेद है :—‘परच्छंदाणं वृत्तियं’ । इसका अर्थ है बड़ों के स्वभाव के अनुकूल रहना अथवा बड़ों के चरण-चिह्नों पर चलना । यह भी विनय का एक महत्वपूर्ण अंग है । जो विनीत साधक या शिष्य अपने गुरु के द्वारा तिरस्कृत होकर भी उनके प्रति आस्था और पूर्ण भक्ति रखता है उसके लिये संसार में कुछ भी अलभ्य नहीं होता ।

विनय का फल

आपने चन्द्रयश मुनि का उदाहरण सुना होना । जब उन्होंने दीक्षा ग्रहण नहीं की थी, एक दिन अपने बहनोई के साथ आचार्य रुद्रदत्त मुनि के दर्शनार्थ गये ।

साले बहनोई का रिश्ता हँसी मजाक का होता है, यह आप जानते हैं । इसी दृष्टि से चन्द्रयश कुमार के बहनोई ने मजाक में आचार्य से कह दिया—
“यह हमारे साले चन्द्रयश जी आपके शिष्य होने के लायक हैं ।”

आचार्य रुद्रदत्त बड़े क्रोधी स्वभाव के थे अतः उन्होंने यह सुनते ही पास ही पड़ी हुई राख में से मुट्ठी भर राख उठाई और चन्द्रयश के मस्तक के बालों का लुँबन कर दिया । इस घटना को चन्द्रयश ने अन्तःकरण से स्वीकार किया और उसी वक्त मुनिवेश धारण करके अपने आपको मुनि मान लिया ।

पर अब एक समस्या बड़ी विकट सामने आ खड़ी हुई । चन्द्रयश मुनि ने सोचा—“मैं अचानक ही मुनि बन गया हूँ अतः अब मेरे माता-पिता और कुटुम्बीजन आकर गुरुजी को परेशान करेंगे और बुरी-भली कहेंगे अतः अच्छा हो कि हम आज ही यहाँ से अन्यत्र चल दें ।” यह विचार कर वे विनयपूर्वक आचार्य से बोले—

“भागवन् ! हम आज ही यहाँ से चल दें तो कैसा रहे ?”

क्रोधी गुरु ने उत्तर दिया—“तुझे दिखाई नहीं देता कि मैं चल सकने लायक नहीं हूँ ।”

“मैं आपको अपने कन्धे पर उठाकर ले चलूँगा ।” चन्द्रयश मुनि ने कहा और किया भी यही । वे गुरुजी को अपने कन्धे पर बिठाकर वहाँ से शाम को रवाना हो गये । रास्ते में घोर अन्धकार, धा कुछ भी सुझाई नहीं देता था अतः पत्थर आदि की ठोकर लगने से आचार्य का शरीर अधिक हिल उठता था और अत्यधिक जर्जरावस्था होने के कारण उन्हें तकलीफ होती थी । परिणाम स्वरूप वे अपने हाथों और पैरों से तबदीक्षित मुनि को मारते जा रहे थे तथा जबान से कटूक्तियाँ कहते जा रहे थे ।

किन्तु धन्य थे चन्द्रयश मुनि, जो कि गुरु के वाक्य बाणों की अथवा हाथों और पैरों के प्रहारों की परवाह न करते हुए विचार कर रहे थे—“हाय ! मैं कैसा पापी हूँ जिसके कारण मेरे गुरुजी को इतनी तकलीफ हो रही है । उनके इस दुःख और विनय ने उनके परिमाणों में इतनी उच्चता ला दी कि उस समय ही उन्हें वह केवल ज्ञान हो गया जो कि वर्षों की घोर तपस्या और महान साधना के पश्चात् भी प्राप्त नहीं होता ।

केवल ज्ञान के परिणामस्वरूप उन्हें मार्ग कर-कंकणवत् सुझाई देने लगा और वे पूर्ण सावधानी से गुरु को उठाये हुए मार्ग पर चलने लगे । इसका

फल यह हुआ कि चन्द्रयश मुनि को ठोकरें नहीं लगीं और आचार्य को तकलीफ होना बन्द हो गई। पर उन्हें इससे बड़ा आश्चर्य हुआ और इसीलिए शिष्य से पूछा—'क्या बात है ? मार्ग वहीं है और घोर अंधेरा भी। फिर तू इतनी सावधानी से कैसे चलने लग गया है ?'

मुनि ने अत्यन्त विनयपूर्वक ही उत्तर दिया—

“गुरुदेव ! यह सब आप ही की कृपा का फल है क्योंकि मैं अब सब कुछ और यह मार्ग भी पूर्ण रूप से देख रहा हूँ। इसीलिए चलने में तकलीफ नहीं होती और आपको भी कष्ट नहीं हो रहा है।”

ज्यों ही गुरुजी ने यह बात सुनी, वे समझ गये कि मेरे शिष्य को केवल-ज्ञान हो गया है। इस बात को जानते ही अब उनके हृदय में पश्चात्ताप का तूफान उठा। वे विचार करने लगे—'हाय ! मैं कितना दुष्ट हूँ जो अब तक अपने इस विनीत और केवल ज्ञान के अधिकारी शिष्य को हाथ-पैरों से चोटें पहुँचाता रहा। धिक्कार है मुझे जो मैंने ऐसे केवल ज्ञानी को असातना पहुँचाई।’

पश्चात्ताप की भावना गुरु रुद्रदत्त आचार्य के हृदय में इतनी उग्र हुई और परिणामों में इतनी उच्चता तथा तीव्रता आई कि उसी क्षण उन्हें भी केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो साधक विनय को अन्तरतम में प्रतिष्ठित कर लेता है उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता। विनय गुण के द्वारा ही चन्द्रयश मुनि ने स्वयं केवलज्ञान प्राप्त किया और अपने गुरु को भी प्राप्त करवाया।

इसीलिए शास्त्र में कहा गया है कि गुरुजनों के स्वभाव के अनुकूल रहना चाहिये। गुरु क्रोधी हो सकते हैं, पिता क्रोधी हो सकते हैं तथा मास व ससुर भी क्रोधी हो सकते हैं किन्तु महानता उसी वृत्ति की है जो अपने मधुर व्यवहार और विनय से उन्हें सन्तुष्ट करे और अपने आपको उनके अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे।

‘कञ्जहेउं’ यह लोकोपचार विनय का तीसरा भेद है। इसका अर्थ है—कार्य सम्पन्न करने हेतु विनय करना। मान लीजिये, किसी को ज्ञान प्राप्त करना है तो वह जिस किसी के पास भी मिले विनयपूर्वक ग्रहण करे। कभी भी यह न सोचे कि ज्ञानदाता मुझसे निम्न कुल का है, निम्न जाति का है या कि अन्य धर्म या सम्प्रदाय का है। दौ अक्षर सिखाने वाला भी ग्रहण करने वाले के लिये गुरु और पूज्य होता है। एक उदाहरण से आप यह बात समझ सकेंगे।

बिनय के अभाव में विद्या हासिल नहीं होती

राजा श्रेणिक के राज्य में एक भंगी रहता था। एक बार उसकी पत्नी गर्भवती हुई। गर्भावस्था में उसे आम खाने का दोहद उत्पन्न हुआ और अपने पति से उसने अपनी इच्छा जाहिर की !

भंगी पत्नी की इच्छा को जानकर बहुत चिंतित हुआ क्योंकि उन दिनों आम का मौसम था नहीं अतः वह कहीं से आम नहीं ला सकता था। किन्तु अचानक उसे ध्यान आया कि राजा श्रेणिक के निजी बाग में आम के ऐसे पेड़ हैं जिनमें सदा ही आम लगा करते हैं। यह ध्यान आते ही भंगी अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने अपनी स्त्री के दोहद को पूरा करने का निश्चय किया।

आप सोचेंगे कि राजा के शाही बगीचे में से भंगी को कौन आम लाने देता, पर यह समस्या हल करना उसके लिये कोई बड़ी बात नहीं थी। क्योंकि भंगी को ऐसी एक मिद्धि हासिल थी कि वह अपने तीर के द्वारा कहीं से भी कोई भी चीज अपने पास मँगवा सकता था। अतः उसने यही किया, अर्थात् बगीचे के बाहर से ही तीर छोड़ा और एक आम उसमें फँसकर आ गया।

घर जाकर उसने आम पत्नी को दिया और पत्नी ने उसे खाया। पर वह आम उसे इतना अधिक स्वादिष्ट लगा कि वह प्रतिदिन पति को उसे मँगाने के लिये बाध्य करने लगी। भंगी अपनी विद्या के बल से रोज आम लाने लगा। फल यह हुआ कि बगीचे में आमों की संख्या बहुत कम हो गई और वहाँ का माली बड़ा चकित हुआ कि बगीचे में चोर कभी दिखाई देता नहीं, पर आम घटते जा रहे हैं। उसने जाकर राज-दरबार में इस बात की शिकायत की।

फलस्वरूप राजा श्रेणिक ने अपने असाधारण बुद्धिशाली मन्त्री अभयकुमार के द्वारा आमों के चोर (भंगी) का पता लभवाया और उसे मृत्युदण्ड देने की आज्ञा दी।

भंगी जाति से निम्न था किन्तु ज्ञान में बड़ा-चड़ा और एक अद्वितीय विद्या का अधिकारी था। उसने कहा—

“राजन् ! आप मुझे सहर्ष मृत्युदण्ड दे दीजिये किन्तु पहले मुझसे वह विद्या सीख लीजिये जिसके द्वारा मैं बिना बगीचे में घुसे ही आम मँगवा लिया करता था। अन्यथा वह मेरी मृत्यु से मेरे साथ ही समाप्त हो जायेगी।”

श्रेणिक को भंगी की बात जँच गई और उन्होंने उसे दरबार में विद्या सिखाने के लिये उपस्थित होने का आदेश दिया। भंगी दरबार में लाया गया

और उसे अपनी विद्या सिखाने के लिए कहा। भंगी ने अपनी विद्या सिखाना प्रारम्भ किया किन्तु राजा श्रेणिक के पल्ले उसका एक अक्षर भी नहीं पड़ा। इससे श्रेणिक नाराज हो गये और बोले—“लगता है कि तू मुझे धोखा दे रहा है या कपट करता है। अन्यथा तेरी विद्या मुझे समझ में क्यों नहीं आती ?”

मन्त्री अभयकुमार उस वक्त दरबार में उपस्थित थे और अब उचित अवसर देखकर बोले—“दृजूर विद्या विनय के अभाव में नहीं सीखी जा सकती। आप सिंहासन पर विराजमान हैं और यह भंगी आपके समक्ष खड़ा है। फिर विद्या आप किस प्रकार ग्रहण कर सकते हैं ? गुरु के समक्ष तो आपको पूर्ण नम्रता और विनीतता के साथ ही रहना पड़ेगा।”

बात राजा की समझ में आ गई और वे तुरन्त सिंहासन से उतर गये। तदाश्चात् उन्होंने उस भंगी से गुरु के समान ही हादिक श्रद्धा अर्पित करते हुए यथा विधि विद्या देने की प्रार्थना की। राजा के विनय का चमत्कारिक फल हुआ और अल्प समय में ही उन्होंने विद्या में सिद्धि हासिल कर ली।

विद्या-दान के पश्चात् भंगी को मृत्यु दण्ड देने के लिये ले जाया जाने लगा किन्तु मन्त्री अभयकुमार जो कि प्रारम्भ से ही भंगी को काल का घास बनने देना नहीं चाहते थे, राजा से बोले “गरीब परवर ! अग्राध क्षमा करें, अब यह भंगी जो कि आपको विद्या-दान देने के कारण आपके लिये गुरु के समान पूज्य बन गया है आपके द्वारा मृत्युदण्ड दिया जाने लायक नहीं है। क्या कोई शिष्य अपने गुरु को मृत्युदण्ड दे सकता है ?”

अपने पुत्र और महामन्त्री अभयकुमार की बात सुनकर राजा श्रेणिक की आँखें खुल गईं और उन्होंने उसी क्षण भंगी को सजा से बरी करके ससम्मान विदा किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि किसी भी कार्य को सम्पन्न करने, अथवा किसी भी कला को सीखने के लिये विनय गुण की प्रथम और अनिवार्य आवश्यकता है। इसके अभाव में मनुष्य कभी भी अपने शुभ लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। अतः इसे लोकोपचार विनय का तीसरा भेद कहा गया है।

अब हमारे सामने चौथा भेद आता है—“कञ्जपडिकइया”। इसका अर्थ है—उपकार करने वाले का बदले में उपकार करना। हमारा धर्म तो कहता है—अपना अपकार कोई करे तो उसका भी मनुष्य उपकार ही करे, अपकार नहीं। फिर उपकार करने वाले का तो उपकार करना ही चाहिये।

महाकवि कालिदास ने तो कहा है—

न क्षुद्रोऽपि प्रथम-सुकृतापेक्षया सध्याय।

प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किन्पुनर्यस्तयोच्चैः ॥

— मेघदूत

अपने ऊपर उपकार करने वाला मित्र यदि दैवयोग से अपने घर आ जाय तो नीचात्मा भी भक्तिपूर्वक उसका आदर करते हैं, उससे विमुख नहीं होते फिर उच्चात्माओं का तो कहना ही क्या है। अर्थात् वे तो उपकार करने वाले का उपकार करते ही हैं।

युग प्रसिद्ध कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी बड़े भाव भरे शब्दों में कहा है—

He who wants to do good knocks at the gate; he who loves finds the gate open.

जो दूसरों पर उपकार जताने का इच्छुक है, वह द्वार खटखटाता है। जिसके हृदय में प्रेम है उसके लिये द्वार खुले हैं।

कहने का सारांश यही है कि उपकारी का उपकार करना एक प्रकार से अपना ही उपकार करना है और मनुष्य जीवन की सफलता इसी में है कि वह अपने उपकारी के उपकार को कभी न भूले और उसके किये हुए उपकार से बढ़कर उसका उपकार करे। उपकार के विषय में अधिक क्या कहा जाय उसका महत्त्व तो पशु-पक्षी भी समझते हैं।

जीवनदाता को जीवनदान

कहते हैं कि एक बार एक चींटी नदी के जल में बही जा रही थी। नदी के किनारे पर खड़े हुए वृक्ष पर उस समय एक चिड़िया बैठी थी उसने चींटी को जल में बहते हुए देखा तो उसे बड़ी दया आई किंतु वह निकाले कैसे? सोच विचार कर चिड़िया ने चींटी के पास एक वृक्ष का पत्ता गिरा दिया। चींटी पत्ते पर आकर बैठ गई तो चिड़िया ने उस पत्ते को अपनी चोंच से उठाकर नदी से बाहर सूखी जमीन पर रख दिया। परिणाम यह हुआ कि चींटी की जान बच गई। दोनों में इस घटना के पश्चात् बड़ी मित्रता हो गई।

चींटी चिड़िया के प्रति बड़ी कृतज्ञ हुई और अपने पर उपकार करने वाली चिड़िया का बदला चुकाने का अवसर देखने लगी। आखिर एक दिन उसे मौका मिल ही गया।

एक शिकारी उस जंगल में आया और शिकार करता हुआ घूमने लगा। इसी बीच उसने चींटी की सखी चिड़िया पर भी निशाना साधा। चींटी ने ज्योंहि यह देखा वह दौड़कर शिकारी के हाथ पर चढ़ गई और ज्योंहि शिकारी ने गोली चलाई, उसने शिकारी के हाथ पर जोर से काट खाया। चींटी के काटते ही शिकारी का हाथ हिल गया और उसका निशाना चूक गया। परि-

णाम स्मृत है कि चिड़िया बच गई। इस प्रकार उस नन्हीं-सी चींटी ने भी अपनी जीवनदात्री चिड़िया की जान बचाकर अपने उपकार का बदला चुका दिया।

आज तो हम देखते हैं कि अनेक वैभवशाली व्यक्ति अपने धन के नशे में चूर हो जाने के कारण अपने पूर्व के उपकारी किन्तु निधन मित्रों के उपकार को ही नहीं भूल जाते, अपितु उनको अपना मित्र कहने में भी संकोच और लज्जा का अनुभव करते हैं। ऐसे कृतघ्न पुरुषों के विषय में महर्षि बाल्मीकि ने लिखा है—

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।

तामृतानापि कथ्यदा कृतघनाश्रोपभुञ्जते ॥

अर्थात्—जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर अपने मित्रों के कार्य को पूरा करने की परवाह नहीं करते उन कृतघ्न पुरुषों के मरने पर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते।

कवि के कथन का यही अशय है कि उपकारी के उपकार को न मानना तथा उसके उपकार को भूल जाना महान् कृतघ्नता है और इससे बढ़कर संसार में अन्ध कोई पाप नहीं है।

इसीलिए महर्षि वेदव्यास महाभारत के वन पर्व में कहते हैं—

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसी ।

उपकारेण तत् तस्य क्षन्तव्यमपराधिना ॥

जिसने पहले कभी तुम्हारा उपकार किया हो, उससे यदि कोई भारी अपराध भी बन जाय, तो भी पहले के उपकार का स्मरण करके उस अपराधी के अपराध को क्षमा करते हुए उसकी भलाई करनी चाहिए।

उपकार का बदला उपकार से चुकाना भी विनय गुण कहलाता है और लोकोपचार विनय के चौथे अंग के रूप में बताया जाता है।

महापुरुष तो सदा अपने अपकारी का भी उपकार ही करते हैं। मराठी भाषा में कहा है—

बिघले दुःख पराने, उसणे फेडू नयेचि सोसावे ।

शिक्षा देव तयाला, करिल म्हणोनि उगोचि बसावे ॥

बंधुओ ! आज के युग में तो कविताएँ मन की लहरों के अनुसार ही लिखी जाती हैं और उसमें शृंगार रस की भरमार होती है। किन्तु प्राचीन काल के कवि अपनी प्रत्येक कविता किसी न किसी प्रकार की शिक्षा को लेकर ही लिखते थे। मराठी का यह पद्य जिस समय मैं स्कूल में पढ़ता था,

उस समय बोली जाने वाली कविता में से है, जिसमें कहा गया है—भले ही दूसरों ने तुम्हें अनेकों दुःख दिये हैं, किन्तु तुम उसके साथ वैसा मत करो अर्थात् उन्हें दुःख मत दो ;

दुःख देने वाले को सुख पहुँचाना ही महान् आत्माओं के लक्षण हैं। भगवान् महावीर को भुजंग चण्ड कौशिक ने उसा किन्तु क्या भगवान् के मन में उसका अपकार करने की भावना आई ? नहीं, उन्होंने तो उसे कृपापूर्वक ऐसा प्रतिरोध दिया कि वह असंख्य चीटियों के द्वारा शारीरिक रूप से चलनी के सपान बना दिया जाने पर भी, तथा 'राहगीरों' के द्वारा पत्थर मारे जाने पर भी समभाव रखता हुआ, मरकर आठवें स्वर्ग में गया। सारांश यही है कि भयंकर रूप से इस लेने वाले सर्प को भी भगवान् ने आठवें स्वर्ग में पहुँचा दिया। इससे बढ़कर उपकार और क्या हो सकता है ?

सती चंदनबाबा की कथा भी आपने अनेक बार सुनी और पढ़ी होगी। मूला सेठानी उसे हथकड़ी बेड़ियों में जकड़ देती है, उसका सिर मुँड़ा देती है तथा नाना प्रकार के अन्य अनेकानेक कष्ट देती है। किन्तु भगवान् महावीर को उड़द के छिलकों का आहार देने पर सौनेयों की वृष्टि देवताओं के द्वारा होती है तो वह मूला सेठानी को ग्रहण करने के लिए कहती हुई कहती है "यह सब आपके उपकार का ही परिणाम है।" इस प्रकार मूला सेठानी के दिये हुए कष्ट की भी वह उपकार कहकर अपने असंख्य निविड़ कर्मों की निर्जरा कर लेती है।

इसीलिए कवि कहते हैं—

जो तुझको काँटा बुवे, ताहि बोव तू फूल।

तुझको फूल का फूल है, बाहि शूल का शूल॥

यानी; "तू किसी को बुराई का बदला बुराई से मत दे ! तुझे तो भलाई के बदले लाभ ही होगा और बुराई करने वाले को स्वयं उसके कर्म सजा दे देंगे। तू उसकी बुराई की सजा देकर स्वयं पाप-कर्म का भागी मत बन !"

सीधे-सादे शब्दों में कहे गए इन शब्दों में कितना रहस्य है ? कितनी महान् शिक्षा है यह ? अगर मनुष्य इस बात को समझ ले तो उसकी आत्मा को भी निचाई की ओर नहीं जा सकती। महापुरुष इस गुण को अपनाकर ही अपनी आत्मा को उन्नत बनाते हैं।

संक्षेप में, इस विषय को लेकर तीन वृत्तियों का रूप दिया जा सकता है। पहली वृत्ति या भावना जो शैतान की कहलाती है, वह है—उपकार करने वाले का भी अपकार करना। दूसरी भावना साधारण मानव की होती है, जो 'अपने ऊपर उपकार करने वाले का समय मिलते ही उपकार करके बदला

चुकाना है। तीसरी सर्वोच्च और महान् भावना है जो देवताओं की अथवा साधु-पुरुषों की कहलाती है। वह है—अपने पर अपकार करने वाले पर भी उपकार ही करना। बुराई का बदला भी भलाई से ही देना। बुराई के बदले बुराई और भलाई के बदले में भलाई करना कोई बड़ी बात नहीं है। महानता तो उसी भव्यप्राणी की मानी जा सकती है जो बुराई के बदले में भलाई करे। वही सच्चा साधु कहला सकता है।

संस्कृत के एक पद्य में भी कहा गया है—

उपकारिषु यः साधुः, साधुत्वे तस्य को गुणः ?

अपकारिषु यः साधुः, सः साधुः सद्भिश्च्यते ॥

उपकार के बदले में जो साधु उपकार करे उसमें उसका क्या साधुत्व है ? साधु तो वही कहला सकता है जो अपकार का बदला भी उपकार के रूप में देवे। प्राणी की महानता तभी साबित होती है जब वह दूसरों के किये हुए अपकार को तथा अपने द्वारा किये हुए उपकार को भूल ही जाय। जैसा कि संत तुलसीदास जी ने कहा है—

करी बुराई और ने, आप कियो उपकार ।

तुलसी इन दो बात को, चित से वेह उतार ॥

क्या कहते हैं तुलसीदास जी ? वे भी इन दो बातों को भूल जाने की प्रेरणा देते हैं। जो अभी-अभी मैंने बताई है। वैसे भी एक कहावत है—“नेकी कर और कुए में डाल।” इसका अर्थ भी यही है किसी के साथ नेकी करके उसे भूल जाओ, कभी भी पुनः स्मरण मत करो। अन्यथा तुम्हारे दिल में अहंकार की भावना पनप जाएगी।

आज तो दुनिया इससे उलटी ही चलती है। वह औरों के सद्गुणों को अथवा उनकी की हुई भलाई को तो याद नहीं रखती उलटे उनकी की हुई बुराई को अथवा उनके आवेश में कह दिये गये दुर्वचनों को ही याद रखती है। अनेक व्यक्ति तो मृत्यु के समय तक भी किसी से बंधे हुए बैर को नहीं त्यागते और कह जाते हैं—“मेरी लाश भी अमुक व्यक्ति को छूने मत देना।”

कितने अज्ञान और अविनय की भावना है यह ? आत्मा को ऐसे बैर से कितनी हानि पहुँचती है ? जन्म-जन्मान्तर तक भी उससे बंधे हुए कर्मों से छुटकारा नहीं मिल पाता और वह संसार में पुनः-पुनः जन्म-मरण करती हुई भटकती रहती है।

इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि किसी के उपकार का बदला तो उपकार करके दो ही, साथ ही अपकार करने वाले का भी उपकार करो, अपकार के बदले अपकार करके कर्मों का बन्ध मत करो।

लोकोपचार विनय का पाँचवाँ भेद है—‘अत्तगवेषणया इसका अर्थ है, आत्मा की गवेषणा यानी खोज करना। आत्मा की खोज से तात्पर्य है आत्मा की शक्तियों को पहचानना तथा उसमें रहे हुए सद्गुणों को विकसित करना। जो व्यक्ति आत्मा की सच्ची पहचान कर लेता है वह न किसी सांसारिक प्रलोभन में फँसता है और न ही किसी वस्तु के अथवा सम्बन्धी के वियोग पर ही शोक करता है। यहाँ तक की अपनी मृत्यु के समीप आ जाने पर भी वह भयभीत नहीं होता, किसी भी प्रकार का दुःख महसूस नहीं करता। क्योंकि वह भली-भाँति जान लेता है—

न जायते म्रियते वा विपश्चि,
 न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
 अजो नित्यः शाश्वतोऽप्यं पुराण,
 न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—कठोपनिषद

नित्य चैतन्य रूप आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है, न यह किसी से हुआ है और न इससे कोई हुआ है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुराण है; शरीर के मारे जाने पर भी यह मरता नहीं है।

यही बात गीता में भी कही गई है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
 न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति भास्तः ॥

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल इसे भिगो नहीं सकता और पवन इसे सुखा नहीं सकता।

स्पष्ट है कि आत्मा अजर-अमर है और अनन्त शक्तिशाली है। सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यमय है। आवश्यकता है केवल इनकी पहचान करने की और इनके द्वारा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करते हुए इसे पूर्ण विशुद्ध बनाने की। यह तभी हो सकता है जबकि इस पाप रहित, जरा-रहित, मृत्यु, रहित, शोक रहित, भूख और व्यास रहित आत्मा को जानने की मनुष्य इच्छा करे और इसके सच्चे स्वरूप को समझ कर इसकी मुक्ति का प्रयत्न करने में लग जाये। वह आत्मा में रहे हुए सद्गुणों को जगाए तथा दया एवं अहिंसा की भावना को हृदय में प्रतिष्ठित करता हुआ अपनी आत्मा के समान ही अन्य सभी की आत्मा को समझे। अपने दुःख-दर्द की तरह ही औरों के दुःख-दर्द को माने। जो प्राणी ऐश्वर्य समझ लेता है व स्वप्न में भी किसी अन्य को कष्ट पहुँचाने की कामना नहीं करता।

दया का महत्त्व बताते हुए पूज्यपाद श्री अमीश्रुषि जी महाराज ने भी कहा है—

जगत के जीव ताको आत्म समान जान,
 सुख अभिलाषी सब दुख से डरत है ।
 जानी हम प्राणी पालो दया हित आणी,
 यही मोक्ष को निसाणी जिनवाणी उचरत है ।
 मेघरथराय मेघकुंवर धरमरुचि,
 निज प्राण त्याग पर जतन करत है ।
 जनम मरण मेट पामत अनन्त सुख,
 अमीरिल कहै शिव सुन्दर बरत है ।

कवि कहते हैं—जिस प्रकार हमारी आत्मा दुःख से भयभीत होती है तथा सुख की अभिलाषा करती है, उसी प्रकार संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से डरता है तथा सुख प्राप्ति की कामना करता है । यह विचार करके प्रत्येक मुमुक्षु को पर-हित और पर-दया का पालन करना चाहिए यही भावना मोक्ष की प्राप्ति कराती है ऐसा जिनवाणी का कथन है । इसी भावना के कारण राजा मेघरथ, मुनि घमंरुचि और मेघकुमार आदि ने अपने प्राण देकर भी अन्य प्राणियों की प्राण रक्षा की । दया की भावना से ही जीव जन्म-मरण का अन्त करके अक्षय सुख की प्राप्ति करता है तथा शिव-रमणी का वरण करता है । यह सब आत्मा को पहचान लेने पर ही संभव होता है । इसीलिए इसे लोकोपचार विनय का अंग माना है तथा आत्मा का विनय कहा गया है ।

इस विनय का छठा भेद है—‘देशकालणया ।’ देश में कौसी परिस्थिति चल रही है और किस वक्त उसे क्या आवश्यकता है इस बात की भी मनुष्य को जानकारी रखनी चाहिये तथा परिस्थिति के अनुसार अपना सहयोग देने का प्रयत्न करना चाहिए । कहा भी जाता है—

जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी ।

अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण होती हैं । इसीलिए अनेकों देशभक्त देश के लिये अपने प्राण भी न्यौछावर करने में नहीं हिचकिचाते । किसी ने तो यहाँ तक कहा है—

‘देश-भक्त के चरण स्पर्श से कारागार अपने को स्वर्ग समझ लेता है, इन्द्रासन उसे देखकर कांप उठता है । देवता नन्दन-कानन से उस पर पुष्प-वृष्टि कर अपने को धन्य मानते हैं, कलकल करती हुई सुर-सरिता और ताण्डव नृत्य में लीन रुद्र भी उसका जय-जयकार करते हैं ।’

कहने का अभिप्राय यही है कि जब तक मनुष्य इस मानव देह को धारण किये रहता है उसे अपने परिवार, समाज और देश में रहना पड़ता है । अतः सभी के प्रति यथोचित कर्तव्यों का पालन करना उसका अनिवार्य फर्ज हो

जाता है। जिस देश में उसने जन्म लिया है, जहाँ की हवा और पानी ने उसके शरीर का पोषण किया है उसके प्रति मानव का कर्तव्य है कि वह जहाँ जिस प्रकार की जरूरत हो उसे पूरा करने में तत्पर रहे। यही देश के प्रति विनय की भावना कहलाती है।

अब लोकोपचार विनय का अन्तिम और सातवां भेद हमारे सामने आता है—'सद्यत्थेसुयपडिलोमया।' अर्थात्—समस्त सांसारिक पदार्थों पर अनासक्त भाव रखना। भावना का जीवन में बड़ा भारी महत्त्व होता है। क्योंकि कर्मों का बन्ध भावनाओं पर ही आधारित है। अगर व्यक्ति की किसी वस्तु में आसक्ति नहीं है तो वह भले ही चक्रवर्ती क्यों न हो, और अनेकानेक इन्द्रिय सुखों का उपभोग क्यों न करता हो, अपनी आत्मा को मुक्ति की ओर ले जाता है तथा असक्ति रहने पर एक दरिद्र भी परिग्रह के पाप का भागी बनकर नरक की ओर प्रयास करता है।

संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो गेहआ वस्त्र पहनकर लम्बी-लम्बी मालाएँ गले में डाल लेते हैं तथा अपने आप को साधु घोषित कर देते हैं किन्तु अनेक बार रात के अँधेरे में उन्हें सिनेमाघरों में बैठे हुए पाया जाता है। वस्त्र वैरागियों जैसे और मन भोगियों जैसा हो तो आत्म-कल्याण किस प्रकार होगा? बनाना तो मन को वासनाहीन है न! मन जब भोगेच्छाओं से रहित हो जाता है तो उस पर सच्चे वैराग्य और भक्ति का रंग शीघ्र चढ़ता है। और इसके विपरीत अगर मन वासनाओं की कालिमा से काला बना हुआ है तो उस पर वैराग्य का रंग चढ़ना सम्भव नहीं है।

सच्चा साधु तो अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में करता हुआ लक्ष्मी से कहता है—

मातलंक्षिम भजस्व कविदपरं मरकाक्षिणी मा स्म भू-
भोगेभ्यः स्पृहयालवो नहि वयं का निस्पृहाणामसि ?
सद्यःस्पृतपलाश पत्र पुटिका पात्रे पवित्रीकृते,
भिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्ति समीहामहे ।

—भर्तृहरि

अर्थात्—'हे मा लक्ष्मी ! अब तो तू किसी और की तलाश कर; मुझे तो विषय भोगों की तनिक भी चाह नहीं है। मेरे जैसे निस्पृह और इच्छा रहित व्यक्ति के लिए तू सर्वथा तुच्छ है, क्योंकि मैंने अब पलाश के पत्रों के दोनों में केवल भिक्षा के सत्तू से ही गुजारा करने का संकल्प कर लिया है।

बन्धुओ ! जो प्राणी इस प्रकार अपनी इच्छाओं को समाप्त कर देता है, किसी भी पदार्थ पर आसक्ति नहीं रखता तथा सुख भोग और धन वैभव को

तुच्छ समझता है वही परमपद को प्राप्त कर सकता है । इसके विपरीत जो पदार्थों पर से अपना ममत्व नहीं हटाता तथा जीवन के अन्त तक भी उनमें आसक्त बना रहता है वह धर्माभ्यास का दिन-रात ढोंग करके भी अपनी आत्मा को रंग मात्र भी ऊँची नहीं उठा पाता । परिणाम यह होता है कि उसकी समस्त ऊपरी क्रियाएँ उसकी अन्तरात्मा को नहीं छूतीं और उसका समस्त प्रयत्न व्यर्थ चला जाता है ।

इसलिये साधक को चाहिये कि वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, मन, वचन, काम और लोकोपचार विनय को समझे तथा उसको अपने जीवन में उतारे । तभी वह अपने मानव पर्याय को सार्थक कर सकता है तथा जीवन का सच्चा लाभ उठा सकता है ।





धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों !

श्री उत्तराष्ट्रग्रन्थ सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय की पच्चीसवीं गाथा के आधार पर कई दिन से हम विचार विनिमय कर रहे हैं। विनय के विषय में कल बताया जा चुका है। विनय के पश्चात् गाथा में 'सच्च' शब्द आया है। सच्च का अर्थ है— सत्य। सत्य के विषय में रुचि रखना तथा सत्य बोलना क्रिया रुचि के अन्दर ही आता है।

सत्य का महात्म्य

महर्षि वेदव्यास ने सत्य को अत्यन्त महान् और सब से बढ़कर धर्म माना है। कहा है—

“सत्य से बढ़कर धर्म नहीं है। सत्य परब्रह्म परमात्मा है।”

और महात्मा गांधी ने कहा है—

“परमेश्वर सत्य है; यह कहने के बजाय सत्य स्वयं ही परमेश्वर है।” यह कहना अधिक उपयुक्त है।”

एक पाश्चात्य विद्वान के भी यही विचार हैं—

“One of the sublimest things in the world is plain truth.”

— बुत्त्वर

सरल सत्य संसार की सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं में से एक है।

अभिप्राय यही है कि सत्य जीवन का सबसे सुन्दर शृंगार है और सर्वोत्तम धर्म है। जो व्यक्ति मन से, वचन से और शरीर से सत्य का आचरण करता है वह परमेश्वर को पहचान लेता है तथा मुक्ति का अधिकारी बनता है। देखा जाय तो सत्यवादी और असत्यवादी दोनों की अन्त में गति एक सी ही होती है। एक दरिद्र को कब्र भी उसी प्रकार जमीन में बनाई जाती है जिस प्रकार एक अमीर की।

किसी उर्दू भाषा के शायर ने कहा है—

झाड़ उनकी कब्र पं है औ निशा कुछ भी नहीं,
जिनके घोसों से अभीनों-आसमां थे काँपते।
चुप पड़े हैं कब्र में अब हूं न हाँ कुछ भी नहीं।
तख्तबालों का पता देते हैं तख्ते गौर के,
दम व खुद है कब्र में दागे अजा कुछ भी नहीं ॥

कितनी दर्दनाक तस्वीर है ? कहा है—जिनके उद्घोष से पृथ्वी और आसमान भी काँप जाते थे वे ही महा प्रतापी व्यक्ति आज कब्र में सोये हुए हैं अब वे न अपने वैभव का प्रदर्शन कर सकते हैं और न ही उनकी बुलन्द आवाज ही कहीं गूँज सकती है। उनका समस्त गौरव और समस्त बल उनके साथ ही कब्र में सो गया है। साथ गया है तो केवल उनका पुण्य और अशुद्ध कर्म।

वस्तुतः मनुष्य कैसा भी क्यों न हो, अगर वह धर्मपरायण और सत्यवादी है तो अपने साथ पुण्य ले जाता है और मिथ्याभाषी तथा पापात्मा होता है तो पाप कर्मों का बोझ लादकर संसार में भटकता है।

हमारे प्रश्न व्याकरण सूत्र के द्वितीय संवरद्वार में सत्य के विषय में अत्यन्त विस्तृत वर्णन दिया गया है। सत्य क्या है ? सत्य से क्या-क्या लाभ हैं ? इनके कितने नाम करण किये गये हैं ? आदि-आदि सभी बातें सूत्र में समझाई गई हैं। एक स्थान पर यह भी कहा गया है—सच्च खुं भगवं।” अर्थात्—सत्य ही भगवान है।

सत्यवादिता साधारण वस्तु नहीं है। एक जबरदस्त कसौटी है, जिस पर बिरले ही खरे उतरते हैं। जो खरे उतर जाते हैं, उनका नाम सदा के लिये अमर हो जाता है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र को हजारों युग बीत जाने पर भी संसार याद करता है। वह क्यों ? इसीलिये- कि उन्होंने सत्य के लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया तथा अपनी पत्नी और पुत्र को भी बेचा ? क्या प्रत्येक व्यक्ति सत्य को ऐसी कसौटी पर खरा उतर सकता है ? नहीं ऐसी महान् आत्माएँ कोई-कोई ही होती हैं और जो होते हैं वे अधिक काल तक संसार-भ्रमण नहीं करतीं।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सत्य भाषण करते हुए अपना आवरण उत्तम बनाना चाहिए तथा झूठ को कभी भी प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

संस्कृत के एक विद्वान ने असत्य भाषण को अत्यन्त हानिकार बताते हुए कई उदाहरणों से इसकी पुष्टि की है। कहा है—

यशो यस्माद् भस्मीभवति वनवह्नैरिव वनं,
निदानं दुःखानां यदवनिरुहाणां जलमिव ।
न यत्र स्याच्छायातप इवः तपः संयम-कथा,
कथं चित्तन्मिथ्यावचनमभिधत्ते न मतिमान् ॥

कवि का कथन है—जिस प्रकार वन में दावानल लग जाने पर सम्पूर्ण जंगल जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार असत्य भाषण भी इस संसार रूपी वन दावानल के समान है जिसके प्रज्वलित हो जाने से मानव का यश और कीर्ति सभी भस्म हो जाते हैं ।

दूसरा कारण झूठ के लिये यह दिया गया है कि जैसे वृक्ष के लिये जल मूल के समान होता है अर्थात् जल ही वृक्ष को पल्लवित पुष्पित करता है तथा उसे पुष्ट बनाता है उसी प्रकार झूठ दुःख रूपी वृक्ष को पुष्ट करता है । यानी झूठ बोलने से, दुखों की प्राप्ति होती है ।

बीसरी बात श्लोक में बताई गई है—छाया में धूप नहीं रहती और धूप में छाया नहीं रहती, अर्थात् धूप और छाया एक साथ कभी नहीं रह सकते उसी प्रकार असत्य जहाँ रहता है वहाँ जप, तप संयम नहीं रहता तथा जहाँ ये सब रहते हैं वहाँ असत्य नहीं टिकता ।

इसलिये जो बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं वे कभी सत्य को धारण करके अपने जप, तप तथा संयम की साधना को नष्ट नहीं करते ।

सन्त तुकाराम जी भी संक्षेप में सत्य और असत्य की पहचान इस प्रकार करते हैं—

सत्य तोचिं धर्म असत्य ते कर्म,
आणीक हे वर्म नाहीं दुजे ॥

सत्य भाषण करना परम धर्म है और असत्य बोलना कर्म बन्धन का कारण है ।

आप भी एक दोहा प्रायः बोलते हैं—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदे साँच है ताके हिरदे आप ॥

अर्थात्—सत्य के समान अन्य कोई धर्म या तप नहीं है तथा झूठ बोलने जैसा अन्य कोई भी पाप नहीं है । जो व्यक्ति सत्य बोलता है उसके हृदय में परमात्मा स्वयं निवास करते हैं ।

वास्तव में जो सत्य बोलता है, उसकी ईश्वर भी स्वयं सहायता करता है एक उदाहरण से आप इसे भली-भाँति समझ पायेंगे ।

सत्य की रक्षा

एक बारह व्रतधारी श्रावक थे। उनके एक ही पुत्र था। इकलौता लड़का होने के कारण वह बड़े लाड़ प्यार में पल रहा था। परिणाम यह हुआ कि उस पर किसी का अनुशासन या अंकुश नहीं रह सका तथा वह दुष्ट मित्रों की संगति में पड़ गया। दुर्जनों की संगति के कारण उसमें और अनेक अवगुण तो आ ही गये, साथ ही वह चोरी करने में भी निपुण हो गया।

धीरे-धीरे कई व्यक्ति आकर श्रावक के आगे शिकायतें करना प्रारम्भ किया कि अपना पुत्र चोरी करता है। यह सुनकर गिता को बड़ा दुख हुआ पर उन्होंने प्रेम से पुत्र को समझाया—“बेटा ! चोरी करना महापाप है, साथ ही वह अपयश का कारण भी बनता है अतः इस दुर्गुण का त्याग कर दो। लोग मुझे उपालम्भ देते हैं।”

किन्तु पुत्र ने उत्तर दिया—“पिताजी ! आपने मुझे चोरी करते हुए देखा है क्या ? लोग आकर झूठी शिकायतें करने लग जायें तो मैं क्या करूँ।”

बेचारा पिता चुप हो गया। कहता भी क्या ? उसने आँखों से तो लड़के को चोरी करते देखा नहीं था। पर पाप का घड़ा कभी न कभी फूटता ही है। एक बार वह लड़का चोरी करते हुए पकड़ा गया और लोगों ने गवाह के रूप में उसके पिता का ही नाम लिखवा दिया। क्योंकि वे जानते थे कि श्रावक कभी झूठ नहीं बोलते।

अब जब चोर पुत्र का मुकदमा न्यायालय में उपस्थित हुआ तो उसके पिता को गवाही के लिये बुलवाया गया। जज ने उससे प्रश्न किया—“क्या तुम्हारा लड़का चोरियाँ करता है ? इस चोरी में भी उसका हाथ है क्या ?

अब श्रावक के सामने बड़ी कठिनाई आ उपस्थित हुई। झूठ वह बोल नहीं सकता फिर कहे क्या ? सत्य बोले तो बेटा जेल जाता है और असत्य कहे तो उसके व्रत खण्डित होते हैं।

फिर भी उसने पूर्णतया विचार कर सत्य बोलने का ही निश्चय किया और मर्यादित शब्दों में उत्तर दिया—

“साहब ! आपने मेरे पुत्र के बारे में पूछा है। यद्यपि मैंने इसे चोरी करते हुए कभी देखा नहीं है किन्तु लोगों ने समय-समय पर आकर अवश्य इसके चोरी करने की शिकायतें मुझसे की हैं। यह आपके सामने है आप जैसा उचित समझें करें। मुझे कुछ भी नहीं कहना है।”

श्रावक के और एक पिता के यह शब्द सुनकर मजिस्ट्रेट अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसके हृदय में आया “कितना सत्यवादी पिता है यह ? पर कैंसा दुर्भाग्य है कि इसके ऐसा कुपुत्र पैदा हुआ।”

किन्तु अन्त में उसने निर्णय देते हुए यही कहा—मैं केवल तुम्हारे पिता की सत्यवादिता से प्रभावित होकर तुम्हें इस द्वार छोड़ रहा हूँ तथा आशा करता हूँ कि अब तुम कभी चोरी करने जैसा जन्मव्यय कार्य नहीं करोगे।

बन्धुओ, इस उदाहरण से यही शिक्षा मिलती है कि मानव चाहे कौसी भी विकट परिस्थिति में क्यों न हो पर उसे सत्य का त्याग नहीं करना चाहिये। सत्य एक ऐसी अद्भुत शक्ति है जिसके प्रभाव से अनहोनी सम्भव हो जाती है और झूठ के कारण बनता हुआ कार्य भी बिगड़ जाता है। झूठे व्यक्ति का कोई कभी विश्वास नहीं करता तथा उसे अप्रतिष्ठा का भागी बनना पड़ता है। भले ही झूठ मधुर शब्दों में बोला जाय, वह हानि ही पहुँचाता है।

कवि कुलभूषण पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी महाराज ने कहा भी है—

झूठ बतावत साँच समोकर,
जहर मिलाय के देत है गूल ।
कहत तिलोक करे मन को वश,
जाय जमा वश झूठ के सुल ॥

कवि का कथन है मधुर शब्दों में बोला गया झूठ ठीक वैसे ही कहलाता है, जैसे गूड़ के अन्दर विष मिलाकर किसी को दे दिया जाय। इसीलिये प्रत्येक मानव को अपने मन पर संयम रखते हुए असत्य भाषण की प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। असत्य भावी अविश्वास का पात्र बनता है।

जब मैं स्कूल में पढ़ा करता था तो पुस्तक में एक पाठ आया था, आप लोगों ने भी उसे पढ़ा होगा—एक गड़रिये का बालक जब अपनी बकरियों को चराने के लिये जंगल में जाता था तो प्रतिदिन चिल्लाता था—“भेड़िया आया, भेड़िया आया।”

उसकी आवाज सुनकर आस-पास खेतों में काम करने वाले किसान दो चार तो बड़ी तेजी से दौड़कर आये पर जब देखा कि लड़का झूठ मूठ ही चिल्लाया करता है तो उन्होंने फिर उसके बिल्ल ने पर आना बन्द कर दिया।

पर संयोगवश एक दिन भेड़िया सचमुच ही आ गया उसे देखते ही लड़का काँप गया और जोर से चीखा—“अरे दौड़ो बचाओ! भेड़िया आया है मुझे खा जायेगा।”

किन्तु आप समझ सकते हैं कि उसका क्या परिणाम होना था? यहीं हुआ कि लोगों ने उसके चीखने-चिल्लाने को झूठ समझा और भेड़िया बकरी को उठाकर ले गया।

इस संसार में आजकल मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रिया में असत्य का पुट दिये बिना नहीं रहता। कचहरी में देखा जाय तो वकील सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा प्रमाणित करने के प्रयत्न में रहते हैं, दुकानों पर दुकानदार वस्तुओं की अधिक कीमतें बताकर लोगों को ठगने की कोशिश करते हैं और परिवार में भी प्रत्येक सदस्य असत्य भाषण करके अपने पिता का भाई का या अन्य किसी का धन हड़प जाने की फिराक में रहता है।

इन सब बातों को लक्ष्य कर किसी कवि ने मनुष्य को जिड़की दी है :—

झूठ कपट सूँ मन मर्यों ज्ञान ध्यान सूँ दूर,
काम क्रोध से बन कर्यों रह्यो घमण्ड में चूर,
नूर सब खोय दियो थारो...।

कहा है—“अरे अज्ञानी ! तू जीवन भर झूठ और कपट के धन्धे ही करता रहा और इसी कारण ज्ञान-ध्यान में तेरा चित्त नहीं लगा। केवल भोगों की तृप्ति के लिये और अपने अहंकार का पोषण करने की तेरी प्रवृत्ति बनी रही किन्तु इसका परिणाम क्या हुआ ? यही कि तूने अपना नूर या कि गौरव-खो दिया।” और—

सट्टा पट्टा तू किया, किया अनोखा काम।
काल बजारी में फँस्यो, लियो न सत गुरुनाम।
कमायो खोय दियो सारो...।

“अरे मूर्ख ! यह मानव जन्म पाकर तूने क्या किया ? यही अनोखा कार्य किया कि या तो सट्टे के बाजार में उम्मत की तरह दाव लगाता रहा और इससे भी सन्न नहीं हुआ तो काला-धन्धा करता रहा। बस इनसे तुझे फुरसत ही नहीं मिली कि कभी ईश्वर का स्मरण करता। पर क्या तू समझता है मैंने कमाई कर ली है ? नहीं यह जान ले कि उलटे इस सब के कारण तूने पूर्व जन्मों में किये गये पुण्य की सारी कमाई खो दी है। जिन पुण्य कर्मों के बल पर यह दुर्लभ देह तुझे मिली थी उस संचित कमाई को भी तूने नष्ट कर दिया है।

कवि ने आगे भी कहा है—

बड़ा बनाया बंगलड़ा, किया पाप रा काम।
रिस्वत सूँ धन जोड़ियो-झूठ कमायो नाम ॥
बढ़ायो आरम्भ रो बारी...।

“अरे भोले प्राणी ! तूने पाप-कर्म कर करके बड़े-बड़े बंगले बनवा लिये हैं पर क्या तू इनमें हमेशा ही बना रह सकेगा ?

इसी द्वार से निकालेंगे

एक महात्मा घूमते-घामते किसी सेठ के घर जा पहुँचे। सेठ ने उन्हीं दिनों अपनी बड़ी भारी हवेली बनवाई थी। अतः महात्मा जी को भोजन करा

कर वह उन्हें अपनी हबेली दिखाने लगा। आलीशान मकान की महात्माजी सराहना करते चले गए। किन्तु जब सेठ अपने सुन्दर शयनगृह में उन्हें ले गया और उसमें रखी हुई दुर्लभ वस्तुओं को तथा उसकी अपूर्व बनावट को दिखाने लगा तो महात्मा जी ने कह दिया—“सेठजी ! सब कुछ ठीक है पर एक भूल आपने इसे बनवाते हुए कर दी है।”

सेठजी चौंक पड़े और बोले—“भगवन् ! क्या भूल हो गई इसका निर्माण करने में ?”

“तुमने इसमें से निकलने के लिए यह द्वार क्यों बनवा दिया ?” संत शक्ति पूर्वक बोले

सेठजी हँस पड़े और कहने लगे—“वाह गुरुदेव ! अगर इसमें द्वार नहीं होता तो आप और मैं अभी इसमें से आते ही कैसे ? और फिर बिना द्वारा का भी कमरा होता है क्या ?”

“पर मेरे भाई ? जब तुम्हारे प्राण इस देह को छोड़कर चले जाएँगे तो लोग इसी द्वार से तुम्हें निकाल कर भी तो ले जाएँगे न ! फिर क्या इस शयनगृह में तुम एक दिन भी अधिक रह सकोगे ?

महात्मा जी की बात सुनते ही सेठ को आत्म-बोध हुआ और उसे अपनी भूल महसूस हो गई कि ये सब विशाल मकान और महल मानव के लिए व्यर्थ हैं। आँख मूँदते ही इनके महत्व उसके लिए रंचमात्र ही नहीं रहता।

इसीलिए वचि ने कहा है कि पाप-कर्म कर करके बड़े-बड़े बंगले बनाकर तथा घूस और रिश्वत ले लेकर धनवान के रूप में प्रसिद्धि पा लेना और धन कुबेर कहलाकर दुनियाँ में नाम कमाना व्यर्थ है। इससे केवल संसार भ्रमण बढ़ता है।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि असत्य और छल-कपट मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं। अतः प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को सत्य-धर्म की ही आराधना करनी चाहिये। सत्य का पालन करने के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति साधु ही बन जाय। प्रत्येक साधारण व्यक्ति या चोर, डाकू और कसाई भी सत्य का पालन कर सकता है फिर चाप तो इतने बड़े-बड़े श्रावक हैं, चाहे तो सहज ही सत्य की आराधना कर सकते हैं।

विश्व स बड़ी भारी चीज है। आप पोस्ट ऑफिस में जाते हैं और बिना भाव-भाव किये लिफाफे या कांड खरीद लेते हैं। क्या वहाँ आप कांड-लिफाफों के पैसे कम करने के लिये कहते हैं ? नहीं क्योंकि आपको विश्वास है कि यहाँ इनकी एक ही कीमत है। किन्तु आपकी दूकान पर जब ग्राहक आता है तो वह आपसे कितनी हुज्जत करता है ? ऐसा क्यों ? कारण इसका यही है कि आप बीस रुपये की वस्तु के पहले तीस रुपये दाम बताते हैं। ग्राहक भी

जानता है कि आप ज्यादा दाम बताते हैं और वह पन्द्रह रुपये से कहना प्रारम्भ कर देता है। परिणाम यह होता है कि आप कीमत घटाते जाते हैं और वह थोड़ा-थोड़ा बढ़ाता जाता है। बड़ी कठिनाई से एक स्थान पर आकर फँसला आता है और वस्तु की बिक्री होती है। ग्राहक कम से कम में लेना चाहता है और आप अधिक से अधिक वसूल करने की इच्छा रखते हैं। इस पर कितनी कठिनाई दुकान चलाने में होती है ?

पर इसकी बजाय अगर आप अपनी प्रत्येक वस्तु की ईमानदारी और सच्चाई से एक ही कीमत रखें तो कितनी झंझटों से बच जाय ? कुछ दिन तक तो अवश्य अपनी साख बनाने में आपको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। पर ज्यों ही लोगों को मालूम हो जायेगा कि आपकी दुकान पर सही और एक ही दाम की वस्तुएँ मिलती हैं तो चटपट बिना भाव-ताव किये आपकी वस्तुएँ खरीदने लगेंगे।

आज हम देखते हैं कि कितनेक लोग व्यापार करते समय दाम के सम्बन्ध में झूठी कसमें खा जाते हैं और कसमें भी किसकी ? अपने या अपने परिवार वालों की नहीं, अपितु धर्म की और भगवान् की। ठीक भी है। जब धर्म का पता नहीं और भगवान् को देखा नहीं तो उनकी कसमें खाने में बिगड़ता ही क्या है ?

पर याद रखो ! यह जीवन ही आत्मा की आदि और अन्त नहीं है। पूर्वकृत पुण्यों के बल पर तो आपको यह मनुष्य की जन्म और बुद्धि मिल गई पर बेईमानी और झूठ-कपट के कारण बँधते जाने वाले कर्मों के कारण अगले जन्म में सोचने विचारने की शक्ति भी मिलेगी या नहीं यह कोई नहीं जान सकता।

संसार के सभी धर्म सत्य की महिमा की मुक्त कंठ से सराहना करते हैं ! महाभारत में कहा गया है—

सर्वेदाधिगमनं संबंधीर्याविगाहनम् ।
सत्यस्यैव च राजेन्द्र, कलां नाहन्ति षोडशीम् ॥

समस्त वेदों का ज्ञान और पठन तथा समस्त तीर्थों का स्नान सत्य के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं होता।

और तो और, जिस मुस्लिम धर्म को हम अपना धर्म-विरोधी मानते हैं, उसमें भी कहा गया है कि सत्य को अपनाओ, उसे छोड़ो मत—

‘बला तस त्रिसुल हृषका वित्बातले व तकमतुल हृषका ।’

इसका अर्थ है—सत्य पर आवरण मत डालो, उसे छिपाओ मत। सत्य अत्यन्त बलशाली और पराक्रमी होता है। जिस प्रकार सूर्य के समक्ष अन्धकार

बिलीन हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के सामने असत्य नहीं टिकता उसका लोप हो जाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत्य सभी धर्मों का मुख्य अंग माना गया है। सभी ने उसकी महत्ता बताते हुए उसे आत्मा का स्वाभाविक और परम पवित्र गुण माना है। प्रत्येक वह साधक जो मुक्ति का अभिलाषी है तथा साधना के पथ पर बढ़ना चाहता है उसे सर्व प्रथम सत्य धर्म को अंगीकार करना चाहिए। सत्य के अभाव में वह आत्मोन्नति के मार्ग पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता कहा भी है—

“धर्मः सत्ये प्रतिष्ठितः।”

सत्य ही महान् है अतः अन्य समस्त धर्म उसी में समाहित हो जाते हैं।

वास्तव में ही जहाँ सत्य प्रतिष्ठित होता है वहाँ से छल, कपट, ईर्ष्या, मिथ्याभाषण एवं अनीति आदि समस्त दुर्गुण पलायन कर जाते हैं आवश्यकता केवल यही है कि मानव दृढ़ संकल्प सहित सत्य की आराधना करे तथा उसे दुर्गुणों को आने से रोकने के लिए एक सजग प्रहरी के समान नियुक्त करे। क्योंकि तनिक भी असावधानी से अगर एक भी दुर्गुण हृदय में प्रवेश कर गया तो उसके साधियों को आते देर नहीं लगेगी।

सत्य का स्थान

सत्य का स्थान केवल वचन में ही नहीं होना चाहिए अपितु मन और शरीर में उसे स्थान देना चाहिये। अर्थात् वचन से सत्य बोला जाना चाहिये, मन में भी सच्चे विचार लाने चाहिये और उन्हीं के अनुसार कर्म में भी सच्चाई होनी चाहिये।

किसी कवि ने महात्मा पुरुष के लक्षण बताते हुए कहा भी है—

मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्।

मनस्थन्यद् वचस्थन्यत्, कार्ये चान्यद् दुरात्मनाम् ॥

महात्मा पुरुष के मन, वचन तथा कर्म, तीनों में एकरूपता रहती है तथा दुरात्मा अथवा दुर्जन व्यक्ति इन तीनों में भिन्नता रखता है। अर्थात्—वह मन में सोचता कुछ और है तथा कार्य कुछ और ही प्रकार के करता है।

स्पष्ट है कि केवल जिह्वा से बोला हुआ सत्य कभी आत्मा को उन्नत नहीं बना पाता, जब तक कि उसके अनुरूप मन में सच्चाई न हो और मन की सच्चाई के अनुरूप क्रिया न की जाय। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जैसा मन में विचार किया जाय, वैसा ही बोला जाना चाहिये और जैसा बोला जाय उसी के अनुरूप कर्म भी किये जाने चाहिये। ऐसा करने पर ही कहा जा सकता है कि सत्य को सच्चे अर्थों में स्वीकार किया

गया है। जो भय प्राणी ऐसा करते हैं वे ही अज्ञान के अन्धकार को चीरकर ज्ञान के आलोक की ओर बढ़ते हैं तथा आत्मा को परमात्मा बनाने की योग्यता हासिल करते हैं।

इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को अगर अपनी आत्मा का कल्याण करना है तथा चिरकाल से इस संसार-चक्र में पिसती हुई अपनी आत्मा को अतन्त दुःखों से बचाना है तो उसे मन, वचन और कर्म इन तीनों से ही सत्य को रमाना होगा अन्यथा लक्ष्य-सिद्धि उससे कोसों दूर रहेगी।

सत्य भाषण भी वर्जित है

बन्धुओ सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि क्या सत्य बोलना भी कभी हानिकर होता है और जिसे बोलने से इन्कार किया जाता है? हाँ, यह सत्य है।

हमारे शास्त्र कहते हैं— सत्य का मूल ऋजुता अर्थात् सरलता है तथा असत्य का मूल क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि चारों कषाय है। आप जानते ही हैं कि कषाय के वश में होकर जो भी कार्य किया जाता है, विचारा और बोला जाता है वह सही अर्थों में अपना शुभ परिणाम नहीं दिखाता। इसी प्रकार किसी भी कषाय के आवेश में बोला हुआ सत्य भी असत्य ही साबित होता है। मानव जब वासनाओं के फन्दे में फँसा रहता है, भोग-लिप्सा में ग्रस्त रहता है तथा लोभ और लालच में पड़कर अपना विवेक खो बैठता है उस समय अगर वह सत्य भी बोलता है तो वह असत्य ही माना जाता है। इसी प्रकार किसी को अपमानित करने के उद्देश्य से, किसी के प्रति ध्यंग करने के विचार से अथवा किसी का उपहास करने की दृष्टि से अगर वह सत्य बोले तो असत्य की कोटि में गिना जाता है।

दशवैकालिक सूत्र में कहा भी है—

तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्तिय ।

वाहियं वादि रोगत्ति, तेणं चोरेत्ति नो वए ॥

अर्थात्— क्रोध कषाय के वशीभूत होकर किसी काने व्यक्ति को काना कहना, नपुंसक को नपुंसक कहना अथवा चोर को चोर कहना सत्य होने पर भी कष्ट पहुँचाने का कारण बनता है अतः ऐसा सत्य बोलना वर्जित है।

इसीलिये महापुरुष कभी ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करते तथा ऐसा सत्य नहीं बोलते जो अन्य प्राणी को दुःख पहुँचाता है और उसके अनिष्ट का कारण बनता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

मौन सर्वोत्तम भाषा है

एक महात्मा किसी वन में एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। सहसा उन्होंने एक भृगु को अपने समीप से भागकर किसी दिशा में जाते देखा। उसके नेत्रों से लोप होते ही उसके पीछे पड़ा हुआ शिकारी वृक्ष के समीप आया और महात्मा जी से पूछने लगा —

“महाराज ! अभी-अभी एक हिरण इधर आया था वह किस ओर भागकर गया है ?”

संत ने शिकारी की बात का कोई उत्तर नहीं दिया, पूर्णतया मौन रहे। अगर वे भृगु के जाने की दिशा बता देते तो यद्यपि वह उनका सत्य-भक्षण होता किन्तु उससे एक निरपराध प्राणी की हत्या हो जाती। अतः उन्होंने मौन रहना ही उत्तम समझा। वैसे भी कम बोलना तथा अधिक से अधिक मौन रहना ज्ञानवृद्धि, बुद्धि के विकास तथा स्मरण शक्ति को बढ़ाने में सहायक होता है। कहते भी हैं—

“मौनं सर्वार्थं साधनम् ।”

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव सत्य बोले पर वह प्रिय और हितकर हो किसी को पीड़ा पहुँचाने वाला और अनर्थकारी न हो। अगर उसके सत्य से ऐसा होता है तो वह सत्य, सत्य नहीं है।

आशा है आप मेरे आज के कथन को समझ गए होंगे तथा यह भी समझ गए होंगे कि सही अर्थों में जिसे सत्य कहा जाता है वह कितना महिम मय है और मन, वचन तथा शरीर से किस प्रकार उसकी आराधना करनी चाहिए। छल, कपट तथा मायाचारी के साथ बोला हुआ सत्य न तो दूसरों को लाभ पहुँचाता है और न ही बोलने वाले की आत्मा को उन्नत बना सकता है। उलटे वह आत्मा के पतन का कारण बनता है।

इसलिए जो प्राणी अपनी आत्मा का हित चाहते हैं, उसे अधोगति की ओर प्रयाण करने से रोकना चाहते हैं तथा सदा के लिए अनन्त सुख और अनन्त शान्ति की गोद में विश्राम करना चाहते हैं, उन्हें सत्य को उसके शुद्ध रूप में अपनाना चाहिए तथा इच्छित लक्ष्य की पूर्ति के प्रयत्न में जुट जाना चाहिए।





धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों !

कई दिनों से हमारा विषय क्रिया रुचि के स्वरूप की जानकारी के लिये चल रहा है। क्रिया रुचि किसे कहते हैं इस सम्बन्ध में ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य तप, विनय और सत्य का वर्णन समयानुसार किया जा चुका है। अब गाथा में 'समिई' शब्द है। समिई यानी समिति।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो समिति में 'सम्' उपसर्ग है और इति 'इण' धातु है। इण् का अर्थ है चलना। यह सब मिलाकर समिति का अर्थ होता है अच्छी तरह से चलना। पर प्रश्न उठता है समिति अच्छी तरह से किधर चलने को कहती है? क्या दिल्ली बम्बई जैसे बड़े-बड़े नगरों की ओर या अमेरिका इंग्लैण्ड जैसे विदेशों की ओर? नहीं, वह मोक्ष मार्ग की ओर अच्छी तरह से गति करने को कहती है। मोक्ष मार्ग के विरुद्ध चलना समिति नहीं कहलाती।

समिति पाँच प्रकार की है— ईर्या समिति भाषा समिति, एवणा समिति आदानभाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति तथा उच्चार प्रश्रवण खेल जल्ल सिघाण परिठ्ठायनिका समिति।

(१) पाँच समितियों में पहली ईर्या समिति है। ईर्या समिति किसे कहते हैं यह योग शास्त्र में बताया गया है—

लोकातिवाहिते मार्गे, चुम्बिते भास्वदंशुमिः ।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य, गतिरीर्या भता सताम् ॥

अर्थात्— जिस मार्ग पर लोगों का आवागमन हो चुका हो और जिस पर सूर्य की किरणें पड़ रही हों या पड़ चुकी हों, उस पर जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिये आगे की चार हाथ भूमि देखकर चलना सन्त पुरुषों के मत से ईर्या समिति है।

इस प्रकार विवेक पूर्वक गमन करने से किसी अन्य प्राणी को कष्ट नहीं होता उसकी किसी प्रकार की हानि नहीं होती उल्टे अपना भी लाभ होगा कि प्रथम तो अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाने के कारण बँधने वाले कर्मों से बचाव होगा तथा पथ पर बिखरे हुए काँटों से पैरों की तकलीफ नहीं होगी और ठोकर आदि लगने से गिर पड़ने का डर भी नहीं रहेगा ।

राजस्थानी भाषा में भी देखकर चलने से होने वाले लाभ को बड़े रुचि-कर शब्दों में कहा गया है—

नीचे देख्यां गुण घणा, जीव जन्तु टल जाय ।

ठोकर की लागे नहीं पड़ी वस्तु मिल जाय ॥

देखकर चलने को कितना कल्याणकर माना गया है ? कहा है नीचे दृष्टि डालकर चलने से एक तो जीवों की दया होगी दूसरा फायदा ठोकर नहीं लगती, तीसरे सड़क पर पड़ी हुई वस्तु भी प्राप्त हो सकती है । इस प्रकार आध्यात्मिक और सांसारिक, दोनों दृष्टियों से नीचे देखकर चलने से लाभ होता है ।

वैष्णव सम्प्रदाय में भी ईर्ष्या समिति की दूसरे शब्दों में पुष्टि की गई है । कहा है—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।

सत्यपूतां वदेद् वाचं, मनःपूतं समाचरेत् ॥

—मनुस्मृति

पद्य का पहला चरण हमारे विषय की पुष्टि करता है । इसमें कहा गया है - अगर तुम्हें चलना है तो दृष्टि से पवित्र भूमि पर अपने कदम रखने चाहिये । दृष्टि से पवित्र भूमि का क्या अर्थ है ? यह नहीं कि नजर डाली और जमीन पवित्र हो गई । अर्थ यही है कि अपनी दृष्टि से मार्ग को देखो कि वह कीड़े-मकोड़े तथा अन्य सूक्ष्म जीवों से युक्त तो नहीं है । अगर वह सूक्ष्म प्राणियों से रहित है तो उसे पवित्र मानकर उस पर कदम बढ़ाओ । ऐसा करने से द्रव्य और भाव दोनों तरह से लाभ है । द्रव्य दृष्टि से जीव हिंसा नहीं होगी और भाव दृष्टि से आत्मा पर पापों का बोझ नहीं बढ़ेगा ।

पद्य के दूसरे चरण में कहा है—‘जल को वस्त्र से छाने बिना न पियो’ । बिना छाना हुआ जल पीने से अनेक बार कई जीव उदर में चले जाते हैं जो वहाँ बढ़कर तकलीफ देते हैं अथवा शरीर के अन्य किसी हिस्से से निकलते हैं जिन्हें ‘बाला’ कहा जाता है ।

आगे कहा गया है—‘वाणी को सत्य से पवित्र करके बोलो ।’ इस दिग्घ में हम कल काफी विवेचन कर चुके हैं । वस्तुतः वही वाणी पवित्र औ उच्चारण किये जाने योग्य है जो सत्य से परिपूर्ण है ।

पथ का चौथा और अन्तिम चरण है— 'मनः पूतं समाचरेत् ।' मन में जो पवित्र दिवार आएँ उनके अनुपार कार्य करो। हमारे भाइयों में कोई इसका गलत अर्थ भी ले सकता है कि मन में तो चोरी करने की, जुआ खेलने की, शराब या गाँजा पीने की भावना भी आती है तो क्या उसके अनुसार ही कर लेना चाहिये ?

नहीं, यह पहले ही बता दिया गया है कि मन को जो पवित्र लगे वही कार्य करने चाहिये। यद्यपि मनुष्य गलत कार्य करता है किन्तु वह या तो मजबूरी के कारण, आदत के कारण या लोभ तथा स्वार्थ के कारण उन्हें करता है। किन्तु उसका मन उन्हें गलत तो मानता ही है। क्योंकि मन को धोखा नहीं दिया जा सकता। इसलिये स्वयं मन की गवांही से पवित्र माने जाने वाले कार्यों को करने का ही पथ में आदेश दिया गया है।

'ईर्यासमिति' अर्थात् देखकर चलना। यह बात केवल जैन धर्म या वैष्णव धर्म ही नहीं कहता, मुस्लिम धर्म भी यही कहता है। उसका कथन है—

“जेरे कदम हजार जानस्त ॥”

कदम गानी पैर, जेरे यानी नीचे तथा जानस्त याने जन्तु। तो कहा गया है “तुम्हारे पैरों के नीचे हजारों जन्तु हो सकते हैं अतः पूर्ण सावधानी से देखकर चलो।”

इस प्रकार हमारे बीतराग प्रभु ने ईर्यासमिति के द्वारा सावधानी पूर्वक चलने की जो आज्ञा दी है वह सर्व सम्मत है तथा अन्य धर्म भी उसके पालन का आदेश देते हैं। सज्जन तथा सन्त पुरुष ईर्यासमिति का पालन करने में पूर्ण सावधानी रखने का प्रयत्न करते हैं। हमारे लिये तो दशवैकालिक सूत्र के पाँचवें अध्यायन में स्पष्ट आदेश दिया गया है—“तुम्हें गोचरी के लिये भी जाना है तो ध्यान रखो किसी के घर में सीढ़ी लगाई हुई है तो उस पर मत चढ़ो।” क्योंकि गिर जाने पर लोग उपहास करेंगे कि सन्त असावधान रहे और गिर पड़े। इसके अलावा कोई बहन या भाई सीढ़ी से कोई वस्तु साधु को बहराने के लिये उतारे तो वह वस्तु भी ग्रहण मत करो क्योंकि कदाचित् वह व्यक्ति गिर पड़े तो साधु के निमित्त से ही उसे चोट लगेगी और उसे कष्ट होगा। इसलिये ईर्यासमिति का पालन करना साधु के लिये तो आवश्यक है ही प्रत्येक मनुष्य के लिये भी अनिवार्य है।

(२) भाषा समिति—दूसरी भाषा समिति कहलाती है। इस समिति के विषय में भी योगशास्त्र में उल्लेख है—

अत्रहत्यागतः सर्वजनीनं मित भाषणम् ।

प्रिया वाच्यमानां, सा भाषासमिति रुच्यते ॥

भाषा सम्बन्धी दोषों से बचकर प्राणी मात्र के लिए हितकारी परिमित भाषण करना भाषा समिति है। भाषा समिति संयमी पुरुषों के लिए अत्यन्त प्रिय होती है।

साधु के लिए मौन धारण करना अत्यन्त उत्तम है किन्तु सदा मौन रखने से जीवन में कार्य नहीं चलता अतः उसे वाणी का प्रयोग करना जरूरी हो जाता है। अतः भाषा के प्रयोग के लिए कुछ नियम भी बनाए गए हैं। यथा साधु क्रोध, मान, माया लोभादि कषाय तथा हास्य और भय से प्रेरित न होकर बोले।

आवश्यक होने पर ही कम से कम बोले निरर्थक बकवाद न करे और विकथाओं से दूर रहे।

अप्रिय एवं कठोर भाषा का प्रयोग न करे तथा भविष्य में होने वाली घटनाओं के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ न कहे।

जो बातें सत्य रूप से देखी, सुनी, और अनुभव न की हो उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ न कहे तथा पर-पीड़ाजनक सत्य भी न बोले। असत्य भाषण तो पूर्ण रूप से वर्जित है ही।

इस प्रकार भाषा के विषय में साधु को बड़ी सावधानी रखने की और भाषा के जो सोलह दोष माने जाते हैं उन्हें बचाकर बोलने की आवश्यकता रहती है अन्यथा दूसरा महाव्रत जो कि सत्य है वह भंग होता है।

वैसे भी प्रत्येक मनुष्य को अपनी बोली में विवेक और मधुरता रखना ही चाहिए। अन्यथा जितने भी व क्युद्ध और मार-पीट के प्रसंग आते हैं वे भाषा के अनुचित प्रयोग से ही घटते हैं। विवेक और मधुरता पूर्ण भाषा बोली जाने पर ऐसी अप्रिय घटनाओं की संभावना नहीं करती। मैं तो कहता हूँ कि आखिर मधुर वचन बोलने में व्यक्ति की हानि ही क्या होती है? खर्च तो उससे कुछ नहीं होता उल्टे प्रीति और सम्मान की प्राप्ति ही होती है। आपको एक दोहा याद ही होगा --

कागा किसका धन हरे, कोमल किसको देत।

मीठे वचन सुनाय के, जग अपना कर लेत।

कौआ और कोयल दोनों ही बोलते हैं। कौआ किसी से धन लेता नहीं और कोयल किसी को कुछ देती नहीं। वह केवल अपनी मधुर वाणी से लोगों को वश में करती है तथा कौआ कर्कश आवाज के कारण व्यक्तियों को मनको नफरत से भर देता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि ताकत बोलने में नहीं है वरन् बोलने को मिठास में है। इसलिए चाहे श्रावक हो या श्राविका साधु हो या साध्वी,

प्रत्येक को अपनी वाणी का उच्चारण करते समय बड़ा विवेक और बड़ी मधुरता रखनी चाहिए। शास्त्रों के अनुसार कर्कश, कठोर, और मर्मकारी भाषा का प्रयोग करना वर्जित है। इसलिए व्यक्ति को अपनी जवान पर सदा अंकुश रखना चाहिए।

साधुओं के लिए दूसरा महाव्रत सत्य-भाषण है तथा पाँच समितियों में दूसरी भाषा समिति है। दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन में आया जो बक दिया, यह साधु का लक्षण नहीं है। साधु को बहुत सोच विचार कर अपने शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि—

हितं मनोहारि च दुःखं वचः

लाभप्रद और साथ ही चित्तकर्षक वचन बहुत अलभ्य होते हैं।

भाषा का स्थान बड़ा ऊँचा माना जाता है। उत्तम भाषा बोलने वाला अर्थ कहलाता है। ठाणांग सूत्र में आर्य नौ प्रकार के माने गए हैं। जाति-आर्य, कुल-आर्य, ज्ञान-आर्य, दर्शन-आर्य, चारित्र-आर्य, मन-आर्य, वचन-आर्य तथा काया से आर्य।

इस प्रकार आठ तरह के लक्षण आर्य पुरुष के लिए बताये गये हैं तथा इसी में एक नया वचन-आर्य भी माना गया है। अर्थात्— जो मधुर, हितकर एवं सत्य-भाषी हो वह भी कार्य कहलाने का अधिकारी है। वह तभी यह अधिकार प्राप्त करता है, जबकि अग्नी भाषा पर संयम रखता है।

श्रृणिकचरित्र के एक कथानक से यह बात आपकी समझ में आ सकती है कि सत्य वादित का कितना जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है।

सच्चा साधुत्व

राजा श्रेणिक साधु-संतों पर तनिक भी आस्था नहीं रखते थे उलटे उन्हें नीचा दिखाने के प्रयत्न में रहते थे। किन्तु रानी चेलना को जैन धर्म और धर्म गुरुओं पर अटूट आस्था थी तथा वह भी ऐसे संयोग के लिए उत्सुक थी जिसे पाकर वह राजा को सच्चे साधु का महत्त्व बता सके।

रानी चेलना अत्यन्त बुद्धिमती एवं जानवती थी। एक बार जबकि राजा श्रेणिक राजमहल में ही थे। एक संत ने महल में प्रवेश करना चाहा। किन्तु रानी ने उन्हें देखते ही अपनी तीन अंगुलियाँ ऊँची की। जिनका अर्थ था—

‘अगर आप अन्दर पधारना चाहते हैं तो बताइए कि आपकी मन, वचन एवं काय, ये तीनों गुणधर्म या योग निर्मल है या नहीं?’

मुनिराज ने यह देखकर अपनी दो अंगुलियाँ ऊँची कीं और एक नीची रखी। चेलना ने इस पर संकेत के द्वारा ही अन्दर आने का निषेध कर दिया। संत उसी क्षण उलटे पैरों मथर गति से चल दिये।

कुछ समय पश्चात् दूसरे संत राजमहल की ओर आते हुए दिखाई दिये और रानी चलना ने उसी प्रकार अपनी तीनों अंगुलियाँ ऊँची करके मूक प्रश्न पूछा—उत्तर में दूसरे संत ने भी केवल दो अंगुलियाँ ऊँची कीं और एक नीचे झुकायी। रानी ने उन्हें भी अन्दर आने से इन्कार कर दिया।

इसी प्रकार तीसरी बार एक सन्त पधारे और रानी के द्वारा वही क्रिया दुहराई गई। सन्त ने भी स्पष्ट रूप से एक अंगुली नीची करके दो को ऊँचा किया और रानी के इन्कार करने पर उसी प्रफुल्लभाव से लौट गए।

राजा श्रेणिक यह सब अपनी आँखों से देख रहे थे। तीनों संतों का आना, अंगुलियों का ऊँचा नीचा करना और उनका रंच मात्र भी बुरा न मानते हुए लौटा जना देखकर चकित रह गए। उत्सुकता को न दबा पाने के कारण रानी चलना से उन्होंने इस सबका रहस्य पूछा। रानी ने उत्तर दिया—“आप कृपया उन संतों से ही यह बात पूछें तो अधिक अच्छा रहेगा।”

श्रेणिक को इन सब आश्चर्यपूर्ण क्रियाओं का भेद जानने की उत्कंठा थी अतः वे प्रथम बार आने वाले संत के समीप गए और उनसे पूछा—“महात्मन् ! आप राजमहल में पधार रहे थे, किन्तु रानी के तीन अंगुलियाँ ऊँची करने पर आपने एक नीचे झुकाई वह क्यों ?”

संत ने सहज भाव से उत्तर दिया—“राजन् ! महारानी जी ने तीन अंगुलियाँ ऊँच कर की थीं उसके द्वारा उन्होंने मुझ से यह पूछा था कि मेरी तीनों गुप्तियाँ अर्थात् मन, वचन और काय ये तीनों योग दृढ़ हैं या नहीं ? किन्तु मैंने दो अंगुलियाँ ऊँची करके और एक नीचे झुकाकर यह उत्तर दिया था कि मन और वचन तो मेरे दृढ़ हैं किन्तु काय अर्थात् शरीर संयमित नहीं है, उससे मुझे दोष लगा हुआ है।”

राजा श्रेणिक बड़े चकित हुए और पुनः पूछने लगे—“आपको शरीर से क्या दोष लगा ?”

मुनि बोले—“मैं साधना कर रहा था उस समय किसी व्यक्ति ने सम्भवतः मुझे पाषाण समझकर मेरे पैरों पर अग्नि जलाई और मैंने अग्नि से बचने के लिये अपने शरीर को हिला दिया, इससे अग्निकाय के जीवों की हिंसा हुई और मुझे उस हिंसा का पाप लगा।”

श्रेणिक यह सुनकर स्तब्ध रह गये। सोचने लगे—‘कैसे हैं यह महात्मा जो अपने शरीर को बचाने के लिये भी उसे हिला-डुला लेते हैं तो जीवों की हिंसा मानते हैं तथा उस दोष को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी कर लेते हैं।’

अब श्रेणिक को अन्य दोनों सन्तों के विषय में भी जानने की उत्सुकता हुई और वे दूसरे सन्त के समीप जा पहुँचे। उनसे पूछा—“महाराज ! आपको तीनों योगों में से कौन-सा दोष लगा ?”

सन्त ने उत्तर दिया—“महाराज ! मेरे मन में एक विचार आ गया था। एक बार जब मैं किसी गृहस्थ के यहाँ आहार लेने गया था तो एक बहिन मुझे आहार प्रदान कर रही थी। आहार लेते समय मेरी दृष्टि उस बहन के पैरों की ओर चली गई तथा मुझे यह विचार आ गया कि मेरी परनी के पैर भी ऐसे ही सुन्दर थे। इस विचार के कारण मेरी मनोगुप्ति शुद्ध नहीं रह सकी।”

राजा सन्त की स्पष्टोक्ति से अत्यन्त प्रभावित हुए और तीसरे सन्त के समीप भी पहुँचे। उनसे भी उन्होंने प्रश्न किया—“भगवन् ! आप राजमहल में क्यों नहीं पधारें ? क्या आपके योगों में से भी कोई दोषपूर्ण था ?”

मुनि ने उत्तर दिया—“मेरी वचन गुप्ति में दोष था महाराज !”

“वह कैसे ?” श्रेणिक की उत्सुकता बढ़ रही थी।

मुनि बोले—“महाराज ! एक बार मैं किसी मार्ग से गुजर रहा था। उसी मार्ग से एक राजा भी अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर अपने किसी दुश्मन से मुकाबला करने जा रहा था। सपीम ही कुछ बच्चे गेंद खेल रहे थे। उनमें से कुछ हार गये और बड़े नरवस हो गये। यह देखकर मेरी जबान से निकल गया—“डरो मत, इस बार जीत जाओगे !” राजा ने यह शब्द सुन लिये और सोच लिया कि जब सन्त ने ही कह दिया है कि जीत जाओगे तो फिर मैं अवश्य जीतूँगा। ऐसा सोचकर उसका साहस अत्यधिक बढ़ गया और वह रण में विजय होकर लौटा। आते ही उसने कहा :—

“महाराज ! आपकी कृपा से ही मैंने दुश्मनों को समाप्त कर विजय प्राप्त की !”

मैंने चौंकते हुए पूछा—“मैंने आप से क्या कहा था ?”

राजा बोला—आपने कहा था न कि “डरो मत इस बार जीत जाओगे।”

तो राजन् ! इस प्रकार बच्चों को कहे हुए मेरे शब्दों को उस राजा ने अपने लिये समझ लिया और उनके कारण अपने-आपमें असीम साहस मानकर उसने रणांगण में सैकड़ों व्यक्तियों की जानें लीं। यह सब मेरे असावधानी से कहे हुए शब्दों का प्रभाव था। इसलिये मुझे वचनगुप्ति में दोष लगा और मैं महारानी चलेगा की कसौटी पर खरा न उतर पाने के कारण राजमहल में न जाकर वापिस लौट आया।”

राजा श्रेणिक सन्तों की बात से बहुत ही चमत्कृत हुए और सोचने लगे कितना उच्च जीवन है इन सन्तों का ? अपना छोटे से छोटा दोष भी ये दोष मानते हैं तथा अपने बचनों पर कितना संयम रखते हैं ? वास्तव में ही ये सच्चे साधु हैं। आनी भाषा पर पूर्ण संयम रखना कितनी बड़ी बात है ?

संस्कृत के एक श्लोक में कहा भी है :—

स्वस्तुते: परनिवाया; कर्ता लोके पदे पदे ।

परस्तुते: स्वनिवायाः, कर्ता कोऽपि न विञ्चते ॥

अर्थात् अपनी स्तुति या प्रशंसा करने वाले तो आपको कदम-कदम पर मित्र आयेंगे किन्तु औरों की स्तुति तथा अपनी निन्दा करने वाले महापुरुष इने-गिने ही मिलेंगे ।

और महापुरुष तभी महापुरुष कहलाते हैं जबकि वे अपनी भाषा पर पूर्ण-तथा संयम रखते हैं। भाषा की संयमितता के कारण ही अन्य पुरुषों पर उनका प्रभाव पड़ता है, जिस प्रकार राजा श्रेणिक पर सन्तों की सत्यवादिता और अपने दोषों की स्पष्ट स्वीकारोक्ति का पड़ा था ।

(३) एषणा समिति—तीसरी समिति एषणा समिति कहलाती है। इसका अर्थ है मुनि आहार सम्बन्धी समस्त दोषों का बचाव करते हुए गृहस्थ के यहाँ से शिक्षा ले ।

इस पर श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र में एक श्लोक दिया है :—

द्विचत्वारिंशता भिक्षा दोषेनित्यमदूषितम् ।

मुनिर्यदन्नमादत्ते, संषणा समितिमंता ॥

अर्थात्—प्रतिदिन भिक्षा के बयालीस दोषों को टालकर जो मुनि निर्दोष भिक्षा लेते हैं यानी आहार और पानी ग्रहण करते हैं, उसे 'एषणा-समिति' कहते हैं ।

आहार के विषय में इतना ध्यान रखने का निर्देश इसीलिये दिया गया है कि आहार के साथ साधक के आचार और विचार का घनिष्ट सम्बन्ध है। साधक अथवा साधु की संयम मात्रा तभी निविघ्नतापूर्वक चल सकती है जबकि उसका आहार समय के अनुरूप शुद्ध एवं निर्दोष हो। किसी ने कहा भी है—

“जिस प्रकार दीपक अन्धकार की कालिमा का भक्षण करके कज्जल की कालिमा ही पैदा करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जैसा खाता है वैसे ही अपने ज्ञान को प्रकट करता है।”

अस्वादवृत्ति एवं परिमित अहार का बड़ा भारी महत्त्व है। जो व्यक्ति इस विषय में लोलुप तथा स्वादिष्ट भोजन का अभिलाषी बना रहता है, वह यथोचित रूप से संयम का निर्वाह नहीं कर पाता क्योंकि अशुद्ध और गरिष्ठ आहार को ग्रहण करने से बुद्धि मलिन हो जाती है। इसीलिये मुनियों को पूर्ण तथा शुद्ध एवं संयमित आहार करने का आदेश दिया गया है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि साधु अपनी ओर से लगने वाले सोलह दोष तथा गृहस्थ की ओर से लगने वाले भी सोलहों दोषों का बचाव करके निर्दोष आहार लाए तथा उसकी बिना सराहना अथवा निन्दा किए अस्वादवृत्ति से केवल शरीर चलाने का साधन मात्र समझ कर ही ग्रहण करें। इसका परिणाम यही होगा कि शुद्ध आहार के कारण उसकी बुद्धि निर्मल बनेगी तथा बुद्धि निर्मल रहने से आचरण भी उत्तम रह सकेगा। पवित्र अन्न खाने से मन की वृत्तियाँ निर्मल रहती हैं।

पवित्र अन्न कौनसा ?

एक बार गुरु नानक घूमते-घूमते किसी गाँव में जा पहुँचे। उनके वहाँ पहुँचते ही गाँव भर के व्यक्ति प्रसन्नता से भर गए तथा अनेक व्यक्ति अपने-अपने घर से उनके लिये नाना प्रकार के उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ बनवाकर लाये।

उन लोगों में गाँव का जमींदार भी था जो अत्यन्त स्वादिष्ट और मधुर पकवान बनवाकर लाया था। किन्तु गुरु नानक ने जमींदार की एक भी वस्तु को ग्रहण नहीं किया तथा एक गरीब लुहार को लाई हुई बिना चुपड़ी मोटी-मोटी रोटियाँ नमक के साथ खाईं।

जमींदार को अपने लाये हुये भोजन का तिरस्कार देखकर बड़ा क्षोभ हुआ और उसने नानक जी से पूछा—

“महात्माजी ! क्या कारण है कि आपने मेरे लाए हुए पकवानों को तो छुआ भी नहीं और इस लुहार की सूखी रोटियों को खाया ?”

गुरु नानक ने मुँह से कोई उत्तर नहीं दिया पर लुहार की रोटी में से बचा हुआ एक टुकड़ा उठाया और उसे दोनों हाथों में दबाया। रोटी दबाते ही सब ने आश्चर्य से देखा कि रोटी में से दूध की बूँदें टपक रही हैं।

उसके पश्चात् नानक जी ने जमींदार के लाये हुए पकवानों में से एक मिठाई का टुकड़ा उठाया और उसे भी अपने हाथों से दबाया। देखने वाले व्यक्ति और भी चमत्कृत हुए, जब उन्होंने देखा कि मिठाई में से खून की बूँदें सर रही हैं।

अब गुरु नानक जी ने जमींदार को सम्बोधन करते हुये कहा—“देखो भाई ! इस लुहार ने अपना पैसा बड़ी मेहनत से तथा बड़े पवित्र विचारों के साथ कमाया है अतः इसका अन्न पवित्रतम है। इसे खाने से मेरी बुद्धि निर्मल रहेगी। किन्तु तुम्हारा पैसा दूसरों को सताकर तथा उनका पेट काटकर अनीति से कमाया गया है अतः इससे तैयार किया हुआ अन्न दूषित है। इसे

खाने पर मुझे अपनी बुद्धि और बिचारों के दूषित होने का भय था अतएव मैंने नहीं खाया । अपवित्र और दूषित अन्न से पापवृत्तियाँ पनपती हैं ।

जमींदार यह सुनकर बड़ा लज्जित हुआ और उसने अपनी भूलों के लिये गुरु नानक से क्षमा माँगी ।

ब्रह्मधु ! इस उदाहरण से यही सारांश निकलता है कि मनुष्य को सदा शुद्ध तथा नेकनीयती से उपाजित अन्न ही खाना चाहिये । यद्यपि मुनियों को इतनी छानबीन का मौका नहीं मिल पाता फिर भी उन्हें जहाँ तक हो सके शुद्ध आहार ही लेना चाहिए तथा पूर्ण निरासक्त भाव से उसे ग्रहण करना चाहिये । यही एषणा समिति का लक्षण है ।

अब हमारे सामने चौथी सामति आती है—

(४) आदानभाण्ड निक्षेपण समिति— इससे तात्पर्य है—“मुनि को अपने पात्र, वस्त्र, पुस्तकें आदि समस्त वस्तुएँ बड़ी सावधानी और यत्न से रखनी तथा उठानी चाहिये । कहा भी है—

आसनादीनि संबोक्ष्म, प्रतिलिख्य च यत्नतः ।

गृह्णीयान्निक्षेपेद्वा यत्, सादानसमिति स्मृताः ॥

—योगशास्त्र

आसन, रजोहरण, पात्र, पुस्तक आदि संयम के उपकरणों को सम्यक् प्रकार से देख-भाल करके यातना पूर्वक ग्रहण करना और रखना आदान समिति कहलाती है ।

इस समिति का विधान इसीलिए किया गया है कि संयम के लिए आवश्यक उपकरणों को अगर सावधानी से उठाया और रखा जाएगा तो उससे अत्यन्त सूक्ष्म जन्तुओं की हिंसा नहीं होगी । जो मुनि सम्यक् प्रकार से इस समिति का पालन करता है वह अनेक प्रकार की हिंसा से अपना बचाव कर सकता है अतः प्रत्येक वस्तु को विवेक पूर्वक ही उठाना और विवेक पूर्वक ही रखना चाहिये ।

संयम मार्ग में उपयोग में आने वाली वस्तुएँ भी दो प्रकार की होती हैं (१) ओघोपधि (२) औपग्रहिकोपधि ।

ओघोपधि उन वस्तुओं को कहते हैं जो मुनि को सर्वदा अपने पास रखनी पड़ती हैं । यथा—रजोहरण । इसे छोड़कर वहाँ भी जाना साधु के लिये निषिद्ध है । हमारे आचार्यों ने तो इसके लिए यह मर्यादा रखी है कि पाँच हाथ दूर कहीं भी रजोहरण को छोड़कर मत जाओ ।

दूसरे प्रकार की औपग्रहिकोपधि वस्तुएँ कहलाती हैं। जैसे—दाण्डादिक यानी लड़की वगैरह। इन दोनों प्रकार के उपकरणों को ग्रहण करना और रखना यतना के साथ होना चाहिये।

मान लीजिये आपके पास पूँजनी है। किसी ने वह आपसे मांगी और अगर आपने उसे फेंक कर दे दी तो इसका अर्थ अयतना एवं अविवेक माना जाएगा। फेंककर वस्तु देने से वायुयान के जीवों की हिंसा तो होती ही है साथ ही अशिष्टता भी साबित होती है। शिष्टाचार के नाते विनयपूर्वक और प्रेम से माँगी जाने वाली वस्तु समीप जाकर ही देनी चाहिये।

इसके अलावा साधु को अपनी वस्तुएँ यत्र-तत्र बिखरी हुई नहीं रखनी चाहिये। स्थानक या उगसरे के द्वार सर्व साधारण के लिए सदा खुले रहते हैं। अतः वहाँ पर अगर साधु की वस्तु बिखरी हुई इधर-उधर पड़ी रहें तो एक तो देखने में अच्छा नहीं लगता, दूसरे कोई भी मौका पाकर चुरा सकता है, तीसरे अनजान व्यक्ति की ठोकर आदि लगने से भी दण्ड पात्र आदि टूट फूट सकते हैं।

जब मैं नवदीक्षित था, मुझे इन सब बातों का पूर्णतया विवेक नहीं था, फलस्वरूप एक दिन सती शिरोमणि रामकुँवर जी के म० व श्री सुन्दर जी म० ने मुझसे कहा था—“छोटे महाराज ! अपनी वस्तुओं को यथास्थान सम्भाल कर रखिये साधु के लिये ऐसा करना अनिवार्य है।”

आज भी मुझे महासती जी के वे शब्द बराबर याद हैं। उन्होंने यह भी कहा था—“हमारे शास्त्रकारों का कथन है कि भण्डोपकरण आदि समस्त वस्तु यथा-स्थान रखने के साथ-साथ वस्त्र तथा रजोहरण आदि की दोनों वक्त प्रतिलेखना करनी चाहिए।”

अनेक श्रावक कहते हैं तथा कोई-कोई सन्त भी कह देते हैं—“इनमें क्या साँप बिच्छू हैं जो प्रतिदिन दोनों वक्त इन्हें देखें ?”

पर साँप बिच्छूओं का होना भी कोई असम्भव बात नहीं है। हम आप लोगों के शहर में तो अवश्य ही बड़ी-बड़ी बिल्डिंगों में ठहरते हैं किन्तु जब विहार में होते हैं तब अत्यन्त छोटे कच्चे और गन्दे स्थानों पर भी ठहरने के प्रसंग आते हैं और उन बहुत दिनों से बन्द पड़े मकानों में साँप बिच्छू और कीड़े-मकोड़े आदि जन्तु कपड़ों में तथा भण्डोपकरण में आकर बैठ जाते हैं।

एक बार हम बोदवड़ में थे। वहाँ एक भाई ने उपवास किया और सायंकाल में पौषध करने के लिये आया। हमने उसे पहले ही कह दिया था

“भाई प्रतिलेखन कर लेना ।” उसने ज्योंही दरी और चद्दर का प्रतिलेखन किया, एक बहुत बड़ा और काले स्याह रंग का बिच्छू चद्दर में से निकलकर भागा ।

सारांश यही है कि वस्त्रों में जीव-जन्तुओं का आकार छिप जाना कोई बड़ी बात नहीं है । आप गृहस्थों को भी अनुभव होगा कि बहुत दिनों से बन्द पड़ी पेटियों में गद्दे रजाइयों में और खाने-पीने की वस्तुओं में भी अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न हो जाते हैं । इसीलिये आदान भांड निक्षेपणा समिति के द्वारा अनेक प्राणियों की हिंसा से बचने का निर्देश दिया है ।

(५) पाँचवीं समिति कहलाती है—‘उत्सर्ग समिति ।’ और तनिक विस्तार से कहा जाय तो इसका पूरा नाम है—“उच्चार प्रश्नखण खेल सिंघाण जल्ल परिच्छापनिका समिति ।

इसका अर्थ भी एक श्लोक के द्वारा बताया गया है—

कफमूत्रमल प्रायं, निर्जन्तुजगतीतले ।
यतनाद्यदुत्सृजेत्साःधुः सोत्सर्गसमितिर्नृचेत् ॥

कफ, मूत्र, मल जैसी वस्तुओं का जीव-जन्तुओं से रहित पृथ्वी पर यतना के साथ मुनि त्याग करते हैं । यही उत्सर्ग समिति है ।

बन्धुओं, आशा है अप इन पाँचों समितियों के विषय में भली-भाँति समझ गये होंगे । पर साथ ही यह भी आपको समझ लेना चाहिये कि इनका पालन केवल मुनियों को ही करना चाहिये यह बात नहीं है । अनेक प्रकार की हिंसा से बचने के लिये जो ये पाँच प्रकार के विधान बनाये गये हैं ये श्रावकों के लिये भी उतने ही आदरणीय हैं जितने श्रमणों के लिये । इसलिये प्रत्येक गृहस्थ को भी इन समितियों को ध्यान में रखते हुए इनके पालन करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये । क्योंकि हिंसा के पाप का भागी बनने से तो प्रत्येक प्राणी को बचना चाहिये ।

विशेष तौर से हमारी बहनें जो रसोई बनाती हैं, उन्हें अधिक से अधिक उपयोग और ध्विके रखने की आवश्यकता है । उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि जूठे बर्तन घण्टों या कि सुबह से शाम तक और शाम से सुबह तक वैसे ही न पड़े रहें, अन्यथा उनमें अनेकों मक्खियाँ और मच्छर गिरेंगे तथा उनके मरने से महान् पाप उनकी आत्मा को भोगना पड़ेगा । इसी प्रकार शाक-सब्जी के छिलके वगैर भी बड़ी सावधानी से और साफ जगह में डालने चाहिये ताकि प्रथम तो अधिक गन्दगी के कारण उनमें कीटाणु उत्पन्न न हो जायें तथा असावधानी ये खिड़कियों और छज्जों पर से उन्हें फेंकने में किसी व्यक्ति पर

वे न गिरें। अनेक बार हम देखते हैं कि बिना देखे-भाले वे उपर से ही जूठन तथा राख आदि का गन्दा पानी सड़क पर फेंकती हैं और राहगीरों के वस्त्रों पर उनके छींटे उछल जाया करते हैं और झगड़े भी पैदा हो जाते हैं अतः कहने का अभिप्राय यही है कि अभी-अभी बताई हुई इन पाँचों समितियों का मुनि को पूर्ण रूप से तथा गृहस्थों को भी यथाशक्ति विवेकपूर्वक पालन करना चाहिये। तभी हमारी क्रियाएँ शुद्ध बन सकेंगी तथा क्रियाओं के निर्दोष बनने से पाप-कर्मों का भार आत्मा पर कम चढ़ेगा। मनुष्य को कभी नहीं भूलना चाहिये कि सामायिक, उपवास, पौषध एवं अन्य त्याग-नियमों की अपेक्षा भी अपनी क्रियाओं में विवेक रखना अधिक आत्म कल्याणकारी है। इसके अभाव में धर्मारोधन की बड़ी-बड़ी क्रियाएँ भी निष्फल साबित हो जाती हैं। ★



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कुछ दिनों से हम 'श्री उन्नाद्ययन सूत्र' के अट्ठाईसवें अध्याय की पञ्चीसवीं गाथा के आधार पर क्रिया रुचि के विषय में स्पष्टीकरण कर रहे थे और उसके सन्दर्भ में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, सत्य तथा पाँच समितियों का वर्णन आप भली-भाँति समझ चुके हैं ।

आज हम इसी सूत्र के अट्ठाईसवें अध्याय की तीसवीं गाथा के अनुसार यह समझेंगे कि जीवन में श्रद्धा का महत्त्व कितना है और यह किस प्रकार मुक्ति का मूल माना जा सकता है ।

गाथा इस प्रकार है—

नादंसणस्स नाणं, नाणेण घिणा न हुन्ति चरण गुणा ।

अगुणस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अभोक्खस्स निचवाणं ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति दर्शन यानी श्रद्धा रहित है, उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और ज्ञान के अभाव से उसके जीवन में चरित्र गुण नहीं आ सकता तथा चरित्र गुण के न होने पर मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है । मोक्ष के अभाव में आत्मा अक्षय सुख प्राप्त नहीं कर सकती ।

इस गाथा के अनुसार स्पष्ट है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम श्रद्धा आवश्यक है और दूसरे शब्दों में श्रद्धा ही मोक्ष का मूल है । श्रद्धा का महत्त्व अवर्णनीय है । हम लोग प्रार्थना में भी कहा करते हैं—

“श्रद्धा है सो सारथार, श्रद्धा ही से खेवोपार ”

यानी श्रद्धा ही जीवन में एक सार वस्तु है जो संसार-सागर से पार उतार सकती है । इस विराट विश्व में प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक, मानसिक अथवा भौतिक, किसी न किसी दुःख से पीड़ित है और वह इनसे मुक्ति प्राप्त

करना चाहता है। किन्तु केवल चाहने मात्र से तो कोई भी मुक्ति प्राप्त कर नहीं सकता। उसे आत्मा को संसार मुक्त करने के लिये अनेक पापड़ बेलने पड़ते हैं।

श्रद्धा जीवन के निर्माण का मूल मन्त्र है। इसके अभाव में विश्व का कोई भी प्राणी कर्मों से मुक्त हुआ हो ऐसा कहीं भी इतिहास नहीं कहता। व्यक्ति कितनी भी पीयियाँ क्यों न पढ़ जाय तथा कितनी भी कलाएँ क्यों न सीख जाय, अगर उसमें श्रद्धा नहीं है तो वह सब विद्वत्ता और कलाओं की परिपूर्णता उसके जीवन को अपूर्ण ही रखती है। अर्थात्—वह उसे इस भव-समुद्र से पार नहीं करा सकती।

श्रद्धा के द्वारा मन की अनेक उलझनें सुलझ जाती हैं तथा बुद्धि विकसित होकर ज्ञान को ग्रहण करती है। क्योंकि मन में श्रद्धा होने पर ही उसमें विनय गुण पनपता है, जिसके द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रद्धा और विनय का घनिष्ट सम्बन्ध है।

श्रद्धा के रूप

श्रद्धा के दो रूप होते हैं—पहली सम्यक् श्रद्धा और दूसरी अश्रद्धा। इन दोनों में जमीन और आसमान का अन्तर होता है अर्थात् दोनों ही परस्पर विरोधी होती हैं।

सम्यक् श्रद्धा में विनय गुण का समावेश होता है जो गुरु प्रदत्त ज्ञान को प्राप्त कराता है और अश्रद्धा में केवल जिद और अहंकार की भावना रहती है जो ज्ञान प्राप्ति में बाधक बनती है तथा कर्मों के भार को बढ़ाती है इसीलिये आवश्यक है कि मुमुक्षु सम्यक् श्रद्धा को अपनाए तथा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करके अपने आचरण को सुदृढ़ बनाए।

भगवद् गीता में कहा भी है—

“श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः।”

श्रद्धालु पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ज्ञान प्राप्त होने पर ही इन्द्रियों की संयम-साधना हो सकती है।

साधक अगर ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसकी वीतराग के वचनों पर तथा उन वचनों को समझाने वाले गुरु पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास होना चाहिए तभी गुरु सम्यक् रूप से शिष्य को ज्ञान-दान दे सकता है।

शास्त्रकारों के कथनानुसार ज्ञान भी तीन प्रकार का माना जाता है—जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट। आराधना के थोकड़े में इस प्रकार के भेद बताये गये हैं।

जघन्य आराधना में भी पाँच समिति तथा तीन गुप्ति का तो कम से कम ज्ञान चाहिये ही। जघन्य आराधना करने वाले का भी भगवान् की वाणी पर विश्वास और भरोसा होता है। ऐसी श्रद्धा भी जिसके दिल में होती है और ज्ञान अल्प होता है तब भी भगवान् कहते हैं कि वह आराधक है। विराधक वही कहलाता है जो भगवान् के ज्ञान को न माने, उस पर आस्था न रखे। ऐसे व्यक्ति के पास ज्ञान हो तो भी वह न होने के बराबर है।

इसके विपरीत श्रद्धालु व्यक्ति सदा यही विचार करता है—“संसार में मुझसे कितने बड़े-बड़े सन्त और सतियाँ हैं जिन्हें ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान होता है। मेरे पास तो है ही क्या? उसमें यह विश्वास अवश्य होता है कि मुझ में ज्ञान की कमी जरूर है किन्तु मैं भगवान् की आज्ञा में तो हूँ, इसीलिये वह आराधक कहलाता है तथा इसी भावना और आस्था के कारण वह शनैः-शनैः सम्यक् ज्ञान को प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है।

गाथा में आगे बताया गया है—ज्ञान के बिना चरण गुण की प्राप्ति नहीं होती। चरण यानी पैर और चरण यानि चारित्र भी होता है। चरण का अर्थ पैरों से इसलिये लिया गया है कि ज्ञान चरण अर्थात् चारित्र के द्वारा ही साधना में गति करता है। चारित्र के अभाव में साधना आगे नहीं बढ़ सकती चारित्र अगर उत्तम है तो साधक आत्म साधना में आगे बढ़ेगा, प्रगति करेगा अन्यथा भौतिक ज्ञान कितना भी क्यों न हो, वह कभी मोक्ष के लिये की गई साधना में सहायक नहीं बन सकता। ज्ञानसम्पन्न आत्मा ही साधना पथ पर चल सकती है।

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् से प्रश्न पूछा गया है—

“नाण सम्पन्नाए णं भत्ते ! जीवे किं जणयई ?”

अर्थात्—हे भगवन् ! ज्ञान सम्पन्न आत्मा होगी उसको क्या लाभ होगा ? उत्तर दिया गया है—

“नाण सम्पन्नाए जीवे सव्वभावाह्णिगमं जणयइ । नाणसंपन्नं जीवे चाउरंते संसारकन्तारे न विणस्सई ।”

जो ज्ञान सम्पन्न होगा उसके पास दुनिया में जितने भाव हैं उनका ज्ञान रहेगा। भावों का अर्थ है—जीव, अजीव, पुण्य पाप आदि समस्त तत्त्वों की जानकारी होना।

ज्ञान सम्पन्न आत्मा चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटकने के लिये जो अरण्य के समान संसार है उसमें भटकने से बच जायेगा। नरक

संसार, तिर्यच संसार, मनुष्य संसार और देव संसार, इन चारों प्रकार के संसारों से मुक्त हो सकेगा तथा इनमें फँसा नहीं रहेगा ! किन्तु आवश्यकता सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति की तथा जिन वचनों पर सम्पूर्णतः आस्था रखने की है ।

जिनवाणी का महस्व बताते हुए पूज्य श्री अमीऋषि ने कहा है—

केवलवंत महंत जिनेश प्रकाश करी सबको सुखदानो ।
या मुन होय मिथ्या तम दूर लहे निज आत्म रूप पिछानी ॥
जासप्रसाद अनंत तरे तिर् हैं तिरतेजू असी सब प्राणी ।
या सम अमृत और नहीं धन है, धन है, धन है जिनवाणी ॥

कहते हैं—ऋगवान् जिनेश्वर ने जिस वाणी का उच्चारण किया है तथा महापुरुषों ने जिसे सर्व-साधारण के अज्ञानाधिकार का नाश करने के लिए उसे प्रकाशदीप बनाकर प्रस्तुत किया है, उसके द्वारा मिथ्यात्व दूर हो जाता है तथा आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहचान लेता है । जिस अमृत्य वाणी के प्रभाव से अनन्त आत्माएँ भव-सागर पार कर चुकी हैं, कर रही हैं तथा भविष्य में भी करती रहेंगी उस अमृत्य जिनवाणी को बार-बार धन्य है ।

प्रश्न उठता है—जिन वचनों के ज्ञान में ऐसी चमत्कारिक शक्ति कैसे है, जिसके कारण चारों प्रकार के संसार नष्ट हो जाते हैं ?

शास्त्र में इस बात का उत्तर दिया गया है—

“जहा सूइ ससुत्ता न विणस्सई । तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सई ।
नाण-विणय-तव चरित्ते जोमे संपाउणइ स-समय पर समय विसारए य
असंघायणिज्जे भवई ।”

जो सुई डोरे सहित होती है वह खो जाने पर भी डोरे की सहायता से अर्थात् डोरा हाथ में रहने के कारण मिल जाती है । किन्तु उसमें अगर धागा न डला हुआ हो तो फिर उसे खोजना कठिन और कभी-कभी तो असंभव ही हो जाता है ।

इसी प्रकार जीव के लिए बताया गया है कि वह एक सुई के समान है और उसमें ज्ञान धागे का काम करता है । ज्ञान रूपी धागे सहित जो जीव होगा वह अधिक भटकेगा नहीं और कदाचित् भटक भी जाएगा तो शीघ्र अपने स्थान पर आ जाएगा । उत्कृष्ट ज्ञानियों के लिए तो कहना ही क्या है ? वे एक ही जीवन में या अत्यल्प काल में भी परिणामों की चढ़ती से

मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु उनसे कम ज्ञान रखने वाले भी तीसरे, सातवें, और फिर भी नहीं तो पन्द्रहवें भव में भी मोक्ष को प्राप्त कर ही लेते हैं। ज्ञान का धामा इस जीव रूपी मुई को खींच ही लेता है। अनन्त संसार में सदा के लिये खो जाने नहीं देता।

गाथा में आगे कहा गया है—ज्ञान से विनय, तप और चारित्र्य की प्राप्ति होती है। तो पहली बात यह है कि ज्ञान विनय के द्वारा प्राप्त किया जाए। अगर अविनय का मन में उदय होगा तो ज्ञान का विकास रुक जाएगा। एक उदाहरण है—

ज्ञान वृद्धि में रोक

किसी गाँव में एक बड़ई रहता था। वह पुराने जमाने का था, अतः साधारण वस्तुएँ बनाया करता था। किन्तु उसका लड़का नए ढंग की वस्तुएँ बनाना सीख गया क्योंकि वह अपने काम में काफी होशियार हो गया था।

लड़का प्रायः नई-नई वस्तुएँ या मूर्तियाँ बनाकर पिता के पास लाया करता था। बड़ई अपने पुत्र की कला कुशलता पर मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न होता तथा गौरव का अनुभव करता था किन्तु फिर भी उसके काम में अधिक से अधिक चातुर्य लाने की भावना से वह पुत्र की बनाई हुई वस्तु में कुछ न कुछ नुक्स निकाल देता था। यथा—‘इसके दोनों हाथ समान नहीं हैं, अथवा आँखें ठीक नहीं बनी हैं।’

लड़का आँखें ठीक करके लाता तो पिता कह देता—‘इसका पैर टेढ़ा है।’ इस सबका परिणाम यह हुआ कि बड़ई का पुत्र अपने कार्य में अत्यन्त प्रवीण हो गया।

किन्तु एक दिन बात बिगड़ गई। पुत्र अत्यन्त परिश्रम करके एक बड़ी उत्कृष्ट कलाकृति का निर्माण करके लाया और बोला—‘पिताजी ! देखिये ! आज मैंने कितनी सुन्दर चीज बनाई है ?’

पिता अत्यन्त हर्षित हुआ किन्तु अपनी आदत के अनुसार बोला—‘बेटा ! चीज तो तुमने बहुत अच्छी बनाई है पर फिर भी इसकी सुन्दरता में कुछ कमी रह गई है।’

लड़का पिता के द्वारा प्रतिदिन नुक्स निकाले जाते रहने के कारण कुछ अप्रसन्न तो रहता ही था पर आज अपनी अत्यन्त परिश्रम से बनाई हुई कृति में भी पिता के द्वारा कमी निकाली जाती देखकर क्रुद्ध हो गया और गुस्से से बोला—

“आप हमेशा मेरी बनाई हुई वस्तु में गलती ही निकला करते हैं, कभी आपने अपनी जिन्दगी में ऐसी वस्तु बनाई भी है ?”

अब बाप बोला—मैं जानता हूँ तुम मुझ से बहुत होशियार हो, और मैं तुम्हारे समान सुन्दर वस्तुएँ बना भी नहीं सकता हूँ किन्तु मैंने तुम्हें अधिक से अधिक होशियार कलाकार बनाने की इच्छा से तुम्हारी कृतियों में कमियाँ बताई थीं। तुम्हें आज मेरा कहना बुरा लगा है, अतः आज से कुछ नहीं कहूँगा। पर याद रखना अब तुम आगे बढ़ने वाले नहीं हो।”

आज भी हम देखते हैं कि पुत्र थोड़ा बहुत भी पढ़ लिख जाते हैं तो अपने गुरुजनों को और माता-पिता को अपने से हीन समझने लगते हैं। कहते हैं—
“थे कोई जाणों में म्हारो काम आप निपटा लेऊँ।

ऐसे अविनयी व्यक्ति जिनके हृदय में बड़ों के प्रति श्रद्धा और विनय की भावना नाम मात्र की भी नहीं होती वे किस प्रकार सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति करके आत्म-मुक्ति के मार्ग पर चढ़ सकते हैं? ऐसे व्यक्तियों को जब गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं होती तो जिन वाणी या जिन वचनों में रुचि किस प्रकार हो सकती है?

पूज्यपाद श्री अमीरुद्दौलत जी महाराज ने अपने समस्यापूर्ति पत्रों में बड़े सरल और सुन्दर शब्दों में बताया भी है कि किन व्यक्तियों को जिन भगवान के वचनों में रुचि नहीं होती? पद्य इस प्रकार है—

शुभ शब्द अनूप गम्भीर महा,
स्वर ध्वज वाणि ध्वजे विबुधा ।
नर नारी पशु सुर इन्द्र शची मिल,
आवत बंन पीयूष छुधा ॥
सब लोक अलोक के भाव कहे,
षट्द्रव्य पदारथ भेद सुधा ।
चित मोद असीरिख होय तब,
‘किनको न रुचे जिन बेन सुधा ॥

कहा गया है—भगवान के जिन गम्भीर, कल्याणकारी और ज्ञान गरिमा से ओत-प्रोत वचनों को सुनने के लिए स्त्री, पुरुष, पशु, देवता और इन्द्र भी आते हैं तथा उन्हें अमृतमय मानकर अपनी आत्मा की क्षुधा को तृप्त करते हैं और जो वचन, लोक, अलोक षट्द्रव्य एवं समस्त पदार्थों को कर कंकण-वत् स्पष्ट करके समझा देते हैं तथा समस्त प्राणियों के हृदयों को प्रफुल्लित करते हैं वे ही सुधामय वचन किनको नहीं रुचते हैं?

इसी प्रश्न का उत्तर दूसरे पद्य में दिया गया है जिसे समझना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। पद्य में बताया है—

नहिं जानत जेह निजातम रूप—
 रता पर द्रव्य चले विरुधा ।
 घट जोर मिथ्याज्वर को तिहसे,
 सब दूर भई निज धर्म छुधा ॥
 मन लीन परिग्रह आरम्भ में,
 प्रभु सील न धारत भेद दुधा ।
 जु अमीरिख जीव असक्य हुये,
 तिनको न रुचे जिन बँन सुधा ॥

कहा गया है—जो व्यक्ति अपने आत्म-स्वरूप को नहीं समझता, उन्की अनन्त शक्ति पर विश्वास नहीं करता तथा उसमें रहे हुए सम्पक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के गुणों को विकसित करने का प्रयत्न नहीं करता अपितु पर-पदार्थों में ही आसक्त बना रहता है, ऐसे व्यक्तियों के हृदय में सदा मिथ्यात्व बना रहता है और उस मिथ्यात्व रूपी ज्वर के कारण उसकी आत्मा में धर्म की क्षुधा कभी बलवती नहीं होती। वह सदा स्वार्थ में अन्धा बना रहता है तथा निरन्तर परिग्रह की वृद्धि में लगा रहता है। एक उदाहरण है—

तृष्णा का फल

एक लकड़हारा प्रतिदिन लकड़ियाँ काटने के लिये जंगल में जाया करता था। दिन भर वह लकड़ी काटता और शाम के वक्त जब भारी गट्ठा लेकर लौटता तो उसे दो-चार आने उन्हीं बेचकर प्राप्त होते थे। परिवार में पत्नी और छोटे-छोटे बच्चे थे अतः उन इने-गिने पैसों से सबकी उदर पूर्ति होना कठिन हो जाता था और इसी कारण लकड़हारा काफी कृश हो गया था।

लकड़हारा जिस मार्ग से प्रतिदिन गुजरता था उसी मार्ग पर एक पेड़ के नीचे एक संत ध्यान करते थे। वे उस दुर्बल लकड़हारे को प्रतिदिन उधर से गुजरते हुए तथा दिन भर के परिश्रम स्वरूप एक गट्ठा लकड़ी का लाते हुए देखा करते थे।

एक दिन उन्हींने लकड़हारे से उसके विषय पूछा—लकड़हारे ने अपना पूर्ण दुखद वृत्तान्त उन्हीं बताया। संत को दया आई और उन्हींने यह सोचकर कि दो-चार आने से इसका परिवार-सदा भूखा रह जाता है, उन्हींने लकड़हारे पर हथेली पर एक अंक लिख दिया और कहा—“आज से तुम्हें प्रतिदिन एक रुपया अपनी लकड़ी की कीमत का मिल जाया करेगा।”

लकड़हारा बड़ा प्रसन्न हुआ और खुशी के मारे लगभग दौड़ता हुआ सा ही घर लौटा। वहाँ पर अपनी पत्नी से उसने समस्त घटना कह सुनाई। पत्नी बड़ी चालाक थी बोली—“अरे ! जब संत ने दया करके तुम्हारी हथेली

पर एक का अंक लिखा था तो तुमने उस पर एक बिन्दी और क्यों न लगवा ली ? क्या तुम्हें इतना भी नहीं सूझा ?”

बेचारा लकड़हारा स्त्री की बात सुनकर अपनी भूल पर दुखी हुआ पर बोला—“भागवान् ! अभी इस एक के अंक की परीक्षा तो हो जाने दे । अगर यह सबमुच ही मुझे एक रुपया रोज दिलाएगा तो बाद में देख लूंगा । संत तो मेरे मार्ग में ही रहते हैं ।”

इस घटना के बाद दो-चार दिन निकल गए और प्रतिदिन लकड़हारे को अपनी लकड़ी का एक रुपया रोज मिलने लगा । यह देखकर तो लकड़हारा लालच में आ गया और उसने एक दिन पुनः जाकर संत से कहा—“महाराज ! आपकी कृपा से मुझे अब एक रुपया रोज मिल जाता है और किसी तरह मैं बाल-बच्चों सहित पेट भर लेता हूँ किन्तु हम में से किसी के तन पर पूरे वस्त्र नहीं हैं और शीतऋतु आ रही है अतः आप मेरी हथेली पर एक अंक के आगे एक बिन्दी और लगा दें तो हमें पहनने को वस्त्र और ओढ़ने बिछाने के लिए बिस्तर मिल जाएँगे । आपकी बड़ी कृपा होगी अगर आप ऐसा कर दें ।”

महात्मा जी ने दया करके एक के आगे बिन्दी लगाकर वहाँ दस बना दिये और लकड़हारे को प्रतिदिन दस रुपये प्राप्त होने लग गये । किन्तु आप जानते ही हैं—

“जहा लाहो तहा लोहो”

जहाँ लाभ होता है वहाँ लोभ बढ़ता ही जाता है ।

इसी लोभ के बशीभूत होकर लकड़हारा कई बार महात्मा के पास पहुँचा तथा सुन्दर मकान तथा पत्नी के लिये जेवर आदि की आवश्यकताएँ बताकर एक के अंक पर कई बिन्दियाँ लगवाता चला गया ।

परिणाम यह हुआ कि वह अपने शहर का एक धनाढ्य रईस बन गया और अत्यन्त विलासितापूर्वक सुख से जिन्दगी गुजारने लगा । किन्तु आप जानते ही हैं कि तृष्णा का कभी अन्त नहीं होता, उसका विराट उदर कभी भी तृप्ति का अनुभव नहीं करता ।

महात्मा सूरदास जी ने कहा भी है—

तीनाहि लोक अहार क्रियो सब,
सात सपुद्र पियो पुनि पानी ।
और तहाँ-तहाँ ताकत डोलत,
काइत आँख बुनावत प्राणी ॥

दांत दिखावत जीभ हिलावत,
 या हित में यह डाकिनी जानी ।
 सुन्दर खात भये कितने दिन,
 हे तुम्हारा ! अजहं न अघानी ॥

तृष्णा के विषय में कहा है कि यह तीनों लोकों का आहार कर-करके भी अघ ती नहीं तथा सातों सागरों का पानी पी-पी करके भी तृप्ति नहीं होती । यह सर्वत्र डोलती हुई आनी भयंकर दृष्टि से प्राणियों को डराती तथा धमकाती है और उन्हें अपने वश में कर लेती है । मुझे तो ऐसा लगता है कि यह सदा भूखी रखने वाली तथा अतृप्त रहने वाली एक डाकिनी ही है ।

वस्तुतः इस तृष्णा के फेर में पड़कर बड़े-बड़े बुद्धिमान और समझदार भी अन्त में बड़े दुःखी होते हैं और पश्चात्ताप करके अन्त में इसे कोसते हैं ।

यही हाल उस लकड़हारे का भी हुआ । अतल वैभव प्राप्त करके भी उसे सन्तोष नहीं हुआ और वह फिर एक दिन सन्त के पास जा पहुँचा । सन्त उसे देखकर चकित हुए और बोले — ‘भाई ! अब तो तुम इतने बड़े सेठ हो गये हो, अपार दौलत तुम्हारे पास है अब क्या चाहते हो ?’

सेठ बोला ‘भगवन् ! आपकी कृपा जब मेरे ऊपर हो गई है तो एक छोटा मोटा राज्य भी मिल जाय तो क्या बड़ी बात है । इतनी कृपा और हो जाय आपकी तो जीवन भर आपका एहसान नहीं भूलूँगा ।’

सन्त को सेठ की बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और मन में क्रोध आया सोचने लगे — ‘इस व्यक्ति को मैंने एक लकड़हारे से इतना बड़ा सेठ बना दिया तब भी इसकी तृष्णा समाप्त नहीं हुई ?’

उन्होंने कहा — ‘लाओ हथेली फैलाओ ।’ सेठ जी ने बड़ी आशा और उत्साह से हथेली महात्मा जी के आगे फैला दी ।

सन्त ने उसी क्षण सेठजी की हथेली पर से समस्त बिन्दियों को छोड़कर एक अंक मिटा दिया । परिणाम यह हुआ कि सेठ राजा बनने के स्थान पर पुनः लकड़हारा बनकर रह गया । वह कहावत सार्थक हुई कि “चौबेजी छब्बे बनने गये और दुबे ही रह गये ।’

इसलिये पूज्यपाद कवि श्री अमीरखि जी महाराज ने कहा है — जो पर द्रव्य में रत रहते हैं और तृष्णा के फेर में पड़कर अपने हृदय में मिथ्यात्व का पोषण करते हैं, उनकी आत्मा में धर्म की क्षुधा नहीं आगती । आगे कहा है —

मन तीन परिग्रह आरम्भ में,
 प्रभु सीख न धारत भेद दुघा ॥
 जु अमीरिख जीव अभव्य हुवे,
 तिनको न हचे जिन बँन सुघा ॥

अर्थात्—जो परिग्रह में लीन रहते हैं और जिन भगवान की शिक्षा को हृदय में धारण नहीं करते ऐसे अभव्य जीवों को जिन बाणी रूपी अमृत भी रुचिकर नहीं लगता ।

किन्तु जिन वचनों पर विश्वास न करने से और उन्हें ग्रहण न करने से मानव का जीवन कितना अपूर्ण रहता है ? ज्ञान के अभाव में उसका आचरण सदाचरण नहीं कहला सकता तथा सदाचरण न होने से मोक्ष प्राप्ति की संभावना ही नहीं रहती । इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने आचरण को उन्नत बना लेता है वह शनैः शनैः अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने के प्रयत्न में सफल हो जाता है ।

संत विनोबा भावे ने कहा है—

“जिसने ज्ञान को आचरण में उतार लिया उसने ईश्वर को ही मूर्तिमान कर लिया समझो !”

मनुष्य का आचरण ही यह साबित करता है कि वह कुलीन है या अकुलीन ! वीर है या कायर, सदाचारी है या अनाचारी । भौतिक ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही सच्चा ज्ञानी नहीं माना जा सकता । इसके अलावा अनेक शास्त्र पढ़कर भी व्यक्ति मूर्ख और अज्ञानी की कोटि में ही आता है, अगर वह उसके अनुसार आचरण नहीं करता । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रोगी डाक्टर द्वारा लिखे हुए नुस्खे को बार-बार पढ़ता है किन्तु उसमें लिखी हुई औषधियों का सेवन नहीं करता । सच्चा ज्ञानी वही है जो जिन वचनों को पढ़ता है तथा उसको अपने आचरण में उतारता है । ऐसे महापुरुष दूसरों के लिये भी प्रदीप का काम करते हैं, जिसके प्रकाश में अन्य व्यक्ति अपना मार्ग पा लेते हैं ।

गीता में कहा भी है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्ततदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो करते हैं अन्य पुरुष भी उससे ग्रहण करके उसके अनुसार व्यवहार करते हैं । वह जो आदर्श स्थापित कर देता है, लोग उसके अनुसार चलते हैं ।

ज्ञान से विवेक जागता है और विवेकयुक्त विचार आचरण को शुद्ध बनाते हैं । मनुष्य के जैसे विचार होते हैं वैसे ही उनका आचरण बनता है । अच्छे विचार सुन्दर भविष्य का निर्माण करते हैं और बुरे विचार मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जाते हैं । संश्लेष में मनुष्य वैसे ही बनता है जैसे उसके विचार होते हैं क्योंकि उत्तम विचार ही मनुष्य को उत्तम कर्म करने की प्रेरणा देते हैं । सुन्दर विचार ही मनुष्य के सबसे घनिष्ठ एवं हितकारी मित्र होते हैं ।

एक पाश्चात्य विद्वान के विचारों की महत्ता बताते हुए कहा है—

“They are never alone that are accompanied with noble thoughts.

सुन्दर विचार जिनके साथ हैं वे कभी एकान्त में नहीं रहते ।

अभिप्राय. यही है कि जिसके विचार सुन्दर होते हैं वह कभी अकेलापन महसूस नहीं करता क्योंकि उत्तम विचार पर पदार्थ अथवा बाह्य जगत की ओर जाने की अपेक्षा अपने अन्दर की ओर झाँकते हैं अर्थात् आत्म-स्वरूप को पहचानने का तथा उसकी अनन्त शक्ति को खोजने और उसे उपयोग में लेने का प्रयत्न करते हैं । इसी प्रयत्न में लगे रहने का कारण उन्हें बाहरी जगत की अपेक्षा महसूस नहीं होती तथा उनके हृदय में बाह्य परिग्रह की बढ़ाने की प्रवृत्ति नहीं जागती ।

यह सब होता है श्रद्धा के द्वारा । श्रद्धा होने पर ही व्यक्ति अपने विषय के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करता है तथा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसे अपने आचरण में उतरता हुआ इन्द्रियों पर संयम रखता है और दान, शील, तप तथा भाव की आश्रयना करता हुआ मुक्ति का अधिकारी बनता है । स्पष्ट है कि मुक्ति का मूल श्रद्धा है ।

बंधुओ ! यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि श्रद्धा हृदय की अमूल्य वस्तु है और बुद्धि मस्तिष्क की । श्रद्धा में विश्वास होता है और बुद्धि में तर्क । अगर ये दोनों टकराते हैं तो उनका परिणाम कभी-कभी बड़ा भयंकर रूप ले लेता है । भौतिक ज्ञान की प्राप्ति करने वाले तथा अनेकों पोषियाँ पढ़कर जो व्यक्ति जिन वचनों में अविश्वास करता है तथा आत्मा के सच्चे स्वरूप और उसके सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र्य रूपा गुणों को लेकर कुनक करता रहता है, वह हृदय की आस्था को खो बैठता है तथा मुक्ति के मार्ग से भ्रष्ट होकर अवनति अथवा अधोगति की ओर प्रयाण करता है । इसलिये अगर हमें मुक्ति की कामना है तो सर्वप्रथम हृदय में आस्था अथवा श्रद्धा की सुदृढ़ नींव रखनी चाहिये ।

आपने सुना होगा—श्रद्धा एक-एक कंकर को शंकर बनाने की क्षमता रखती है और तर्क शंकर को भी कंकर बना कर छोड़ता है जिसके हृदय में श्रद्धा होती है उसकी दृष्टि समदृष्टि बन जाती है ।

महात्मा कबीर का कथन है—

समदृष्टि सतगुरु करो, मेरो भरम निकार ।

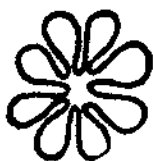
जह देखू तहँ एक ही साहब का दीवार ॥

समदृष्टि तब जानिये, शीतल समता होय ।

सब जीवन की आतमा, लखे एक सोय ॥

चित्त में समता का होना ही जीवन की सर्वोत्तम अवस्था है। यह अवस्था उन्हीं को प्राप्त होती है जिनके पूर्व पुण्यों का उदय होता है। समदृष्टि ही योग-सिद्धि का सच्चा स्वरूप है। जो प्राणी अमीर, गरीब, पशु-पक्षी, सर्प एवं विच्छेद आदि समस्त प्राणियों में एक समान चेतन आत्मा को देखता है, तब उसके हृदय में किसी एक के प्रति राग, किसी एक के प्रति विराग, किसी के प्रति वैर-विरोध अथवा किसी के भी प्रति महत्त्व नहीं रह जाता है। उसे न कोई शत्रु दिखाई देता है और न कोई मित्र। न स्वर्ण पर उसे लाम होता है और न मिट्टी से उदासीनता। ऐसी अन्तःकरण की अवस्था होने पर उसे आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होती है। पर यह समस्त फल श्रद्धा का ही होता है। श्रद्धा के अभाव में आत्मा और सम-भाव कभी नहीं आता और सम-भाव या समाधि न आने पर आचरण अथवा क्रियार्थे पाप रहित नहीं बन पाती।

इसलिये बन्धुओ, अगर आपको आत्म-मुक्ति की अभिलाषा है तो सर्व-प्रथम हृदय में श्रद्धा को मजबूत बनाओ। इसके दृढ़ होने पर ही ज्ञान एवं चरण अर्थात् चारित्र्य की प्राप्ति होगी तथा आप शनैः शनैः मुक्ति के पथ पर चल सकेंगे। ✱



१६ समय का मूल्य आँको

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दशवें अध्याय में भगवान महावीर ने अपने प्रधान शिष्य गौतम को सम्बोधित करते हुये पुनः-पुनः कहा है—“समयं गोयस ! मा पमायए ।”

अर्थात्—हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।

प्रश्न उठता है—प्रमाद किस बात में नहीं करना ? खाने-पीने में ? धूमने फिरने में ? कीमती वस्त्राभूषण बनवाने में ? या कि इन्द्रियों के सुखों को भोगने में ? नहीं, भगवान ने इन बातों में प्रमाद न करने के लिये नहीं कहा है । उन्होंने कहा है—आत्मा-साधना करने में प्रमाद मत करो, धर्मध्याय करने में बालस्य मत करो !

गौतमस्वामी से ही यह क्यों कहा गया ?

जिज्ञासा होती है कि भगवान के अन्य हजारों शिष्य थे फिर उन्होंने अपने प्रधान शिष्य गौतम, जो कि स्वयं ही चौदह पूर्व का ज्ञान रखते थे, मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान एवं मन पर्याय ज्ञान, इन चारों ज्ञानों के धनी थे । अन्य प्राणियों के मन की समस्त बातें जानने की जिनमें ताकत थी और अढ़ाई द्वीप के अन्दर जिसमें जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड और अर्घपुष्कर आते हैं इनमें जितने भी पंचेन्द्रिय प्राणी थे उन सबकी भावनाओं को जानने और समझने की शक्ति थी । ऐसे महाजानी गौतम को ही भगवान ने एक समय का भी प्रमाद न करने की शिक्षा क्यों दी ?

वह इसलिए की प्रधान शिष्य होने पर भी उन्हें जो बात वही जाय उसे अन्य चौदह हजार शिष्य समझें और मानें । व्यवहार में भी हम देखते हैं कि हमारे घरों में बड़े व्यक्ति जैसे कार्य करते हैं छंटे भी उनका ही अनुकरण करने लगते हैं । साधु साध्वी, धावक और श्राविका, क्रमशः चार तीर्थ माने जाते हैं । मुख्यता प्रथम तीर्थ साधु को दी जाती है और साधुओं में भी गौतम स्वामी सबसे बड़े थे, अतः उन्हें ही सम्बोधित करके भगवान ने समय मात्र का भी प्रमाद न करने की शिक्षा दी थी । वह केवल उनके लिए ही नहीं थी बलितु चारों तीर्थों के लिए उस समय भी थी और आज भी है ।

बड़ों का कार्य है छोटों को समझदार एवं बुद्धिमान समझकर भी उन्हें सद्गुणेश देना आपको अनुभव भी होगा कि जब आपका पुत्र व्यवसाय सम्बन्धी कार्य करने के लिए यानी माल खरीदने या बेचने के लिए जाता है तो आप उसे घर पर और स्टेशन पर ट्रेन में बैठते-बैठते तक भी चेतावनी देते हैं—'बेटा ! जोखिम साथ है । बहुत रुपये-पैसे पास में हैं अतः बड़ी सावधानी रखना, अधिक निद्रा मत लेना, सजग रहने का प्रयत्न करना ।”

ऐसा आप क्यों कहते हैं ? आप जानते हैं कि आपका पुत्र होशियार है, और अपने कार्य में चतुर है । अन्यथा आप उसे घन व अन्य जोखिम का सामान देकर भेजते ही क्यों ? किन्तु फिर भी आपका मन उसे शिक्षा देने का होता है अतः बार-बार सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं । पिता अपने समस्त बेटों को कोई बात कहना चाहता है तो वह बड़े लड़के को सम्बोधित करके ही वह बात कहता है । ससुर बहुओं को उपदेश देना चाहता है तो अपनी पुत्री को सीख देता है ताकि बहुएँ उसे सुनकर स्वयं ही उस हित-शिक्षा को ग्रहण कर सकें ।

इसीलिए भगवान महावीर ने अपने प्रिय एवं सबसे बड़े शिष्य गौतम को प्रमाद न करने की शिक्षा दी जो आज भी हमारे और आप सबके लिए उतना ही महत्व रखती है ।

एक दृष्टान्त और भी आपके सामने रखता हूँ—वासुदेव के अवतार श्रीकृष्ण ने महाभारत में युद्ध के समय अर्जुन को उपदेश दिया था । जोकि आज विश्वविख्यात गीता के रूप में हमारे समक्ष है । किन्तु क्या वह केवल अर्जुन के लिए ही था ? नहीं, वह उपदेश उस समय भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए था और आज भी प्रत्येक व्यक्ति के लिये है । अन्यथा क्यों घर-घर में 'भागवत-गीता' पढ़ी जाती ?

मुस्लिम धर्म में कुरान सर्वोच्च और पवित्र ग्रन्थ माना जाता है । हजरत मोहम्मद ने जिन्हें मुसलमान अपना पैगम्बर मानते हैं अने चार दोस्त हजरत अली, हजरत अबूबकर आदि को जो उपदेश दिया वह कुरान शरीफ के रूप में है । पर क्या वह उपदेश उन्होंने केवल अपने दोस्तों को ही दिया था ? नहीं, आज उसका एक-एक शब्द प्रत्येक मुसलमान के लिये ब्रह्मवाक्य के समान है और प्रत्येक मुसलमान उसका प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति से पारायण करता है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि भगवान महावीर ने गौतमस्वामी को सम्बोधन करके काल का एक समय भी व्यर्थ न गँवाने का जो उपदेश दिया है वह आज हम सबके लिए है और हम सभी को प्रमाद का त्याग करके

प्रत्येक पल का सदुपयोग करना चाहिये क्योंकि जीवन क्षणिक है और न जाने किस दिन किस वक्त वह समाप्त हो सकता है। कहा भी है—

दुम-पत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।

एवं मणुयाण जीविघं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

उत्तराध्यायन सूत्र अ १० गा. १

कहा गया है— वृक्ष के ऊपर जो पीले पत्ते हैं वे कब तक ठहरने वाले हैं ? हवा का एक झोंका आते ही वे नीचे गिर जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन है जो किसी भी समय नष्ट हो सकता है। अतः हे गौतम ! समय मात्र का भी विलम्ब आत्म-साधना में मत करो।

जीवन की क्षणिकता का एक और उदाहरण उत्तराध्यायन सूत्र के दसवें अध्याय की दूसरी गाथा में दिया है—

कुसगो जह ओसबिन्दुए, थोवं चिठ्ठइ लम्बमाणए।

एवं मणुयाण जीविघं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

जिस प्रकार कुश के अग्रभाग पर जल का बिन्दु चमकता है। किन्तु उसकी चमक कितने समय तक ठहरती है ? सूर्य की एक किरण के पड़ते ही वह सूख जाती है। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन अल्पकाल का है, अतः हे गौतम ! एक समय के लिए भी प्रमाद मत करो।

वस्तुतः जिस प्रकार गौतम स्वामी का जीवन एक-एक पल करके बीत रहा था, उसी प्रकार हमारा जीवन भी एक-एक पल करके ही समाप्त होता जा रहा है और उन जैसे दिव्य पुरुष को भी जब भगवान ने चेतावनी दी भी तो हम किस गिनती में हैं ? गौतम स्वामी का तो प्रत्येक क्षण ही उच्चतम साधना में व्यतीत हो रहा था और आज हमारा जीवन किस प्रकार संसार के प्रपंचों में बीत रहा है, हम जानते ही हैं। इसीलिए उनकी अपेक्षा हमें इस चेतावनी की अनिवार्य आवश्यकता है। अगर यह इसी प्रकार वीतता चला गया तो अन्त में पश्चात्ताप के अलावा क्या हाथ आएगा ? कुछ भी नहीं।

एक हिन्दी के कवि का कथन है—

जीवन एक वृक्ष है फानी,

बचपन पत्ते साख जवानी।

फिर है पतझड़ खुश्क बुढ़ापा,

इसके बाद है खतम बहानी।

फानो का अर्थ है नाशवान । तो कवि कहता है—यह जीवन एक वृक्ष के समान नाशवान है । कोई व्यक्ति प्रश्न करता है—जीवन और वृक्ष में समानता कैसे हुई ? बचपन, जवानी और बुढ़ापा क्या ये तीनों चीजें वृक्ष में पाई जाती हैं ?

इसका उत्तर देने वाला व्यक्ति भी कम चतुर नहीं है । वह बताता है—जब वृक्ष उगता है, उसमें सर्व प्रथम कोमल पत्ते आते हैं, इसी प्रकार मनुष्य का बचपन होता है, इसके पश्चात् वृक्ष में बड़ी-बड़ी और पुष्ट डालियाँ आती हैं वह मनुष्य की जवानी के समान कहलाती हैं । फल, फूलों और सुदृढ़ शाखाओं से भरपूर वृक्ष प्रत्येक मन को मग्ध कर लेता है तथा प्रत्येक प्राणी उससे फल प्राप्ति की तथा उसकी छाया में विश्राम करने की इच्छा करते हैं । इसी प्रकार जब व्यक्ति पूर्ण युवावस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसके स्नेही, स्वजन तथा पुत्र, पुत्री, पत्नी, पिता अथवा माता उससे अनेक प्रकार की आशाएँ रखते हैं और मनुष्य की वह अवस्था अन्य दोनों अवस्थाओं से भिन्न तथा अहंकार से भरी हुई होती है । उसे गर्व होता है कि मैं इन सबका पालन-पोषण करता हूँ तथा सबका आश्रय रूप हूँ । किन्तु क्या वह युवावस्था भी सदा टिकती है ? नहीं, उसके लिए यही कहा जा सकता है—

रहती है कब बहारे जवानी तमाम उम्र ।
मानिन्द बूये गुल, इधर आई उधर गई ॥

अर्थात्—जवानी की बहार क्या सम्पूर्ण उम्र तक बनी रहती है ? वह तो फूल की खुशबू के समान इधर से आती है और उधर चली जाती है ।

आशय कहने का यही है कि युवावस्था भी स्थायी नहीं रहती तथा जिस प्रकार वृक्ष कोमल कोपलों से बढ़कर हरा-भरा तथा फल और फूलों से एक दिन लद जाता है । किन्तु अन्त में पतझड़ के आते ही उसके हरे पत्ते पीले पड़ जाते हैं, और उन सबके झड़ जाने से वृक्ष ठूँठ के समान खड़ा रह जाता है तथा कुछ समय पश्चात् उखड़कर धराशायी होता है । उसी प्रकार युवावस्था की रंगोनियों में भूला हुआ प्राणी अल्पकाल में ही समस्त राग-रंग से हाथ धोकर जरावस्था को प्राप्त करता है ।

वृक्ष के पतझड़ के समान ही मनुष्य वृद्धावस्था में पूर्णतया शक्तिहीन हो जाता है जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते पीले पड़ जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर कमजोर हो जाता है तथा त्वचा झरियों से भर जाती है, इन्द्रियाँ निबल हो जाती हैं तथा सम्पूर्ण शरीर जर्जर हो जाता है ।

भर्तृहरि ने भी वृद्धावस्था का अत्यन्त दयनीय चित्र उपस्थित किया है—

मात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता घ्रष्टा च दन्ताथलिः,
दृष्टिनश्यति वर्धते क्षिप्रता वक्त्रं च लालायते ।
बाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न सुभूषते,
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णत्रयसः पुत्रोऽपि नित्रायते ॥

कहा गया है—मानव की वृद्धावस्था अत्यन्त खेदजनक होती है। इस अवस्था में शरीर सिकुड़ जाता है। चाल धीमी हो जाती है, दन्तपंक्ति टूटकर गिर जाती है, दृष्टि मन्द हो जाती है, कान बहरे हो जाते हैं, मुँह से लार टपकती है, बन्धुवर्ग बातों से भी सम्मान नहीं करते, पुत्र भी शत्रु हो जाते हैं, यहाँ तक कि स्त्री भी सेवा-सुश्रुषा नहीं करती।

वास्तव में ही संसार में ऐसा होता है। जिस पुत्र को मानव अनेकानेक कष्ट सहकर भी उसे पाल-पोस कर बड़ा करता है, अनीति और बेईमानी से धन कमाकर अपने लिये अनेकानेक कर्म-बन्धन करता हुआ भी धन जोड़ता है वही पुत्र होश सम्हालने के पश्चात् तथा अपनी पत्नियों के आ जाने के बाद पिता की अवज्ञा करता हुआ उन्हें अपशब्द कहता है तथा उसे एक दिन भी सुख से भरपेट भन्न नहीं खाने देता।

वृद्धावस्था की दशा

किसी नगर में एक सेठ रहता था। अपनी युवावस्था में उसने अपार वैभव इकट्ठा किया तथा वृद्धावस्था में अपने पुत्रों को अपना सम्पूर्ण कारोबार संभाल दिया। परिणाम यह हुआ कि उसके पुत्रों ने समस्त व्यापार और धन को अपने हाथ में कर लेने के पश्चात् पिता को बाहर के बरामदे में एक टूटी चारपाई पर सुला दिया और एक लाठी हाथ में देकर कह दिया—“पिताजी यह लाठी आपके पास रखी है अगर घर में कुत्त-बिल्ली अथवा चोर सिस्रमंगे आ जायें तो उन्हें भगाते रहना।”

सेठजी बेचारे क्या करते ? निरुपाय होकर यही कार्य करने लगे। घर के सब सदस्य जब खा चुकते थे तब उन्हें बचा-खुचा खाना बाहर ही मिल जाया करता था। उनकी बहुएँ खाने की थाली और लोटे में पानी रख जाया करती थीं।

कुछ दिन इसी तरह बीत गए। पर सेठजी की पुत्र बधुओं को यह व्यवस्था भी रुचिकर न लगी। वे कहने लगी—‘ससुर जी बाहर बैठे रहते हैं अतः उन्हें बार-बार बाहर आने-जाने पर घूँघट निकालना पड़ता है इससे बड़ी परेशानी होती है। अच्छा तो यह हो कि इन्हें हवेली की ऊपरी मंजिल के चौबारे में रख दिया जाय। एक घन्टी इन्हें दे देंगे ताकि कोई काम होगा तो यह घन्टी बजा देंगे और इन्हें वस्तु पहुँचा दी जाएगी।’

सेठजी के पुत्रों ने अपनी पत्नियों की सलाह से कही हुई बात जब सुनी तो उसे तुरन्त मंजूर कर लिया और अपने पिता को ऊपरी मंजिल पर ले जाकर वहाँ रहने की उनकी व्यवस्था कर दी।

बेचारे वृद्ध सेठ ऊपर ही रहने लगे। जब उन्हें भोजन, पानी या किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता होती तो वे घन्टी बजा दिया करते थे। घन्टी की आवाज सुनकर नौकर-चाकर उन्हें उनकी आवश्यक वस्तु वहीं दे आया करते थे।

यह क्रम भी काफी दिनों तक चलता रहा। पर एक दिन सेठ के दुर्भाग्य से उनका पौत्र खेलता-खेलता ऊपर चला गया और घन्टी को अपने लिये मुन्दर खिलौना समझकर उठा लाया। घंटी ज्योंही नीचे गई वृद्ध की मूर्च्छित हो गई। घंटी के न बजने से किसी व्यक्ति को उनका ध्यान न आया और भोजन तथा पानी के लिये दबे कंठ से चीखना-चित्लाना कोई सुन भी न सका।

परिणाम यह हुआ कि दो दिन बीत गए। भोजन के बिना तो फिर भी सेठ के प्राण टिके रहते, पर जल के न मिलने से वे कूच कर गए।

तो बंधुओं, इस जीवन का अनेक बार इस प्रकार अन्त होता है। वहाँ भी है :—

यावद् वित्तापार्जनशक्त, तावत् निज परिवारे रक्तः।

तदनु च जरया जर्जर देहे, वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥

—मोहमुद्गर

जब तक धन कमाने की सामर्थ्य रहती है, तब तक कुटुम्ब के व्यक्ति सब तरह से प्रसन्न रहते हैं। इसके बाद बुढ़ापे में शरीर के जर्जर होते ही कोई बात भी नहीं पूछता।

इसीलिये मानव को समय रहते ही चेत जानना चाहिये अर्थात् जिस अवस्था में उसका शरीर सशक्त रहता है, समस्त इन्द्रियाँ काम करती हैं तथा वह अपनी इच्छानुसार अपने धन का दान-पुण्य द्वारा सदुपयोग कर सकता है उसे कर लेना चाहिये। धर्माराधन के लिये वृद्धावस्था की प्रतीक्षा करना जीवन को व्यर्थ नष्ट कर देना ही है।

हम जानते हैं कि संसार के सभी पुरुष गृह त्याग कर साधु नहीं बन सकते किन्तु संसार में रहकर भी जो मन को संसार में नहीं रमाते वे आत्म-मुक्ति के मार्ग पर सफलतापूर्वक चल सकते हैं। त्याग (दान) मन से किया जाता है। चोरों के द्वारा चुरा ले जाने पर, स्वर्घा के कारण दान देने पर अथवा पुत्र-पौत्रों के द्वारा ले लिया जाने पर वह त्याग धन का त्याग नहीं कहलाता।

महाभारत में कहा गया है :—

“जिसने इच्छा का त्याग किया है; उसको घर छोड़ने की क्या आवश्यकता है, और जो इच्छा से बँधा हुआ है, उसको वन में रहने से क्या लाभ हो सकता है? सच्चा त्यागी जहाँ रहे वही वन और वही भवन-कंदरा है।”

जो व्यक्ति इस बात को समझ लेते हैं, वे अपने जीवन का एक भी अमूल्य क्षण व्यर्थ नहीं जाने देते। नीतिकारों ने कहा भी है :—

‘क्षणशः कणशश्चैव, विद्यामर्थं च साधयेत् ।’

अर्थात् मनुष्य क्षण-क्षण का उपयोग करके ज्ञान हासिल करे तभी ज्ञानार्जन हो सकता है तथा व्यापारी एक-एक कण का, ज्ञानी एक-एक अनाज के दाने को संग्रह करे तो धन का संग्रह कर सकता है।

सारांश कहने का यही है कि धनव न बनना है तो एक-एक कण का संग्रह करो तथा ज्ञानवान बनना है तो बिना एक पल भी नष्ट किये ज्ञान हासिल करो तथा आत्म-साधना हो सकेगी। जीवन का एक एक क्षण अमूल्य है अतः प्रत्येक क्षण का जब सदुपयोग होगा तभी लक्ष्य की प्राप्ति संभव हो सकेगी।

आत्मा का सच्चा घर

इस दुर्लभ जीवन का लाभ वही व्यक्ति उठा सकता है जो संपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करके संसार की अनित्यता और असारता को समझ लेता है तथा इस जगत को सराय और स्वयं को एक यात्री मानता है।

महात्मा कबीर ने कहा भी है :—

जिसको रहना उत्तघर, सो क्यों जोड़े मित्त ?

जैसे पर घर पाहुना, रहे उठाये चित्त ॥

इत पर घर उत है धरा, बनिजन आये हाट ।

कर्म करीना देखि के, उठि कर चाले बाट ॥

इतने भीधे और सुन्दर शब्दों में कवि ने मानव को चेतावनी दी है कि जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा पृथ्व-पप तथा लोक और परलोक पर विश्रान है वह इस संसार से ममत्व रखे ही क्यों? उसे इस संसर में इस प्रकार रहना चाहिये जिस प्रकार एक मेहमान किसी के घर जाता है किन्तु यह समझकर कि यह मेरा असलो घर नहीं है, उसका चित्त अशांत रहना है तथा प्रति पल उसे अपने घर का स्मरण आता है और वह अपने घर जाने के लिये मन में मंजूवे बाँधे रहता है तथा व्याकुल बना रहता है।

उहारणस्वरूप एक यात्री किसी बियावान जंगल में से होकर गुजरता है। मार्ग में दिन अस्त होने को हो जाता है और वह धवराने लगता है। किन्तु उसी समय उसे एक छोटा सा मकान या प्याऊ मिल जाती है तथा वहाँ रहने

वाला व्यक्ति प्रेम से उसे ठंडा जल पिलाता है, रूखा-सूखा जो कुछ उसके पास होता है खाने को भी देता है तथा रात्रि विश्राम के लिये आग्रह करता है। यात्री वहाँ ठहर भी जाता है किन्तु वह रात क्या उसकी निश्चितता से व्यतीत होती है ? नहीं, उसे रात भर यही विचार होता रहता है कि कब प्रातःकाल हो और कब मैं अपने घर पहुँचूँ ।

यही हाल मानव जीवन और आत्मा का है। आत्मा का सच्चा और स्थायी घर मोक्ष है उसे अन्त में पहुँचना वहीं है। यह मानव शरीर अथवा अन्य जो भी देह उसे प्राप्त होती है वह घोर जंगल में मिले हुए यात्री को मिली हुई उस प्याऊ के समान है जिसमें रात भर रहकर भी उसे अपने घर पहुँचने की आकांक्षा बनी रहती है। इसलिये प्रत्येक भुमुक्षु को सदा यही विचार करना चाहिये कि मुझे इस मानव देह में बहुत कम समय और एक यात्री के नाते ही रहना है। अतः इस देह और इस संसार में आसक्ति रखना केवल कर्म-बन्धन का ही कारण है।

यह संसार तो एक हाट अथवा बाजार के समान है। जिस प्रकार हाट के दिन अनेक व्यापारी अपना-अपना माल लेकर आते हैं तथा दिन भर की बिक्री के बाद शाम होते-होते अपना बचा हुआ सामान समेट कर अपने गाँव की ओर चल देते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा इस संसार-रूपी हाट में अल्प-काल के लिये आता है तथा कर्मों की खरीदी-बिक्री करके अपने रास्ते पर चल देता है। अगर पुण्य-कर्मों को खरीदता है तो उत्तम गति की ओर अग्रसर होता है तथा पाप कर्मों का उपार्जन करता है तो अधोगति की ओर प्रयाण करता है। परिणाम यह होता है कि उसे अपने असली घर मुक्तिधाम पहुँचने में देर लगती है और नाना योनियों रूपी मार्ग में भटकते हुए अनेकानेक कष्टों और यातनाओं को भुगतना पड़ता है।

मेरे कहने का सारांश यही है कि मनुष्य को भली-भाँति यह समझ लेना चाहिये कि यह संसार असार और मिथ्या है। जिस प्रकार प्याज को ज्यों-ज्यों छीलते जायँ उसमें से पत्तों के अलावा और कुछ भी प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार इस संसार के भोगों को जितना भी भोगा जाय उससे लाभ कुछ भी नहीं होता। फिर भी मानव चेतना नहीं है तथा सांसारिक पदार्थों और सांसारिक सम्बन्धों के मोह में पड़कर अपनी आसक्ति को बढ़ाता हुआ अपनी ही हानि करता है।

तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है —

करत चातुरी मोह बस, लखत न निज हृत हान ।

शुक-मकंठ इष गहत हठ तुलसी गरम सुजान ॥

दुखिया सकल प्रकार शठ, समुक्ति परत तोह नाहि ।

लखत न कंठक मीन जिमि, अशन भखत भ्रम नाहि ॥

व्यक्ति मोह में अन्धा होकर अपना हानि-लाभ नहीं देखता। इन्द्रिय-सुखों के फेर में पड़ जाने से उसकी तृष्णा बलवती होती जाती है और उसकी पूर्ति न हो पाने के कारण वह आकुल-व्याकुल होता है आसक्ति के कारण क्रोध करता है तथा क्रोध जनित मोह के कारण इस संसार में फँसता चला जाता है।

इसका कारण यही है कि वह न मानव जन्म के महत्त्व को समझता है और न ही समय की कीमत आँकर ज्ञान-दृष्टि से जगत की असारता को जान पाता है। केवल भौतिक ज्ञान की पुस्तकों को रट-रटाकर अवश्य ही अपने आपको वह विद्वान और चतुर व्यक्ति की श्रेणी में समझने लगता है तथा अपनी शिक्षा के हठ से जिन प्रकार तोता बहेलिये के जाल में फँस जाता है और बन्दर रोटी के लोभ में मदारी के कब्जे में आ जाता है उसी प्रकार वह विषयों के लालच में आकर संसार के जाल में उलझ जाता है। भोगों की लालसा उसे ठीक उसी प्रकार जगत के बन्धन में बांध देती है, जिस प्रकार कांटे में लगी हुई रोटी या आटे को खाने के लालच में मछली जाल में फँस जाती है।

कितने खेद की बात है कि मनुष्य इस दुर्लभ देह, अर्थात् क्षेत्र उच्च जाति अथवा परिपूर्ण इन्द्रियां पाकर भी आत्म-मुक्ति के अपने विराट् उद्देश्य और लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं देता। वह केवल दुनियादारी के धन्धे में ही फँसा रहता है। जिस प्रकार पशु अपने भविष्य की कोई कल्पना नहीं करते उसी प्रकार संसार के सुखों में गृद्ध प्राणी भी अपने भविष्य का ख्याल नहीं करते। ऐसे मूढ़ प्राणियों में और पशुओं में आकृति के भेद के अलावा और क्या अन्तर समझा जाय? कुछ भी नहीं। ऐसे व्यक्तियों का महापुरुष बार-बार समझाते हैं। कहते हैं—

क्या देख दिवाना हुआ रे ?

माया बनी सार की सुई और नरक का कुआ रे।

हाड़ चाम का बना पौजरा तामें मनुआँ सूआ रे।

भाई बन्धु और कुटुम्ब कबीला तिममें पच-पच सूआ रे।

कहत कबीर सुनो भाई साधो, हार चला जग जूआ रे।

महात्मा कबीर का कथन है—हे भोले प्राणी ! तू इस संसार में क्या देखकर दिवाना हो रहा है? इस जगत में जो कुछ भी दिखाई देता है सब नश्वर और मिथ्या है, केवल माया है जो कि सार की सुई के समान आत्मा को सदा कोंचती रहती है। दूसरे शब्दों में यह जगत अपने नाना प्रकार के आकर्षणों से मनुष्य को लुभाता है और उस पर कर्मों का अनन्त बोझा लादकर मरक रूपी गहरे कुएँ में ढकेल देता है।

यह आत्मा जो कि अनंत शक्ति, अनन्त सुख एवं अनन्त तेज का कोश है, इस हड्डी और चमड़े के पिंजरे में कैद है किन्तु इस मायामय संसार को भी वह सुखमय मानकर मिथ्यात्व की गहरी निद्रा में सोया हुआ है।

यह जोव आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भूल गया है, अपने लक्ष्य का उसे भान नहीं है। केवल इस देह के सम्बन्धी कुटुम्बियों और स्वजन-परिजनों के लिये अहर्निश पचता रहता है, उन्हीं के सुख के लिये अन्याय, अनैति और नाना प्रकार के पापों से धनोपार्जन करता हुआ कर्म-बन्धन करता है तथा अन्त में एक जुआरी जिस प्रकार अपने धन को खोकर खाली हाथ घर लौटता है, उसी प्रकार यह भी इस जीवन का कुछ भी लाभ न उठाता हुआ अपने अनन्त पुण्यों से प्राप्ति दुर्लभ मानव भव को खोकर चौरासी लाख योनियों में भटकने के लिये चल देता है।

इसलिये बन्धुओ ! हमें समय की कीमत समझनी चाहिये तथा जीवन के एक क्षण को भी व्यर्थ खोये बिना ज्ञान-प्राप्ति एवं आत्म-साधना में निरत रहते हुए अपने लक्ष्य को ओर बढ़ना चाहिये। समय के एक-एक क्षण को भी अगर हम सार्थक कर लेंगे तो भविष्य के अनेकानेक कष्टों से बच सकते हैं। अग्नेजी में एक कहावत भी है—

“A stich in time saves nine.”

समय पर थोड़ा सा प्रयत्न भी आगे की बहुत सी परेशानियों को बचाता है।

इसलिये भगवान महावीर के उपदेश को हृदयंगम करते हुए हमें अपने एक-एक क्षण को सार्थक करना चाहिये। यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि बीता हुआ समय पुनः लौट कर नहीं आता और अगर उसे खा दिया तो अन्त में केवल पश्चात्ताप ही हाथ आता है।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनों !

कल के प्रवचन में मैंने बताया था कि भगवान महावीर ने अपने प्रधान शिष्य गौतम को बार-बार कहा था—“सयमं गोयम मा पमायए ।” अर्थात् हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।

मैंने यह भी कहा था कि भगवत का यह उपदेश केवल गौतम स्वामी के लिये ही नहीं था अपितु उनके समस्त शिष्यों के लिये, अन्य समस्त साधु-साध्वियों के लिये तथा श्रावक श्राविकाओं के लिये था । आज भी वह उपदेश इसी प्रकार हमारे और आप सभी के लिये है ।

भगवान ने गौतम को उपदेश देते हुए एक गाथा और कही थी वह इस प्रकार है—

इह इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहु पच्चवायए ।
विहण्णाहि रयं पुरे कडं समयं गोयम मा पमायए ॥

कहा है— ‘हे गौतम ! यह मनुष्य का आयुष्य अत्यल्प है और उसमें भी अनेकानेक विघ्न आते रहते हैं इसलिये बिना विलम्ब किये पूर्वकृत कर्म रूपी रज को आत्मा से अलग करो तथा जीवन को कल्याणकारी मार्ग पर लगाओ ।

कल मैंने आपको बताया था कि यह जीवन एक वृक्ष के समान है जिसमें बचपन रूपी अंकुर, फल एवं फूलों से लदा हुआ यौवन तथा वृद्धावस्था के समान पतझड़ आता है तथा उसके पश्चात् सब खत्म हो जाता है, कहानी मात्र रह जाती है ।

कोई प्रश्न करता है कि यह सब क्यों हो जाता है ? क्यों यह जीवन रूपी वृक्ष इस प्रकार समाप्त होता है ? उत्तर में यही कहा जाता है— आयुष्य रूपी चूहे इसे कुतरते रहते हैं । चूहे दो प्रकार के कहे जा सकते हैं एक सफेद और दूसरा काला । दिन रूमी चूहा श्वेत रंग का है और रात्रि रूमी काले रंग का । ये दोनों बारी-बारी से वृक्ष को कुतरते रहते हैं तथा वृक्ष

का आयुष्य इसने समाप्त हो जाता है। मनुष्य के जीवन को भी इसी प्रकार काल रूपी चूहे समाप्त कर देते हैं।

काल की शक्ति

हम सदा देखते हैं कि यह अनन्त बलशाली काल हमारे देखते-देखते ही नए को पुराना बनाता है और पुराने को नष्ट कर देता है। काल की शक्ति को अथवा इसकी गति को कोई नहीं रोक पाता। एक पल का भी विलम्ब किये बिना तथा एक पल की भी विराम लिए बिना निर्बाध रूप से यह अपना कार्य किये जाता है। बच्चे को युवा, युवा को वृद्ध बनाता हुआ एक दिन वह उसे इस संसार से ले जाता है।

खेद है कि अपनी आँखों से यह सब देखते हुए भी हम इस अल्प-जीवन का लाभ नहीं उठाते तथा हमारा मन इस संसार से विरक्त नहीं होता।

संस्कृत के एक श्लोक से कहा गया है—

प्रतिदिवसमनेकान् प्राणिनो निःसहायान् ।
मरणपथगतास्तान् प्रेक्षते मानवोऽयम् ॥
स्वगतिमपि तथा ताम् बुध्यते भाविनीं वा ॥
तदपि नहि ममत्वं दुःखमूलं जहाति ॥

कवि का कथन है—प्रतिदिन अनेकानेक प्राणी निःसहाय के समान मृत्यु के मार्ग पर जाते हैं। हम स्वयं भी देखते हैं कि काल बली के सामने किसी का बश नहीं चलता। साथ ही हम भी जानते हैं कि हमें भी एक दिन इसका शिकार बनना पड़ेगा किन्तु फिर भी दुःख के मूल ममता का हम त्याग नहीं कर पाते।

एक दिन मुझे भी मरना है, यह भली-भाँति जानते हुए भी व्यक्ति मोह-माया में अधिकाधिक फँसता चला जाता है। वह अधिकाधिक परिग्रह इकट्ठा करता है तथा जीवन के अन्त तक भी उसे छोड़ना नहीं चाहता है।

पूज्यपाद श्री अमीरुषि जी महाराज ने इसीलिए मानव को चेतावनी देते हुए लिखा है—

खलक में आय ललचायो है विषय सुख,
फूलो फिरे काल भय चित्त से विसार के ।
बड़े-बड़े राया घनछाया ज्यों विलाय ताको,
लेइ गयो काल जड़ा मूल ते उखार के ॥

श्वास ही की आस फेर कौन विसवास करे,
ले जावन माहीं करे छार तन जारि के ;
अमीरिख कहे आय, बसे थे जगत मांही,
अन्त को सिधाये महिमान विन धार के ॥

कहा है—“अरे मूढ़ । जीव ! तू इस जगत में आकर विषय-सुख में आसक्त बना हुआ गर्व से फूला नहीं समाता । लगता है कि काल का तुझे तनिक भी भय नहीं है । तभी तो अनिवार्य रूप से आने वाली मृत्यु के डर को हृदय से विसार कर अपने धन-वैभव तथा कुटुम्बियों के मोह में आसक्त बना हुआ है ।

किन्तु याद रख ! इस जगत में तू तो क्या चीज है, तेरे से भी अधिक समृद्धिशाली पुरुष और बड़े-बड़े राजा महाराजा भी इस संसार में आकर विलीन हो गए हैं । काल उन्हें इस प्रकार जड़-मूल से उखाड़कर ले गया है कि आज उनका चित्त भी कहीं दिखलाई नहीं देता ।

क्या तू यह नहीं जानता कि जब तक तू कुटुम्बियों के लिए पचता रहता है, उनके लिए नाना प्रकार के पाप-कर्म और अनीति कर करके अर्थ का उपार्जन करता है तथा तेरी सौम्य चलायी है तभी तक मुझे सब चाहते हैं पर श्वास के समाप्त होते ही वे ही लोग एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना तेरी देह जलाकर राख कर देते हैं । यही तो संसार का नियम है कि जो भी इस पृथ्वी पर आता है चार दिन मेहमान के समान रहकर अन्त में सब छोड़-छाड़कर यहाँ से सिधार जाता है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य को अपने दुर्लभ जीवन और इसकी क्षण-भंगुरता को समझकर अपने एक-एक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए । उसे प्रतिपल यह ध्यान रखना चाहिए कि मुझे कोटि पुण्यों के फलस्वरूप जो पर्याय मिली है इसे कैसे सार्थक बनाया जाय ?

मानव की जीवन सफलता

मनुष्य जीवन की सफलता के विषय में लोगों के विचार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । कुछ व्यक्ति जीवन की सफलता अदृष्ट धन की प्राप्ति में समझते हैं, कुछ दुनिया के द्वारा यश और प्रसिद्धि प्राप्त करने में तथा कुछ व्यक्ति अधिक से अधिक सांसारिक सुखों का उपयोग करने में । ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि केवल बाह्य संसार तक ही सीमित रहती है और वे इस जन्म को ही सुखी बनाना अपना सर्वोत्तम लक्ष्य मान लेते हैं ।

किन्तु जो ज्ञानी पुरुष होते हैं वे इस शरीर और इस संसार को कोई महत्त्व नहीं देते। क्योंकि वे जानते हैं— यह देह क्षण-भंगुर है और इसके नष्ट होते ही समस्त सांसारिक उपलब्धियाँ उनके लिए लोप हो जाती हैं।

इसलिए वे अपनी अन्तरात्मा में झाँकते हैं तथा अपनी आत्मा को जो कि पुनः-पुनः नाना प्रकार के देह रिजरो में बद्ध होता है, उसे मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे महापुरुष सांसारिक सुखों को अस्थायी मानकर उस अनन्त सुख की कामना करते हैं जोकि प्राप्त होने के पश्चात् फिर कभी विलीन नहीं होता। यही कारण है कि उन्हें इस संसार से कोई लगाव नहीं होता तथा वे संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त रहते हैं।

सच्चा सुख कहाँ है ?

एक महात्मा के पास एक व्यक्ति आया और बोला—“महात्मन् ! आप अनेक दिव्य शक्तियों के धनी हैं और परम सुखी हैं अतः कृपया मुझे भी ऐसा कोई मन्त्र बताइये जिससे मैं भी सुखी बन जाऊँ।”

महात्मा बोले—“भाई वह देखो ! नदी के किनारे पर एक पारस-पत्थर पड़ा है। उसे ले जाओ। उस पारस-पत्थर से तुम जितना भी लोहा लुआओगे सब सोना बन जाएगा और तुम्हें संसार में सुख ही सुख प्राप्त होगा।”

सुख की अभिलाषा रखने वाला वह व्यक्ति महात्मा जी की बात सुनकर प्रसन्नता से भर गया और दौड़कर नदी के किनारे से पारस-पत्थर उठा लाया। उसे महात्मा जी को दिखाकर बोला—“भगवन् ! यही है क्या वह पारस-पत्थर ?”

“हाँ यही है, ले जाओ इसे, इसके द्वारा तुम चाहे जितने लोहे को सोना बना लेना और सुख से रहना। व्यक्ति अत्यन्त प्रसन्न होकर वहाँ से रवाना हुआ पर कुछ दूर ही पहुँचा था कि उसके मन में विचार आया—

“महात्मा जी ने कितनी सरलता से मुझे पारस-पत्थर बता दिया ! पर अगर इससे असीम सुख प्राप्त हो सकता है तो स्वयं महात्मा जी ने इसे अपने पास क्यों नहीं रखा ? उन्होंने इसका उपयोग क्यों नहीं किया ? इससे अगर सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है तो वे स्वयं भी तो इससे चाहे जितना सोना बना सकते थे ? इससे मालूम होता है कि सोने और चाँदी के प्राप्त कर लेने पर भी वह सुख नहीं मिल सकता जो महात्मा जी को अभी मिला हुआ है।”

यह विचार आते ही यह लौटा और संत के पास आकर बोला—
“भगवन् ! यह पारस-पत्थर मुझे नहीं चाहिए।”

संत चकित होकर बोले—“क्यों ? तुमने सुख-प्राप्ति का मन्त्र जानना चाहा था और मैंने उसके बदले में तुम्हें सुख प्राप्ति के लिए यह अनुपम वस्तु बता दी; क्या इससे भी तुम्हें संतोष नहीं हुआ ?”

“नहीं भगवन् ! मेरे मन में यह विचार आया कि अगर इस वस्तु से सच्चा सुख प्राप्त होता तो आप इसका उपयोग करके स्वयं ही क्यों नहीं सुखी बन जाते । आप तो वह वस्तु प्रदान कीजिए जिससे आप कुछ भी धन वैभव न रखते हुए भी सुखी हैं ।”

संत मुस्कुरा कर बोले—“वत्स ! मुम्हारी बात सच है । अगर गम्भीर विचार किया जाय तो सच्चा सुख धन-वैभव में नहीं है । मानव कितना भी सुख क्यों न प्राप्त करले और कितना भी सोना-चाँदी क्यों न इकट्ठा करले उसे सच्चा और स्थायी सुख प्राप्त नहीं हो सकता । अगर तुम्हें सच्चे सुख की अभिलाषा है तो इन सांसारिक सुखों का त्याग करो और अपने मानव जीवन का लाभ उठाकर अक्षय सुख की प्राप्ति करने का प्रयत्न करो । मानव जीवन की सफलता इसी में है कि उसके द्वारा कर्म-बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करके सदा के लिए भाव-भ्रमण से बचा जाय ।”

वस्तुतः सच्चे संत धनवानों से क्या कहते हैं ? यही कि—

वयमहि परितुष्टा वल्कलंस्त्वं च लक्ष्म्या ।
सम इह परितोषो निर्विशेषा व शेषः ॥
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला ।
मनसि च परितुष्टे कोर्त्स्वान्को दरिद्रः ॥

—भर्तृहरि

अर्थात् हम वृक्षों की छाल शरीर पर लपेट कर भी सन्तुष्ट हैं पर आप लक्ष्मी से सन्तुष्ट हैं । हमारा और तुम्हारा दोनों का संतोष समान है, कोई अन्तर नहीं है । किन्तु दरिद्री वह है जिसके मन में विशाल तृष्णा है । मन में संतोष होने पर कौन धनी और कौन निर्धन है ? यानी मन में सन्तोष हो तो धनी और निर्धन दोनों समान हैं ।

कवि के कथन का अभिप्राय यही है कि इस संसार में सुखी वही व्यक्ति है जो अपनी प्रत्येक प्रकार की स्थिति में संतुष्ट रहता है, तथा दुःखी वही है जिसे अधिक से अधिक वैभव तथा समृद्धि प्राप्त होने पर भी संतोष नहीं होता । इसलिए जिसे सुखी होना है, उसे अपनी इच्छाओं का, कामनाओं का तथा इन्द्रिय सुखों का त्याग करना चाहिए । जब तक इन सबका त्याग अथवा इन्हें कम से कम नहीं किया जाएगा, सुख की उलब्धि नहीं हो सकेगी—

शेखसादी ने गुलिस्तां में लिखा है—

ऐ कनायत तबन् गरम गरदाँ ।
के बराये ती हेच नेमत नेस्त ॥

—हे सन्तोष ! मुझे धनी बना दे, क्योंकि संसार की कोई दौलत तुझसे बढ़कर नहीं है ।

संत तुलसीदास जी ने भी यही कहा है—

जहाँ तोष तहाँ राम है. राम तोष नहिं भेद ।
सुलसी देखी गहत नहिं, सहत विविध विधि खेद ॥

कवि ने कहा है—जब मनुष्य दुनियादारी के सम्बन्धों की आशा त्यागकर तथा दौलत को नश्वर मानकर भगवान् की शरण में जाता है, तब उसे संतोष प्राप्त होता है । दूसरे शब्दों में जहाँ संतोष है वहीं भगवान् है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।

तुलसीदास जी का कथन है—मैंने स्वयं देखा है और अनुभव किया है कि जिन्होंने भगवान् की शरण प्राप्त की है वे निश्चय ही सुखी हुए हैं तथा इसके विपरीत जो व्यक्ति संसार के सुखों से और धन-दौलत से सुख की आशा करते रहें हैं एवं भगवान् से विमुख रहे हैं, वे जन्म जन्मान्तर तक जीवन और मरण का दुःख सहते हैं तथा नाना प्रकार की वेदनाओं को सहते रहते हैं । बाल्यावस्था में वे परतन्त्र रहते हैं, युवावस्था में असह्य कार्य-भार से दबे रहते हैं और वृद्धावस्था में तो इन्द्रियों के अशक्त तथा शरीर के क्षीण हो जाने से अपने ही सम्बन्धियों के द्वारा अमानित होते रहते हैं तथा असह्य दुःख का अनुभव करते हुए जीवन को समाप्त करते हैं ।

इसीलिए महापुरुष कहते हैं कि जीवन में जैसी भी परिस्थिति सामने आए उसमें संतोष रखो तथा सदा अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करो ।

प्रश्न उठता है कि जीवन को सफल किस प्रकार बनाया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर बड़ी गंभीरता तथा बड़े विस्तृत रूप से दिया जा सकता है किन्तु मैं आपको संक्षेप में ही कुछ बताता हूँ ।

सर्वप्रथम तो जीवन की सफलता के विषय में विचार करते समय हमें यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिए कि हमारा जीवन अमर नहीं है, किन्तु आत्मा निश्चय रूप से अमर है । आत्मा अमर होने के कारण कर्म-बंधनों के फलस्वरूप नाना देहों की धारण करती तथा पुनः-पुनः जन्म-मरण के कष्टों को भोगती है । किन्तु अज्ञानी पुरुष आत्मा के अमरत्व पर विश्वास न

करके इस जीवन को ही अपना सब कुछ समझ लेते हैं तथा जीवन पर्यन्त अगणित मनोरथों का शेषन करते हुए कल अमुक कार्य, परसों अमुक और एक वर्ष अथवा दो वर्ष बाद अमुक काम करेंगे, इस प्रकार की स्कीमें बनाते रहते हैं। वे यह भूल जाते हैं—

आगाह अपनी मौत से कोई बचर नहीं।
सामान सौ बरस के पल की खबर नहीं॥

अर्थात् मनुष्य बरसों के प्रोग्राम बना लेता है पर स्वयं की मृत्यु का उसे कोई पता नहीं पड़ता। जिस समय काल सामने आकर खड़ा हो जाता है, वह एक क्षण का भी अवकाश दिये बिना उसके समस्त मनोरथों को समाप्त कर देता है।

इसलिए ऐसे अस्थायी और क्षणभंगुर जीवन को विषयभोगों में व्यतीत करना मनुष्य के लिए बुद्धिमानी की बात नहीं है। उसे चाहिए कि वह इस दुर्लभ जीवन का लाभ उठाए अर्थात् अपनी आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त करने का प्रयत्न करे तथा अनन्त व अक्षय सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करे।

अनन्त सुख कैसे प्राप्त हो ?

अनन्त सुख की प्राप्ति मनुष्यों को तभी हो सकती है जबकि वह आत्मा को अपने विशुद्ध स्वरूप की ओर ले जाय। जैसे-जैसे आत्मा अपने असली स्वरूप को प्राप्त करती जाएगी वैसे-वैसे उसका कल्याण होना संभव होता जाएगा। पर यह तभी होगा जबकि मनुष्य इन्द्रियों के सुखों से मुँह मोड़ने का प्रयत्न करेगा। इन्द्रियों के विषय हैं—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द। इनमें मनुष्य की आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

यह सही है कि इन्द्रियाँ अपना कार्य छोड़ नहीं सकती। कानों में शब्द पड़ेगा तो कान उसे श्रवण करेंगे ही। आँखों के सामने कोई वस्तु आएगी तो वह उसे देखेंगी ही अर्थात्—कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य करना बन्द नहीं कर सकती, अतः इन्द्रियों को जीतने का अर्थ यह नहीं है कि उन्हें अपने काम से रोक दिया जाय। आवश्यकता केवल इभी बात की है कि उनके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विषयों में आसक्ति न हो रोग और द्वेष न हो। मनोहर रूप देखकर, कर्णप्रिय शब्द सुनकर अथवा सुस्वाद रस का आस्वादन करके राग-भाव नहीं होना चाहिए तथा अप्रिय विषयों से घृणा या द्वेष का भाव जाग्रत नहीं होना चाहिये। इन दोनों प्रकार के अवसरों पर सम-भाव रखना सच्चे माधने में इन्द्रिय विषय है।

किन्तु इन्द्रिय विजय भी रुच्चे हृदय से होनी चाहिए। जो व्यक्ति इन विषयों का त्याग करे व यथार्थ में उन्हें त्यागे तभी उसमें लाभ है। आजकल ऐसे बनावटी महात्मा दिखाई देते हैं जो मस्तक पर जटाएँ बढ़ा लेते हैं, शरीर पर भस्म रमा लेते हैं, जल में घण्टों खड़े रहते हैं काँटों पर शयन करते हैं तथा अपने चारों ओर अग्नि जलाकर उसकी आतापना कर लेते हैं। इस प्रकार जाहिर रूप में तो शरीर को कष्ट देते हैं, कर्मन्द्रियों से उनका काम नहीं लेते, किन्तु मन और ज्ञानेन्द्रियों को वे वश में नहीं रख पाते, आशा और तृष्णा उनकी कम नहीं होती। ऐसे व्यक्तियों का जीवन वृथा ही जाता है। तप का ढोंग करने से कभी आत्मा का कल्याण नहीं होता।

गीता के तीसरे अध्याय में कहा भी है —

कर्मन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विभूदात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

जो मनुष्य कर्मन्द्रियों को वश में करके कुछ काम तो नहीं करता, किन्तु मन में इन्द्रियों के विषय का ध्यान करता है वह मनुष्य झूठा और पाखण्डी है।

तात्पर्य यही है कि जटा-जूट बढ़ाने से नेत्रों को लाल कर लेने से, भभूत मिलने से कौपीन धारण कर लेने से अथवा तिलक और छापे लगा लेने से ही कोई योगी नहीं बन जाता। योगी केवल मन से बना जा सकता है। रहीम के कथनानुसार —

तन को योगी रख करे मनको बिरला कोय ।

सहजे सब तिधि पाइये जो मन योगी होय ॥

अर्थात् - तन से नाना प्रकार की धर्म क्रियाओं का बहाना करने वाले तो अनेक व्यक्ति मिल जाते हैं किन्तु जो मन में धर्मात्मा और सच्चा योगी कहला सकता है ऐसे बिरले ही होते हैं और जो मन से योगी बन जाते हैं वे सहज ही सब प्रकार की दिव्य सिद्धियाँ हासिल कर लेते हैं। मुख्य बात है मन को वासनाहीन और निष्काम बनाने की। जब साधक के मन में किसी प्रकार की कामनाएँ नहीं रहतीं, उसके मन में शत्रुता-मित्रता, इर्ष्या और द्वेष का भावनाएँ लुप्त हो जाती है और वह संसार के समस्त प्राणियों को एक दृष्टि से देखता है तथा सभी को समान समझता है तो उसे परम-पद की प्राप्ति निश्चय ही होती है। किन्तु उसके लिये उसे महान त्याग करना पड़ता है। उन्हें कैसा बनना पड़ता है यह एक छप्पथ में बताया गया है—

कन्या अरु कोपीन-फटी पुनि पक्ष पुरानी ।
 बिना याचना भीक्ष, नींद मरघट मनमानी ॥
 रह जग सों निश्चित, घिरंजित ही मन आवे ।
 राखे चित को शान्त, कभी अनुचित नहीं आवे ।
 जो रहें लीन अस ब्रह्म में, सोवत अरु जागत घदा ।
 हैं राज तुच्छ तिहूं भुवन ऐसे पुरुषन को सदा ।

जो व्यक्ति सैकड़ों चिथड़ों से बनी हुई और ऊपर से फटी हुई कोपीन पहन लेता है और प्रफुल्लतापूर्वक वैसे ही गुदड़ी भी ओढ़ लेता है, बिना मणि मिल जाय तो खा लेता है और न मिले तो परब्रह्म परमात्मा का स्मरण करता हुआ चाहे जहाँ भले ही वह स्थान मरघट ही क्यों न हो निश्चिन्तता पूर्वक सो जाता है। जगत के द्वारा चाहे स्तुति की जाय अथवा निन्दा वे मानापमान से सर्वथा परे रहकर निश्चिन्तता पूर्वक अपना जीवन यापन करते हुए जिधर से इच्छा हो जाय उधर ही चल देते हैं।

ऐसे महापुरुष अपने हृदय को विषय बिकारों से पूर्णतया परे रखते हुए सदा समभाव में विचरण करते हैं तथा अपनी जिह्वा से किसी शत्रु को भी कटु-वचन नहीं कहते। सोते अथवा जागते हुए प्रत्येक पल परमात्मा के चिंतन में लीन रहते हैं। परमात्मा से उनकी इस प्रकार लीन लग जाती है कि उसके कारण उन्हें तीनों लोकों का राज्य भी तुच्छ भालूम पड़ता है। क्योंकि उन्हें किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की कामना नहीं होती।

ऐसे सच्चे योगी ही अपने मानव जीवन को सार्थक कर सकते हैं जो कि अन्दर और बाहर से सामान होते हैं। जैसी सरलता उनके बाह्य जीवन में होती है वैसे ही उनके चित्त में भी बनी रहती है अगर ऐसा न हो तो “त्रिष—रस भरे कनकघट” के समान ही उन्हें मना जा सकता है। आजकल हम प्रत्येक जगह देखते हैं कि बनावट का ही ओलवाला अधिक रहता है। पर उससे लाभ क्या? कुछ भी नहीं। हानि होती है। जैसे शीशियों पर लेब्रिल लगा हुआ है उत्तम दवाई के नाम का। किन्तु अन्दर वैसा असर न करने वाली दवा न हो तो वह क्या लाभ प्रदान करेगी सिवाय हानि के? इसलिये प्रत्येक मनुष्य को आडम्बर का त्याग करके अपने जीवन को अन्दर और बाहर से स्वच्छ स्फटिकमणि के समान बनाना चाहिये।

कल मैंने वृक्ष का उदाहरण देते हुए आपको बताया था कि जिस प्रकार उसकी बाल्यावस्था, फल फूलों से लदी हुई युवावस्था और पञ्जर के समान वृद्धावस्था आती है उसी प्रकार मानव जीवन की भी कहानी है। वृक्ष अपने

जीवन को जित प्रकार बिताता है तथा जब तक अपना अस्तित्व रखता है, औरों का भला ही करता है। उसके फल लोगों को स्वादिष्ट लगते हुए तृप्ति प्रदान करते हैं, फूल मधुर महक देते हैं तथा पत्ते भ्रं। नसीहत देने में पीछे नहीं रहते।

मुझे इस विषय पर एक सुन्दर दोहा याद आया है। वह इस प्रकार है—

आम फले पत्त पाय के, महुआ फले पत्त खोय ।
जो ताह का रस पिबे, पत्त कहाँ से होय ?

दोहा बड़ा मार्मिक है। कवि कहता है—आम के वृक्ष में प्रथम पत्ते आते हैं, फिर मंजरी और उसके पश्चात् फल। इस प्रकार उसके सुन्दर और अन्य प्राणियों को लाभ कर जीवन का प्रारम्भ पत्तों से होता है। पत्त से यहाँ 'पत' अर्थात् इज्जत शब्द लिया है। तो आम के वृक्ष की इज्जत प्रारम्भ से ही उसके पत्ते बढ़ाते हैं अगर वे न होते तो आम के वृक्ष की 'पत' रहना कठिन हो जाता।

ऐसा क्यों? इसके उत्तर में महुए के वृक्ष का उदाहरण दिया गया है। कहा है— महुए का भी एक वृक्ष होता है। उसमें छोटे-छोटे सफेद फल लगते हैं। किन्तु जब वे फल लगते हैं तो उस वृक्ष के समस्त पत्ते झड़ जाते हैं। पत्तों का झड़ना महुए के वृक्ष की 'पत' खोना प्रारम्भ कर देता है। क्योंकि पत्ते तो झड़ जाते हैं और फिर महुए की शराब बनती है जिसे पीकर मनुष्य शराबी कहलाता है तथा उस शराब के नशे में अनेकानेक असभ्यतापूर्ण कुकृत्य करते अपनी इज्जत या 'पत' खो देता है। स्पष्ट है कि जिस फल ने आने से पहले ही अपने पत्ते या 'पत' गँवा दी उसका रस पीकर व्यक्ति अपनी 'पत' कैसे रख सकता है? नशे में वह गालियाँ देना है, लोगों से झगड़ता है तथा पराई बहू बेटियों पर कुदृष्टि डालता है। यह सब 'पत' खले जाने के कारण ही होता है। इसीलिये महापुरुष कहते हैं—अपनी 'पत' रखो। पर वह कैसे रहे? तभी रह सकती है जबकि आप औरों की 'पत' रखो। आज संसार में अनेकानेक निर्धन और अपंग व्यक्ति हैं। आपके चाहिये कि तन, मन या धन से जैसे भी बने उनका रक्षण करो, उनकी सेवा करो और वह भी न बने तो उनके प्रति सहानुभूति की भावना तो रखो! आपके द्वार पर एक भिखमंगा खड़ा है तो आपका फर्ज है कि स्वयं सुस्वादु भोजन करते हों पर उसे एक ठण्डी या बासी रोटी दो! और वह भी नहीं देना चाहते तो कम से कम उसका तिरस्कार तो मत करो, उसे गालियाँ तो मत दो।

वृक्ष पर अनेक शाखाएँ होती हैं और वह कुछ नहीं करतीं तो कम से कम थके हुए अथवा क्लान्त व्यक्ति को शीतल छाया तो प्रदान करती हैं, उनके फूल औरों का अधिक भला नहीं कर सकते तो अपनी मधुर सुगन्ध से यात्रियों के दिमाग को ताजा तो करते हैं ।

मनुष्य का जीवन भी इसी प्रकार का होना चाहिये । अगर व्यक्ति चाहे तो अपने जीवन की खूशबू को केवल इस जन्म में नहीं, अनन्त काल तक भी बनाये रख सकता है । पर यह सम्भव कैसे हो ? केवल उत्तम कार्य करने से जीवन को धर्ममय एवं कर्णामय बनाए रखने से, अन्य आश्रयहीन प्राणियों को शरण देने से तथा संकटग्रस्त व्यक्तियों की रक्षा करने से । ऐसा करने पर ही मनुष्य का जीवन अनन्तकाल तक सुवासित रह सकता है तथा लोग उसके जीवन को अपना आदर्श बना सकते हैं ।

महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण को आज भी लोग क्यों याद करते हैं ? क्यों उनकी पूजा करते हैं ? इसीलिये कि उनका सम्पूर्ण जीवन अन्य प्राणियों का भला करने में व्यतीत हुआ । ऐसे व्यक्तियों का जीवन ही सार्थक माना जा सकता है जो स्वयं तो आत्म-स्वरूप की सच्ची पहचान करके आत्मा को बन्धन-मुक्त कर लें और संसार में अपने जीवन का सर्वोच्च आदर्श स्थापित कर जाएँ ।

मेरे आज के कथन का सार यही है कि हमें अपने इस दुर्लभ मानव-जीवन को सार्थक बनाया है और यह सार्थक तभी बन सकता है जबकि हम सांसारिक प्रलोभनों को जीत लें तथा अधिक से अधिक त्याग, नियम, तपस्या आदि के द्वारा अपने बंधे हुए कर्मों की निजंरा करें तथा तवीन कर्मों का बंध न होने दें । इसके लिये हमें प्रतिक्षण यह ध्यान रहना चाहिये कि—

भोगा भेघचितानमध्य-विलसत्सौदामिनीचंचला ।
 आयुर्वायुविघटिता भ्रपटली सौनाम्बुवद् भंगुरम् ।
 सोला यौवन लानसा तनुभृतामित्याकल्यद्भुतं ।
 योगे धैर्य-समाधि सिद्धिसुलभे बुद्धि बिदधच्च बुधाः ॥

अर्थात्—इस संसार के भोगविलास सघन बादलों में चमकने वाली विद्युत् की तरह चंचल हैं । मनुष्य की उम्र पवन से छिन्न-भिन्न हुए बादलों के सदृश क्षणस्थायी है, युवावस्था की उमंगें भी स्थिर नहीं हैं । इसलिये जानी तथा बुद्धिमान व्यक्तियों को परम धैर्य एवं लगन से अपने चित्त को एकाग्र करके उसे आत्म-साधना में लगाना चाहिये ।

वस्तुतः इस जगत में ज्ञानी और अज्ञानी जीवन में बड़ा अन्तर है। अज्ञानी की उम्र जाहे जितनी अधिक हो जाय, उससे उसे कुछ भी हासिल नहीं होता। मोह के वश में पड़ा हुआ वह कभी भी यह नहीं सोच पाता कि यह मानव जीवन बड़ी दुर्लभता से मिला है और अगर इस बार भी चूक गये तो फिर हाथ में आना कठिन है। महापुरुष इसीलिये बार-बार ऐसे व्यक्तियों को चेतावनी देते हैं।

कवि सुन्दरदासजी ने भी अज्ञानी व्यक्ति को ताड़ना देते हुए कहा है—

वेह सनेह न छांडत है नर,
जानत है यह फिर नहिं देहा ।
छीजत जात घटं दिन-ही-दिन,
दीसत है घट को नित छेहा ॥
काल अचानक आय गहे कर,
ठाइ गिराइ करे तन खेहा ।
सुन्दर जानि करो यह निहर्च,
एक निरंजन सूं कर नेहा ॥

कवि का कथन है—“अरे मूर्ख ! तू इस बालू के घर से निःशंक और मस्त होकर बैठा हुआ है। पर यह तो प्रतिपल छीजता और घटता जाता है। नित्य ही इसका क्षय होता चला जा रहा है। तू यह मत भूल कि किसी भी दिन काल अचानक आकर तुझे हाथ पकड़कर चल देगा और तेरी इस देह को मिट्टी में मिला देगा। इसलिये तू इस देह से, अपने स्त्री-पुत्रों से तथा दौलत से मोह मत रख तथा एकमात्र परमात्मा से प्रेम कर, तभी तेरा जीवन सार्थक बन सकेगा।

ज्ञानहीन व्यक्ति महापुरुषों की इन सब पूर्व चेतावनियों को भी भूल जाता है तथा जीवन के अन्त तक भी आसक्ति और ममत्व का त्याग नहीं करता।

मेरा घर ही स्वर्ग है

एक व्यक्ति जीवन भर अपने कुटुम्ब की सुख-सुविधा के लिये दौड़-धूप करता रहा और स्वयं कष्ट पाकर भी उसने अपने परिवार के व्यक्तियों को कष्ट नहीं होने दिया। किन्तु जब वह बूढ़ा हो गया तो उसके सभी पुत्र पौत्रादि ने उसकी ओर से मुंह फेर लिया।

बृद्ध बेचारा अपनी खाट पर पड़ा-पड़ा ज्यों-त्यों करके दिन काट रहा था। कोई भी उसकी बात नहीं पूछता था। एक दिन उसका छोटा पोता

आया और उसे मारने तथा गालियाँ देने लगा। बूढ़ा भी उससे बक-झक करता रहा।

कहते हैं। कि उसी समय नारद ऋषि उधर से आ निकले और वृद्ध की दुर्दशा होती देखकर उससे बोले—“भाई; इस प्रकार कष्ट से जीवन क्यों बिता रहे हो? तुम्हारा ही पाप तुम्हें मार रहा है। इसलिये या तो तुम वन में जाकर तपस्या करो अन्यथा मेरे साथ स्वर्ग चलो।”

नारदजी की बात सुनते ही बूढ़ा क्रोध से लाल-पीला हो गया और बोला—“महाराज! आप अपने रास्ते पर जाओ। मेरे बटे-पोते हैं, मुझे मारे चाहे गालियाँ दें। मेरे लिये यही स्वर्ग है। आपको इससे क्या मतलब है?”

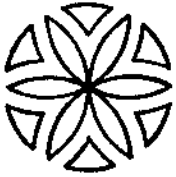
नारदजी उस अज्ञानी व्यक्ति की मोह-ममता देखकर दंग रह गए। और सोचने लगे—बुद्धिहीन व्यक्तियों की मोह-ममता बुढ़ापे में और भी बढ़ जाती है। ये हजारों कष्ट सहन कर लेंगे पर अ सक्ति को नहीं त्यागेंगे। यही कारण है कि इन्हें पुनः पुनः इस संसार में जन्म-मरण करते रहना पड़ता है।

वस्तुतः मोह-ममता और विषयासक्ति ही समस्त अनर्थों का मूल है। संसार में हम देखते हैं कि हाथी और मृग आदि पशुओं को एक-एक इन्द्रिय के विषय का शिकार होकर भी अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है तो फिर मनुष्य तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है तो फिर उसकी दुर्दशा का अनुमान कैसे लगाया जा सकता है?

इसीलिये ज्ञानी पुरुष विषय भोगों से विमुख हो जाने हैं। वे भली-भाँति समझ लेते हैं कि संसार की ये भोग सामग्रियाँ उनके लिये भयंकर विहम्बना का कारण बन जायेंगी। वे अपने चित्त की धारा को विषय लालसा से निर्मूल कर देते हैं तथा निराकुल होकर आत्म-चिन्तन एवं आत्म-साधना में लग जाते हैं। आत्मा की अनन्त शक्ति पर पूर्ण विश्वास रखते हैं तथा उसके बल पर दान, शील, तप तथा भाव की आराधना करते हुये उससे भी आगे बढ़कर संयमी जीवन को अपनाते हैं तथा घोर परिषर्हों को भी सम-भाव पूर्वक सहकर आत्मिक दृढ़ता का अपूर्व उदाहरण संसार के समक्ष रखते हुए समस्त कर्मबंधनों से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं।

यही मानव जीवन को सार्थक करना कहलाता है। जो भव्य प्राणी अपने इस अमूल्य जीवन को सच्चे हृदय से सफल बनाना चाहते हैं, उन्हें निरन्तर अपना आत्म बल बढ़ाना चाहिये। आत्म बल के बढ़ने से इन्द्रियों की प्रबलता स्वयं ही कम होगी तथा विषयासक्ति घटती चली जायेगी। इस सबका परिणाम यह होगा कि आत्मा का उत्थान होगा तथा मनुष्य का जीवन सफलता के राज-पथ पर अग्रसर होता चला जाएगा।





धर्म प्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्याय की चौथी गाथा में कहा गया है—

दुल्लहे ललु माणुसे पथे, चिरकालेण वि सब्बप णिणं ।
गाढाय विवाग कम्भुणो, समयं गोयस ! मा पमायए ॥

अर्थात् - हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो । प्रमाद क्यों नहीं करना ? इसके उत्तर में कहा है— मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है । अन्य-अन्य शरीर तो फिर भी मिल सकते हैं किन्तु मानव शरीर मिलना और मानवों में भी कार्य क्षेत्र मिलना, उच्च कुल में जन्म लेना तथा पाँचों इन्द्रियों का परिपूर्ण होना अत्यन्त कठिन है । पुण्य के अभाव में ये सब बातें मिलनी महा मुषिकल हैं ।

हमारे शास्त्र बताते हैं— एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय में जन्म लेने के लिए अनन्त पुण्य की आवश्यकता होती है और द्वीन्द्रिय से भी त्रि-इन्द्रिय में जन्म लेने के लिये तो उससे भी अनेक गुने पुण्य चाहिए । इसी प्रकार तीन से चार और चार से पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक पुण्य कर्मों का उपार्जन करना अनिवार्य होता है । तात्पर्य यही है कि मानव का यह पंचेन्द्रिय शरीर पाने के लिए अनन्तानन्त पुण्यवानी हो तभी इसे पाना सम्भव हो सकता है ।

इस विषय में कहाँ तक कहा जाय ? आप स्वयं ही गम्भीरतापूर्वक समझने का प्रयास करे तभी भली-भाँति समझा जा सकता है कि पंचेन्द्रिय बन गये पर फिर भी अगर अनर्थ क्षेत्र में पैदा हुए, जहाँ पुण्य और पाप की पहचान ही न हो सके, नीति और अनिति के अन्तर समझने का अवसर ही न आये तो उस पंचेन्द्रिय शरीर को प्राप्त करने का क्या लाभ उठाया जा सकता है ?

इसके अलावा आर्य देश में जन्म ले लिया, उच्च कुल में भी स्थान प्राप्त कर लिया किन्तु सन्संगति नहीं मिली और उत्तम संस्कार प्राप्त नहीं हो सके तो फिर वह क्षेत्र और कुल भी क्या काम आया ? साथ ही यह सब मिल

गया और शरीर अपंग हुआ अथवा दीर्घ आयुष्य नहीं मिला तब भी मिला हुआ मानव-जन्म व्यर्थ चला जाता है। अनेक शिशु माता की कुक्षि से बाहर आते ही इस संसार को छोड़ जाते हैं अनेक शैशवावस्था को पार भी नहीं कर पाते और अनेक शैशवावस्था को पार कर भी लेते हैं तो युवावस्था प्राप्त करते न करते ही काल के ग्रास बन जाते हैं।

जीवन की क्षणभंगुरता के विषय में कबीर जी ने कहा भी है :—

पानी केरो बुदबुदो, अस मानव की जात ।
देखत ही छिप जाएगा, ज्यों तारा परभात ॥
कबिरा पानी हीज का, देखत गया बिलाय ।
ऐसे जियरा जाएगा, दिन दस ढोली लाय ॥

यह मनुष्य-जीवन पानी के बुलबुले के समान है। जिस प्रकार पानी का बुलबुला उठता है और क्षण मात्र में विलीन हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी क्षण मात्र में समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में प्रभात का तारा जिस प्रकार देखते-देखते ही गायब हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य देह से आत्मा चारों ओर खड़ी हुई भीड़ को देखते-देखते ही अदृश्य रूप से पल मात्र में ही किसी अज्ञात योनि की ओर प्रयाण कर जाता है।

कबीर जी ने आगे भी कहा है—जिस प्रकार पानी से भरे हुए घड़े से थोड़ा-थोड़ा करते हुए कुछ ही दिनों में पानी समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी दस-पाँच दिन की मियाद समाप्त होते ही देह से निवृत्त जायेगा।

इसीलिए भगवान ने बार-बार कहा है—‘समय मात्र का भी प्रमाद मत करो, तथा जीवन के प्रत्येक पल को सार्थक बनाने का प्रयत्न करो। जहाँ तक भी बन सके सन्तों की संगति करो, शास्त्र श्रवण करो तथा उनमें दो हुई शिक्षा को जीवन में श्रद्धापूर्वक उतारते हुए अपने चरित्र को समुज्ज्वल बनाओ।’

अगर ऐसा नहीं किया, अर्थात् जिन वचनों पर श्रद्धा नहीं रखी तथा उन्हें सम्यक् प्रकार से आचरण में न उतार कर उनके अनुरूप क्रिया न की तो वह ज्ञान कोई भी शुभ फल प्रदान नहीं कर सकेगा तथा उससे जीवन के उद्देश्य की सिद्धि हासिल नहीं हो सकेगी। वह ज्ञान उसी प्रकार साबित होगा जैसे चिकने घड़े पर पानी डाला जाय तो वह योही बह जाता है, अथवा राजस्थानी कहावत में—‘रीते चूल्हे फूँक’ यानी चूल्हे में आग तो है नहीं पर बार-बार उसमें फूँक लगाई जाय तो क्या होगा? क्या आग जलेगी वहाँ पर? नहीं! इसी प्रकार श्रद्धा और ज्ञान होने पर भी अगर उनके अनुसार क्रियाएँ की जाएँ तो कर्मों का नाश हो सकेगा? या नवीन कर्मों के बन्धन होने से हम बच सकेंगे क्या? नहीं।

शास्त्र की गाथा में आगे कहा गया है—कर्मों का विपाक बड़ा गाढ़ा होता है अर्थात् उन्हें भुगतना ही पड़ता है उन्हें भुगते बिना किसी भी प्रकार छुटकारा नहीं मिल सकता ।

विक्रम चरित्र में कहा गया है ;—

“अदृश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।”

इस आत्मा ने जैसे भी शुभ अथवा अशुभ कर्म किये हैं, उन्हीं के अनुसार इस आत्मा को शुभ अथवा अशुभ फल अवश्य ही भोगना पड़ता है ।

गजसुकुमाल मुनि अपने निन्द्यानवे लाख भव से पहले स्त्री की योनि में थे । उनके एक सोत थी और वह मर चुकी थी । सोत का एक लड़का था जिसे वह फूटी आँखों से भी नहीं देख सकती थी । इसीलिए उस लड़के की सार-सम्हाल में वह ध्यान नहीं देती थी ।

एक बार उस लड़के के मस्तक में असंख्य फोड़े-फुँसी हो गये । किन्तु उनकी यथाविधि चिकित्सा न होने के कारण बच्चा बहुत तकलीफ पाने लगा । यह देखकर पास-पड़ोस के व्यक्तियों ने उस स्त्री की बड़ी भर्त्सना की तथा सोत-पुत्र की सार-सम्हाल न करने के लिए उलाहने दिये ।

स्त्री यह सब सुनकर क्रोध से आग-बबूला हो गई तथा लड़के के प्रति ईर्ष्या से भर उठी । गुस्से ही गुस्से में उसने एक बहुत मोटी रोटी बनाई और तवे पर डाल दी । जब रोटी अधसिकी और आग के समान खूब गरम हो गई तो उसने तवे पर से उठाकर उसे अपनी सोत के उस शिशु के मस्तक पर रख दी । नन्हा बच्चा दर्द के मारे तिलमिला उठा और कुछ देर में ही छट-पटाकर उसने प्राण त्याग कर दिये ।

उस निर्दयी स्त्री का जीव ही निन्द्यानवे लाख भव के पश्चात् गजसुकुमाल के रूप में इस पृथ्वी पर आया और उस बालक का जीव सोमिल ब्राह्मण के रूप में, जिसने अपने मस्तक पर गरमागरम रोटी रखने का बदला लेने के लिए गजसुकुमाल के मस्तक पर अंगारे रखे ।

कहने का अभिप्राय यही है कि निकाचित कर्म असंख्य भवों के बीत जाने पर भी बिना भोगे नहीं छूटते । उन्हें अवश्यमेव भुगतना पड़ता है ।

इसीलिए प्रत्येक व्यक्त को कर्म बन्धनों का भय रखते हुए ऐसी क्रियाओं से बचने का प्रयत्न करना चाहिये । अन्यथा उनसे पीछा छुड़ाना कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता है ।

महर्षि वेदव्यास जी ने कर्मों की विचित्रता बड़े सुन्दर ढंग से एक श्लोक

में समझाई है कहा है :—

मुनीध्रमपि धावन्तं, विधानमनु धावति ।
 शक्ते सहशयानेन, येन न यथा कृतम् ॥
 उपतिष्ठति तिष्ठन्तं, गच्छन्तमनुगच्छति ।
 करोति कुर्वन्तः कर्मच्छायेवानुविधीयते ॥

अर्थात्—जिस मनुष्य ने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है । यदि कर्ता शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो कर्म भी उतनी ही तेजी के साथ उसके पीछे जाता है । जब वह सोता है तो उसका कर्म फल भी उसके साथ ही सो जाता है । जब वह खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है । इतना ही नहीं, कोई भी क्रिया करते समय कर्म कर्ता का साथ नहीं छोड़ता सदा छाया के समान पीछे लगा रहता है ।

वस्तुतः कर्मों की शक्ति बड़ी जबरदस्त होती है और वहाँ व्यक्ति उनसे भाग पाता है जो प्रतिपल सजग रहता हुआ एक समय मात्र का भी विलम्ब किये बिना बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा और भविष्य में कर्मों का बन्धन न हो यह ध्यान में रखते हुए इस संसार में जल में कमलवत रहता है ।

जब मनुष्य के कर्म उसका पीछा नहीं छोड़ते तो वह जहाँ भी जाय वही स्थिति उसके सामने आती है ।

भाग्य पर किसी का जोर नहीं है

एक व्यक्ति बड़ा गरीब था किन्तु उसकी बहन सौभाग्य से किसी बड़े घराने में ब्याह दी गई थी । बेचारा भाई किसी तरह रूखा-सूखा खाकर अपने दिन व्यतीत करता था । कभी-कभी तो उसे भर पेट खाना भी मयस्सर नहीं हो पाता था ।

एक बार भाई ने सोचा—“मेरी बहन श्रीमन्त के यहाँ है, तो चलूँ कुछ दिन अपनी बहन के यहाँ चल कर रहूँ, कम से कम कुछ दिन तो भर पेट ओर ओर अच्छा खाने को मिलेगा ।”

यह विचार कर भाई अपनी बहन के घर की ओर चल दिया । बहन अपने भाई को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसका हार्दिक स्नेह से स्वागत किया । पर जब भोजन का वक्त हुआ तो बहन ने सोचा—“मेरा भाई नित्य मक्के की रोटी और कढ़ी खाता है अतः उसकी पसन्द का ही खाना बनाऊँ । फल-स्वरूप उसने मक्का की रोटी और कढ़ी बनाई ।”

जब भाई खाने बैठा तो बड़े उत्साह से उसके अच्छे-अच्छे पकवानों की आशा की कि बहिन अब परोसकर लाती ही होगी । पर जब उसकी बहन एक थाली में कढ़ी और मक्का की रोटी लेकर आई और थाली भाई के सामने रख दी । भाई ने वही खाना जो घर पर खाता था सामने देखकर अपना

मस्तक पीट लिया और सोचने लगा मेरी तकदीर ही जब ऐसी है और इममें यही खाना लिखा है तो मैं कहीं भी क्यों न चला जाऊँ मिलेगा तो यही। ऐसा विचार कर वह पुनः अपने घर लौट आया और सन्तोष पूर्वक दिन गुजारने लगा।

कहने का अभिप्राय यही है कि भाग्य अथवा कर्म सदा व्यक्ति के साथ रहते हैं। ये प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते किन्तु अनन्त शक्ति सम्पन्न जीवात्मा को भी ये पछड़ देते हैं, अपना भुगतान किये बिना नहीं छोड़ते। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र महान शक्तिशाली होते हैं। समग्र संसार को जीवन प्रदान करने की शक्ति रखते हैं किन्तु राहु और केतु उन्हें भी अपने शिकंजे में दबोच लेते हैं तथा उनके तेज और प्रकाश को रोक देते हैं। इसी प्रकार आत्मा के अनन्त शक्तिशाली होते हुए भी कर्म उसकी समस्त शक्ति पर पानी फेरते हुए उसे असहाय बना देते हैं।

इसीलिए भगवान महावीर स्वामी का फरमान है कि कर्मों का विपाक बड़ा गाढ़ा होता है अतः क्षण मात्र भी प्रमाद किये बिना उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करो। क्योंकि जीवन तो थोड़ा है और कर्म रूपी मेरू पर्वत को पार करके जीवात्मा को अपने लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न करना है।

किसी कवि ने भी कहा है—

समय है कम और सफर है लंबा,

दूर है मंजिल तेरी !

कितने मार्मिक शब्द हैं ? कहा गया है—अरे जीव ! तेरा यह मानव-जन्म रूपी समय तो बहुत ही थोड़ा है और मुक्ति-रूपी मंजिल बहुत दूर है। अतः स्वाभाविक ही है कि अविराम गति से और बिना समय नष्ट किये तू उस ओर बढ़ता चल। अन्यथा प्रकाश होते ही तुझे मार्ग सुझाई नहीं देगा और परिणामस्वरूप न जाने कितने समय तक इधर-उधर भटकना पड़ेगा।

हमारे शास्त्रों में कहा गया है—कोई जीव अगर विग्रह-गति में पड़ जाय तो उसका छुटकारा होना कठिन हो जाता है। विग्रह-गति किसे कहेंगे ? इसका अर्थ है जाना तो था सीधा उधर और चल दिया दूसरी ओर। विग्रह-गति में मंजिल दूर हो जाती है क्योंकि भटकना पड़ना है।

इस मंजिल में कोई अपने साथ पुण्य लाता है और कोई पाप। पुण्यवान को सुख प्राप्त होता है और पुण्यहीन को दुःख। सुख और दुःख, दोनों ही जाल हैं जिनमें उलझकर प्राण आत्म-साधना का ख्याल नहीं रख पाता। पर ऐसे कब तक काम चलेगा ? अनन्तकाल भटकते ही गए और पुनः इसी चक्कर में पड़ गये तो फिर अनन्तकाल ऐसे ही भटकना होगा। अतः महापुरुष बार-बार

कहते हैं—‘जीवात्मा अब तो सम्हल ! जीवन बीत गया सो बीत गया, पर अब जो बचा है उसे आत्म-उत्थान में लगा ।’

बुद्धिमान वही है जो बीते हुए की परवाह न करके बचे हुए की सम्हाल करे। कुएं में सौ हाथ रस्सी चली जाने पर भी अगर अंगुल भी बची रहती है तो मानव उसके द्वारा अपने लोटे को भरकर खींच लाता है। एक कहावत भी है—

‘गई सो गई अब राख रही को’

—जो उम्र बीत गई, वह तो चली ही गई, उसके लिये दुःख या पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नहीं है, आवश्यकता केवल यही है कि बची हुई का सदुपयोग किया जाय। मराठी भाषा में भी कहा गया है—

“गेली ती गंगा, आणि राहिले ते तीर्थ ।”

अर्थात्—गई सो गंगा और रहा सो तीर्थ ।

वही बात है कि जितना आयुष्य बीत गया उसे गंगा के समान प्रवाहित हुआ समझो और जो बचा है उसे तीर्थ मानकर उसकी आराधना करके ही जीवन को सफल बनाओ।

अनन्तकाल भी जब आत्मा को नानाप्रकार की वेदना भोगते हुए तथा भिन्न-भिन्न योनियों में भटकते हुए बीत गया तो उसकी तुलना में मनुष्य जन्म है ही कितना ? अगर सौ वर्ष की भी आयु मान ली जाय तो उनमें से पचस वर्ष तो रात्रि को सोने में व्यतीत हो जाते हैं। बाकी रहे पचास; जिनमें से साढ़े बारह वर्ष बचपन होने के कारण खेलने-कूदने में और अन्त के साढ़े बारह वर्ष वृद्धावस्था की आशक्ति के निकल जाते हैं। अब रहे केवल पच्चीस वर्ष उनमें भी आपको चैन कहाँ है ? कभी बीमारी आ गई, वह नहीं आई तो माता-पिता का वियोग हो गया। धन नहीं हुआ तो दरिद्रता से जूझना पड़ा। पत्नी, सन्तान और परिवार का पालन-पोषण करना पड़ा। इसी प्रकार की सैकड़ों उलझनों की जाल आपके सामने रहती है और उसी में फड़फड़ाते हुए यह आत्मारूपी पखेरू एक दिन उड़ जाता है।

अभिप्राय यही है कि मानव जीवन अत्यन्त थोड़े समय का है और आत्मा के लिए सफर बहुत लम्बा है। इसी सफर के बीच उसे मानव पर्याय-रूपी अल्प समय मित्रा है तो बिना समय नष्ट किये उसे अपनी मोक्ष-रूपी मंजिल पर पहुँचने का प्रयत्न करना है।

तो प्रश्न अब यह उठता है कि मुक्ति-रूप सिद्धि प्राप्त करने के लिये क्या प्रयत्न किया जाय ? अथवा परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग कौन सा है ? इस प्रश्न का उत्तर बड़ा गम्भीर है। आज के युग में धर्म को समझना बड़ा

फठिन हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सम्प्रदाय या अपने-अपने क्रिया-काण्ड में ही धर्म मानते हैं। किन्तु यह सब कितना गलत है यह बात एक कवि ने अपने शब्दों में बड़े ही सुन्दर तरीके से कही है। वह इस प्रकार है—

आत्मभेद बिन भरें भटकते, सब घोखे की टाटी में ।
 कोई धातु में ईश्वर मानत, कोई पत्थर माटी में ॥
 वृक्ष में कोई, जल में कोई, कोई जंगल और घाटी में ।
 कोई तुलसी, रुद्राक्ष में कोई, कोई मुद्रा और लाठी में ॥
 भगत कबीर, कहे कोई नानक, कोई शंकर परिपाटी में ।
 कोई निम्बार्क, रामानुजी कोई, कोई बल्लभ परिपाटी में ।
 कोई बाबू कोई गरीब दासी, कोई गेरू रंग की ठाटी में ॥
 कह 'आजाद' भेष जो धारे, जले नरक की भाटी में ॥

इस प्रकार आत्मा के भेद को समझ बिना व्यक्ति भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न भिन्न स्थानों में और भिन्न-भिन्न धर्म-प्रवर्तकों की परिपाटियों में ईश्वर को खोजते फिरते हैं तथा नाना प्रकार के क्रियाकाण्डों को करने में तथा तुलसी की माला, रुद्राक्ष आदि धारण करने में धर्म कर लेने की इतिश्री मानते हैं। पर वे कितनी भूल में रहते हैं ?

भगवान महावीर से उनके शिष्य ने एक बार पूछा—भगवन् ! धर्म का स्थान कहाँ है ? अर्थात्—धर्म कहाँ पर रहता है ?

भगवान का संक्षिप्त उत्तर था—

“उज्जुभूयस्स चिट्ठइ धम्मं ।”

अर्थात्—“शुद्ध हृदय में धर्म रहता है।” जिस व्यक्ति का हृदय शुद्ध या सरल है, धर्म को केवल वहीं समझना चाहिये। जिसके मन में विषय, कषाय, राग, द्वेष तथा मोह आदि का प्रबल वेग रहना है वहाँ धर्म का अस्तित्व ढूँढ़े नहीं मिलता, चाहे वह कैसे भी भेष क्यों न धारण करले अथवा मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुह्यद्वारा, स्थानक या उपासने में जाकर पूजा-पाठ, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि नाना प्रकार की क्रियाएँ दिन-रात क्यों न करता रहे। सच्चा धर्म वही है, जिसके द्वारा मानव की आत्मा में सत्यता, व्यापकता, निर्मलता एवं उदारता आ सके।

धर्म संसार के समस्त प्रकारों के संतापों का शमन करने के लिए होता है तथा प्रत्येक प्रकार की अशांति को दूर करके शांति की स्थापना करना चाहता है। किन्तु जहाँ धर्म को लेकर मतभेद हो जाता है, इतना ही नहीं, रक्तपात तक की नौबत आ जाती है तो संसार के सामने धर्म विकृतरूप में सामने आता है।

जैन धर्म ने इसीलिये स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। स्याद्वाद सिद्धान्त विश्व के समस्त धर्मों सम्प्रदायों, मतों एवं दर्शनों का समन्वय करता है। यह बताता है कि जगत के सभी धर्म और दर्शन किसी अपेक्षा से सत्य के ही अंश हैं। किन्तु जब लोग उन प्रत्येक अंशों को एक दूसरे से न मिलाकर एक-एक अंश को ही पकड़कर बैठ जाते हैं तथा सत्य होते हुए भी अन्य अंशों को गलत साबित करते हैं, तो वह धर्म उनके लिये संसार पार कराने वाली नौका न बनकर मझधार में डुबाने का कारण बन जाता है। प्रत्येक अन्य धर्म को मिथ्या कहकर अस्वीकृत करने से मनुष्य मिथ्यावादी तथा अन्धविश्वासी बन जाता है। इन दोषों का निवारण करते हुए स्याद्वाद सिद्धान्त मानव को विभिन्न धर्मों का समन्वय करने की शिक्षा देता है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा भी है—

उदधाधिब सभसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टवः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविमक्तासु सरिस्त्विबोदधिः ॥

अर्थात् - हे नाथ ! जिस प्रकार समस्त नदियाँ सागर में पहुँचकर उसमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार विश्व के समस्त दर्शन आपके शासन में मिल जाते हैं तथा जिस प्रकार भिन्न भिन्न दर्शनों में आप दिखाई नहीं देते उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों में समुद्र दिखाई नहीं देता। जैसे समस्त नदियों का आश्रय समुद्र है, वैसे ही समस्त दर्शनों के लिये आप आश्रय स्थल हैं।

एक उर्दू भाषा के कवि ने भी यही बात कही है—

शेख काबां से गया बां तक ब्राह्मण देर से ।
एक थी दोनों की मंजिल फेर था कुछ राह का ॥

कितनी सुन्दर और सत्य बात है ? कि काबा से अगर मुसलमान जन्नत में गया तो ब्राह्मण मन्दिर से शिवपुर चला गया। फर्क क्या पड़ा ? रास्ते का फेर ही तो था।

इसलिए बन्धुओ ? अगर हमें अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त करना है, तो दूसरों के अवगुण न देखकर अपने अवगुण ही देखना चाहिये तथा दूसरों की निन्दा न करके अपने ही दोषों की आलोचना करनी चाहिए। ऐसा करने पर ही हमें आत्म-स्वरूप का ज्ञान हो सकता है तथा हम मुक्ति के मार्ग पर बढ़ सकते हैं।

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने भी कहा है—

अपने अवगुण की जो निन्दा करते हैं ।
पर परनिन्दा से सदा काल डरते हैं ॥

गुणवानों से सद्गुण का गाते गाना ।
कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥

वस्तुतः ऐसे व्यक्ति ही कर्मों की निर्जरा करके मुक्ति-लाभ करते हैं । अत-
एव बन्धुजो ! हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हमारा जीवन अल्प है
और सफर लम्बा है । इस थोड़े से काल में ही अगर हमने पूर्वकृत कर्मों की
निर्जरा करके पुण्य कर्मों का भाता साथ में न लिया तो मंजिल तक पहुँचना
कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाएगा । इस संसार की छोटी-छोटी मात्राओं में
तो हम रुपया-पैसा, भोजन सामग्री तथा अनेक प्रकार की अन्य वस्तुएँ लेकर
रवाना होते हैं । तो फिर मोक्ष जैसी लम्बी यात्रा में ही अगर धर्म एवं पुण्य-
रूपी सामान साथ में लेकर न चले तो मंजिल तक कैसे पहुँच सकेंगे ? ★



धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्यायन की छब्बीसवीं गाथा में भगवान् महावीर ने फरमाया है—

परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सव्यबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥

अर्थात्—हे गौतम ! तेरा शरीर सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है । तेरे बाल श्वेत हो गए हैं और सभी बल क्षीण होता जाता है, अतः अब समय-मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

बन्धुओ ! मैं पहले भी आपको बता चुका हूँ कि भगवान का उपदेश केवल गौतम स्वामी के लिये ही नहीं था अपितु उस समय भी मनुष्य मात्र के लिए था आज और आज भी सबके लिए है ।

वास्तव में ही वृद्धावस्था जीवन की अन्य सब अवस्थाओं से निकृष्ट या दयनीय है । इस अवस्था में समस्त इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं और वे अपने अपने कार्य में अयोग्य हो जाती हैं ।

श्रोत्रेन्द्रिय जो कि अपने समय में क्षीण से क्षीण आवाज को भी ग्रहण कर लेती है, वृद्धावस्था में समीप आकर जोर-जोर से चीखने पर भी पूरे शब्द ग्रहण नहीं कर पाती । एक छोटा सा उदाहरण है—

एक बहरा और वृद्ध आदमी एक गाँव से दूसरे गाँव में जा रहा था । साथ में वह अपनी गाड़ी में बैगन भरकर ले जा रहा था ।

वह गाँव से थोड़ी ही दूर गया था कि उसका परिचित दूसरा मित्र मिल गया । उसने पूछा —“दादा ! कहाँ जा रहे हो ?”

वृद्ध बहरा तो था ही दोस्त की बात सुन नहीं पाया । बोला—गाड़ी में बैगन भरकर ले जा रहा हूँ ।”

भाग्य से आगन्तुक भी बहरा था। उसने समझा मेरी बात का सही जवाब दिया ही होगा अतः उसने दूसरा प्रश्न पूछा—“बाल बच्चे सब ठीक हैं ?”

बहरे ने आराम से उत्तर दिया—“घर जाकर मुरता बनाऊँगा कई दिन से इच्छा हो रही है।”

इसके पश्चात् दोनों वृद्ध अपने-अपने रास्ते पर चल दिये।

अभिप्राय कहने का यह है कि वृद्धावस्था ऐसी ही दुःखदायी होती है। किन्तु जो समझदार व्यक्ति होते हैं वे अपनी वृद्धावस्था और बहरेपन का भी सदुपयोग कर लेते हैं। पर ऐसा वे ही कर सकते हैं जो धर्म के प्रति तथा जिनवाणी के प्रति प्रगाढ़ विश्वास रखते हैं। एक उदाहरण से यह बात भी आपकी समझ में आ जाएगी।

बहरेपन का भी सदुपयोग

एक वृद्ध जो कि बहरा था प्रतिदिन एक महात्मा का प्रवचन सुनने जाया करता था। उसके कान में बड़ी कठिनाई से कोई शब्द ही प्रवेश कर पाता था जो कि जोर से बोला जाता था।

महात्मा जी प्रतिदिन उस वृद्ध को बड़े उत्साहपूर्वक सभा में बैठा हुआ देखते थे। वे जानते थे कि वृद्ध को सुनाई नहीं पड़ता। अतः एक दिन उन्होंने इशारे से वृद्ध को अपने पास बुलाया और खूब जोर से पूछा—“आपको प्रवचन के शब्द सुनाई पड़ते हैं क्या ?”

वृद्ध ने सहज भाव से उत्तर दिया—“नहीं।”

महात्मा ने दुसरा प्रश्न उसी प्रकार से पूछा—“फिर आप प्रतिदिन प्रवचन सुनने के लिए यहाँ आकर क्यों बैठते हैं ?”

महात्मा जी के प्रश्न के जवाब में उस धर्म-प्रिय व्यक्ति ने कितना सुन्दर उत्तर दिया ? कहा—“महात्मन् ! इस स्थान पर शास्त्र का वाचन होता है तथा जिनवाणी की ध्वनि श्रुजती रहती है। इसीलिए किसी अन्य स्थान पर बैठने की अपेक्षा मुझे यहाँ बैठने से अधिक शांति मिलती है।”

“दूसरा कारण यहाँ बैठने का यह है कि शास्त्रों में कहा जाता है—“महाजनों येन गतः सः पन्थाः।” अर्थात्—घर के बड़े व्यक्ति जैसा करते हैं, उनकी देखा-देखी परिवार के अन्य व्यक्ति भी वैसे ही करने लगते हैं। यही कारण है कि मेरे यहाँ आने से मेरी पत्नी पुत्र-पुत्रियाँ आदि सभी प्रतिदिन यहाँ आकर भगवान की वाणी श्रवण करते हैं। अगर मैं यहाँ आना छोड़ दूँ तो वे भी नहीं आएँगे। मेरे प्रतिदिन आने के कारण उनके हृदय में भी

भगवतकथा के प्रति श्रद्धा और रुचि बनी रहती है तथा कुछ न कुछ शिक्षा लेकर ही वे लौटते हैं और उससे परिवार का वातावरण शांतिमय बना रहता है।”

मेरे यहाँ आने का तीसरा कारण और भी है। वह यह कि—भगवान के वचन मैं सुन नहीं पाता फिर भी उनके स्पर्श से मेरे अंग तो पवित्र होते ही हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सर्प का विष मंत्रों से उतारा जाता है। उन मंत्रों को सर्प के द्वारा काटा हुआ व्यक्ति समझता नहीं फिर भी उनसे शरीर में व्याप्त हुआ विष उतर आता है। फिर आप ही बताइये क्या मेरा यहाँ प्रतिदिन आना कम लाभदायक है ?

महात्मा जी बहरे किन्तु उस ज्ञानवान एवं बुद्धिमान व्यक्ति की बात सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुए और मन ही मन उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

आशय कहने का यही है कि वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ इसी प्रकार क्षीण हो जाती हैं, किन्तु जो व्यक्ति ज्ञानी और समझदार होते हैं वे अपनी क्षीण-इन्द्रियों का भी उचित उपयोग करते हैं, जिस प्रकार अभी-अभी बताए हुए उस बहरे श्रोता का उदाहरण मैंने आपके सम्मुख रखा है।

वृद्धावस्था में न घ्राणेन्द्रिय बराबर काम कर पाती है और न चक्षु-इन्द्रिय ही। आज के समय में तो हम छोटे-छोटे बालकों की आँखों पर भी चश्मा चढ़ा हुआ देखते हैं फिर बुढ़ापे में तो पूछना ही क्या है। न उत्तम ग्रन्थों का पठनपाठन ही कर सकते हैं और न शास्त्रों का स्वाध्याय ही हो सकता है। जवानी में तो जिह्वा इन्द्रिय चटखारे ले लेकर प्रत्येक वस्तु का स्वाद लेती है, वही वृद्धावस्था में परेशानी हो जाती है क्योंकि मुँह में दाँत नहीं रहते और इसलिये वस्तु बिना ठीक से चबाये ही निगलनी पड़ती है। अधकचरी निगलने से किसी वस्तु का बराबर स्वाद नहीं आता।

बुढ़ापे में शरीर की समस्त इन्द्रियों के क्षीण होने पर भी वे कुछ न कुछ कार्य तो करती ही हैं। किन्तु दाँत तो बिलकुल झड़ जाते हैं। इनके झड़ने की बात को लेकर दार्शनिक कन्फ्यूशियस ने अपने शिष्यों को बड़ी सुन्दर शिक्षा दी है; उनके कई शिष्य थे।

जब कन्फ्यूशियस वृद्ध हुये तो उनके मुँह में एक भी दाँत नहीं रहा एक दिन शिक्षण देते समय उन्होंने अपने शिष्यों के सामने अपना मुँह बाया और पूछा—

“मेरे मुँह में क्या है ?”

‘आपके मुँह में तो गुरुदेव कुछ भी नहीं है।’ शिष्यों ने उत्तर दिया।

“मेरे मुँह में दाँत हैं ?” पुनः प्रश्न हुआ।

“नहीं।”

“क्या तुम लोग बता सकते हो कि जीभ तो कोमल होते हुये भी मुँह में स्थित है और दाँत इतने कड़े होने पर भी क्यों झड़ गये ?”

हमारी समझ में तो नहीं आता गुरुदेव ! यह बात आप ही स्पष्ट कीजिए।”

कन्ययूशियस ने कहा - “देखो, इसका कारण समझना कठिन नहीं है। जवान अपनी कोमलता के कारण ही टिकी रहती है तथा दाँत अपनी कठोरता के कारण झड़ जाते हैं। अगर तुम लोगों को भी अपना जीवन सुन्दर बनाना है तो अपने स्वभाव में मृदुता रखो। कठोरता और कर्कशता जीवन को असुन्दर तो बनाती है, कभी-कभी प्राण-घात का कारण भी बन जाती हैं। स्वभाव की मधुरता हृदय में विनय गुण को विकसित करती है और विनय के द्वारा अनेकानेक गुणों का जीवन में अविर्भाव होता है।”

तो मैं आपको बता तो यह रहा था कि भगवान ने कहा है—इन्द्रियाँ निरंतर क्षीणावस्था को प्राप्त होती जा रही हैं अतः समय-मात्र का भी प्रमाद मत करो। मृत्यु तो बालक के जन्मते ही ताक लगाकर रहती है। अँग्रेजी में अगर आप किसी दस वर्ष के बालक की उम्र पूछते हैं तो आपको यही उत्तर मिलता है—“This child is ten years old.” यह बच्चा दस वर्ष पुराना है। कहने का मतलब यही है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म लेने के साथ ही पुराना होने लगता है।

शंशवास्था में जो सरलता, भोलापन एवं चुलबुलापन रहता है, वह युवावस्था में नहीं रहता तथा युवावस्था में जो शक्ति, सामर्थ्य, स्मरणशक्ति, बुद्धि तथा तेज रहता है वह बुढ़ापे में लोप होने लगता है। शक्ति क्षीण हो जाती है, इन्द्रियाँ निष्क्रिय होने लगती हैं, रंग बदल जाता है तथा त्वचा झुर्रियों से भर जाती है।

कवि सुन्दरदास ने भी कहा है—

जब से जनम लेत, तब से ही आयु घटे,
माई तो कहत, मेरो बड़ो होत जात है।
आज और काल दिन-दिन होत और,
दोर्घो-दोर्घो फिरत खेलत और खानत है ॥
बालापन बीत्यो, अब यौवन लग्यो हैं आय,
यौवनहु बीते, बूढ़ो डोकरो विखात है।
'सुन्दर' कहत ऐसे देखत है ब्रूमि गयो,
तेल घटि गये जंसे दीपक बुझात है ॥

प्रत्येक प्राणी सबसे जन्म लेता है, तभी से उसकी उम्र कम होने लगती है। माता समझती है कि मेरा पुत्र बड़ा हो जाता है। दिन-दिन उसका रंग बदलता है। बाल्यावस्था में वह खेलता-कूदता और भागा-भागा फिरता है। बचपन बीतते ही शक्तिसम्पन्न युवावस्था आती है जिसमें युवक नाना प्रकार के असाधारण कार्य करता है। किन्तु जब वृद्धावस्था आती है तब उसकी देह एकदम जर्जर होकर ठीक उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार तेल कम होते जाने पर चिराग बुझ जाता है।

शरीर तो शरीर, संसार की समस्त वस्तुयें ही नाशवान और अस्थिर हैं। इस विराट-विश्व में जो कुछ भी नेत्रों के सम्मुख दिखाई देता है वह नष्ट होने वाला है। अथाह जल से भरा समुद्र एक दिन रेगिस्तान में परिणत हो जाएगा, ऐसे-ऐसे विशाल बगीचे आज जिनकी सुमधुर और दिल व दिमाग को तरोताजा करने वाली खुशबू समस्त वातावरण को सुगन्धित कर देती है, वे ही उपवन कभी झाड़-झंकाड़ एवं घास-फूस को पैदा करने वाली जमीन बन जायेंगे।

आज दिखाई देने वाली अनेक मंजिली इमारतें कल को खण्डहर बन जायेंगी तथा इनमें बमशीदों निवास करेंगी और उल्लू बोलने लगेंगे। लाखों करोड़ों व्यक्तियों से भरे हुए ये नगर कुछ काल में बन बन जायेंगे अथवा पृथ्वी के गर्भ में समा जायेंगे। आप जानते ही हैं कि भूभगंवेस्ताओं ने मोहन-जोदड़ों जैसे अनेक नगर पृथ्वी में से खोज करके निकाले हैं। मनुष्य के स्थानों पर सिंह, व्याघ्र, हाथी, गैंडे आदि यहाँ पर आ बसेंगे।

इस प्रकार जब संसार की कोई भी वस्तु स्थायी रहने वाली नहीं है, तो फिर मानव-देह की क्या बिसात है कि वह स्थायी बनी रह सके। पाँच तत्त्वों से बनी हुई यह काया जिसे मानव इत्र-फुलेल से सुवासित करता है, शीत से बचने के लिये गरम वस्त्र पहनता है, ग्रीष्म में हवादार मकानों और पंखों के नीचे उसे रखता है। पैरों का कष्ट न देने के लिए मोटर-गाड़ियों में घूमता है तथा शरीर को कष्ट न होने देने के लिए मखमली गद्दी पर सोता है, वह पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूँद के समान क्षण भर में नष्ट हो जाती है। लाख प्रयत्न करने पर भी बाल्यावस्था के पश्चात् युवावस्था और युवावस्था के पश्चात् वृद्धावस्था आने से नहीं सकती।

मनचले कवि नजीर अकबरा ने भी बुढ़ापे का बड़ा सही चित्र खींचा है। लिखा है—

बह जोश नहीं, जिसे कोई खोफ से बहले ।
वह जोश नहीं, जिससे कोई बात सहले ॥

जब फिस्स हुए हाथ, धके पाँव भी पहले ।
 फिर जिसके जो कुछ शरीर में आवे सोई कहले ॥
 सब चीज का होता है बुरा, हाथ ! बुढ़ापा ।
 आशिक को तो अल्लाह न दिखलाय बुढ़ापा ॥
 कहते थे जबानी में तो सब आपसे आ चाह ।
 और हुस्न दिखाते थे, वह सब आके दिलस्बाह ॥
 यह कट्टर बुढ़ापे ने किया, आह नज़ीर आह ।
 अब कोई नहीं पूछता, अल्लाह ही अल्लाह ॥
 सब चीज का होता है बुरा, हाथ ! बुढ़ापा ।
 आशिक को तो अल्लाह न दिखलाय बुढ़ापा ॥

वास्तव में ही कवि का कथन यथार्थ है । बुढ़ापे में वाणी में वह जोश नहीं रहता जिसके द्वारा कोई उस व्यक्ति से भय खाये । हाथ, पैर व शरीर क्षीण हो जाने पर छोटे से छोटा बालक भी चाहे जैसी हँसी उससे कर जाता है तथा वे ही सब व्यक्ति जो उसके कमाये हुये धन पर पलते हैं तथा उसकी कृपा से ही सेव-मिष्ठान आदि खा-खाकर अपने उदर को तृप्त करते हैं वे ही अपने पोषण करने वाले व्यक्ति का बुढ़ापा आने पर बात-बात में और तरह-तरह से अनादर करते हुए पेट भरने के लिये सूखे टुकड़े उसके सामने रख देते हैं । कहीं तक कड़ा जाय, जबानी में तो व्यक्ति दिन-रात आकर खुशामद करते हैं तथा न ना प्रकार से उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते हैं; वे ही वृद्धावस्था आ जाने पर गिरगिट की तरह रग बदल लेते हैं । कोई भी वृद्ध की खोज-खबर लेने और बात पूछने नहीं आता । इसीलिये कवि कहता है—हे अल्लाह ! तू किसी को भी वृद्धावस्था प्रदान मत कर ।

बंधुओ, मेरे कथन का अभिप्राय यही है कि वृद्धावस्था तो आनी ही है उसे कोई रोक नहीं सकता । पर हमें केवल यही चाहिए कि हम युवा अथवा वृद्ध जो भी हो इसी क्षण जाग जायें । भले ही हम री उन्नत कम अथवा उदास हो, उससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा । क्योंकि जब भावों की उत्कृष्टता आ जाती है तो जीव क्षणमात्र में ही अपने समस्त कार्यों को नष्ट करके संसार मुक्त हो जाता है । आवश्यकता है अपनी आत्मा में सम्यक्ज्ञान की ज्योति जगाने की । ज्ञान को महत्ता एक श्लोक से भली-भाँति जानी जा सकती है :—

अज्ञानी अपयेत् कर्म, यज्जन्मशत-कोटिभिः ।
 तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा, निहान्त्यन्तमुहूर्तके ॥

ज्ञान की कौसी अद्भुत महिमा बताई गई है। कहा है—अज्ञानी पुरुष जिन कर्मों को सँकड़ों और करोड़ों वर्षों में भी नष्ट नहीं कर सकता उन्हें ज्ञानी अपने मन, वचन और शरीर पर संयम रखकर केवल अन्तर्मुहूर्त में ही खपा डालता है अर्थात् उनका पूर्णतया क्षय कर देता है।

तो मुक्ति प्राप्ति का सर्वप्रथम साधन है। सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति करना। अज्ञानी एवं मिथ्याचारी जहाँ अपनी विवेकहीनता के कारण निरन्तर पतन की ओर अग्रसर होता हुआ नरक की दुःपह यत्रणाओं को भोगता है, वहाँ ज्ञानी निरन्तर अपनी आत्मा को उन्नत बनाता हुआ मुक्त की ओर बढ़ता है।

प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों? इसका कारण यही है कि ज्ञानी पुरुष सदा गुण ग्रहण करने के प्रयत्न में रहता है। संसार की हीन से हीन वस्तु या निम्नकोटि के व्यक्ति में भी वह जो गुण देखता है, उसे प्राप्त करना चाहता है। वह पाप से धृणा करता है, पापी से नहीं। किन्तु इसके विपरीत अज्ञानी उत्तम से उत्तम वस्तु और विद्वान् से विद्वान् व्यक्ति में भी दोष देखता हुआ उसकी निन्दा व आज्ञोचना करके अपने हृदय में अहंकार एवं द्वेषरूपी दुर्गुणों का पोषण करता है। इसलिए अज्ञान से पतन और ज्ञान से अभ्युदय होता है।

संसार के सभी महापुरुष आत्मा को कर्म मुक्त करने के लिए सर्वप्रथम ज्ञान-प्राप्ति की ओर बढ़ते हैं। ज्ञान को ही संसार-सागर से पार करने वाली नौका मानकर उसका सहारा लेते हैं। ज्ञान के विषय में कहाँ तक कहा जाय, एक श्लोक से आप समझ सकते हैं—

ज्ञानाद्विवन्ति खलु कृत्यमकृत्य जातम् ।
 ज्ञानाच्चरित्रममलं च समाचरन्ति ॥
 ज्ञानच्च भव्यभविनः शिवमाप्नुवन्ति ।
 ज्ञानं हि मूलमवुलं सकलश्रियां तत् ॥

अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति को कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान होता है, ज्ञान से ही निर्मल चरित्र का पालन किया जा सकता है। ज्ञान के द्वारा ही भव्यप्राणी मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं, क्योंकि उसके अभाव में घोर तपस्या एवं घोरतर कायवेश भी सम्यक् चरित्र में नहीं आता और वह सब मुक्ति का प्रदाता न होकर संसार को बढ़ाने का ही कारण बनता है। संक्षेप में लौकिक एवं लोकोत्तर सही प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने का एकमात्र साधन ज्ञान ही है।

सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति से क्या-क्या लाभ होता है, यह बताना यद्यपि पूर्णतया संभव नहीं है। किन्तु मैं संक्षिप्त में कुछ बातें आपको बताने का प्रयत्न करता हूँ।

मोह पर विजय

जिन महामानवों को सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाता है वे सर्वप्रथम मोह को जीतने का प्रयत्न करते हैं। वे भली-भाँति समझ लेते हैं कि मोह-ममता ही संसार में आत्मा के परिभ्रमण करने का कारण है। यहाँ न कोई किसी का पति है, न कोई किसी की स्त्री, न कोई किसी का पिता है और न कोई किसी का पुत्र। सब नाते स्वार्थ के कारण हैं, जिस दिन उसका स्वार्थ सधना समाप्त हो जाएगा, वे सब भी अलग-अलग हो जायेंगे। संयोग के साथ वियोग और जन्म के साथ मृत्यु आनी निश्चित है। अज्ञानी व्यक्ति अपने किसी भी सम्बन्धी की मृत्यु पर शोक करता है तथा आकुल-व्याकुल होता है। किन्तु ज्ञानी और निर्मोही व्यक्ति किसी के जन्म या मृत्यु पर दुःख और शोक नहीं करता। एक सुन्दर उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है।

निर्मोही परिवार

किसी नगर में एक राजा था, वह बड़ा ज्ञानी और तत्त्ववेत्ता था। समस्त नगर निवासी तथा आस-पास या दूर के व्यक्ति भी जो उसे जानते थे, निर्मोही राजा कहते थे।

एक दिन उस राजा का राजकुमार शिकार खेलता हुआ वन में रास्ता भूल गया। घूमते-घूमते उसे बड़े जोर की प्यास लगी और वह पानी की तलाश में भटकता हुआ एक संत के आश्रम में पहुँच गया। संत ने उसे पानी पिलाया और उसका परिचय पूछा। जब संत को राजकुमार का परिचय मालूम हुआ तो उन्होंने कहा—“राजकुमार ! एक ही व्यक्ति निर्मोही भी हो और राजा भी हो यह कैसे सम्भव है ? जो राजा होगा वह निर्मोही नहीं हो सकता और जो निर्मोही होगा वह राजा कैसे बनेगा ?

राजकुमार बोला—“भगवन् ! अगर आपको विश्वास न होता हो तो आप परीक्षा करके देख लीजिए, मेरे पिताजी तो क्या, मेरा सारा परिवार और नीकर-चाकर तक भी निर्मोही हैं।”

संत सुनकर चकित हुए और बोले—“ऐसी बात है ? तुम यहीं ठहरो और कुछ समय तक आनन्द से आश्रम में रहो। मैं नगर में जाकर मालूम करता हूँ कि वास्तव में ही तुम्हारा परिवार ऐसा ही निर्मोही है क्या ?”

राजकुमार ने तुरन्त यह स्वीकार कर लिया और आश्रम में ठहर गया। इधर संत नरक की ओर चल दिए। जब संत राजमहल के मुख्यद्वार पर पहुँचे तो सर्वप्रथम उन्हें एक दासी दिखाई दी। संत ने अपनी परीक्षा का प्रारम्भ दासी से ही प्रारम्भ किया। उससे कहा—

तू सुन चेरी श्याम की, बात सुनावो तोहि ।
कुँवर बिनासगो सिंह ने, आबन परिओ मोहि ॥

संत ने विचार किया कि दासी मेरी बात सुनकर रोती-पीटती महल के अन्दर दीड़ेगी, इसलिए, बोला—“अरी श्याम की दासी ! तुम्हारे राजकुमार को वन में सिंह ने मार डाला है, अतः मुझे यह समाचार लेकर आना पड़ा है ।”

किन्तु दासी शान्तभाव से बोली—

ना मैं चेरी श्याम की, नहि कोई मेरो श्याम ।
प्रारब्धवश भेल यह, सुनो ऋषि अभिराम ॥

ऋषि दासी की बात और उसकी शांति देखकर चकित हुए और महल में आगे बढ़े । महल में उन्हें राजकुमार की पत्नी मिली । राजकुमार की बधु ने संत को प्रणाम किया और प्रश्नसूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा । संत ने बड़ी गंभीरता से कहा—

तू सुन चातुर सुन्दरी, अबला यौवनवान !
देवी-वाहन-दल मत्थी, तुम्हरो श्री भगवान ॥

अर्थात् हे वनयौवना चतुर सुन्दरी ! आज माादेवी दुर्गा के वाहन सिंह ने तुम्हारे परमेश्वररूप पति का दलन कर दिया है अर्थात् उन्हें मार डाला है ।

राजबधु ने ऋषि की बात सुनी, क्षणभर शांत रही, पर उसके पश्चात् बोली—

तपिया पूरब जनम की, कथा जानत है लोक ।
मिले कमवश आन हम, अब विधि कोन बियोग ॥

संत को महान आश्चर्य हुआ । सोचने लगे—

जहाँ स्त्रियों पति की मृत्यु की आशंका करते ही कांपने लगती हैं और उसकी मृत्यु हो जाने पर तो छाती पीटती हुई हृदय-विदारक विलाप करती हैं तथा सारा बातावरण अपने रुदन से भर देती हैं, वहाँ यह पतिव्रता नारी अपने पति की मृत्यु की बात सुनकर भी स्थिर चित्त से खड़ी है तथा उलटे कह रही है—“तपस्वी जी ! लोग भाग्य के खेल को कैसे समझ सकते हैं ? पूर्व में न जाने कैसे-कैसे कर्म किये होंगे, जिनके कारण इस जन्म में पति-पत्नी के रूप में आ मिले थे । पर अब वह संयोग समाप्त हो गया है, अतः विधाता ने हमें अलग-अलग कर दिया है । बस इतनी-सी तो बात है ।”

राजबधु की निर्मोहिता पर विचार करते हुए ऋषि अब राजकुमार की माता के पास पहुँचे । महारानी अपने किसी कार्य में व्यस्त थीं । महात्मा को

देखते ही सादर उठीं और उन्हें नमस्कार किया। महात्मा जी गंभीरतापूर्वक उनकी ओर देखते हुए बोले—

रानि तुमको विपत्ति अति, सुत खायो मृगराज ।
हमने भोजन ना किया, इसी मृतक के काज ॥

अर्थात्—“महारानी ! आज तुम पर भयंकर विपत्ति आ गई है ।” महारानी ने आश्चर्य से पूछा—‘क्या विपत्ति महाराज ?’ ऋषि ने कहा—“आज तुम्हारे पुत्र का मृगराज सिंह ने भक्षण कर लिया है। इसीलिये मैंने भी भोजन नहीं किया और दौड़ा हुआ आपको समाचार देने आया हूँ ।”

यह आश्चर्य है कि एक माता जिसके लिए उसका पुत्र आँखों का तारा होता है तथा वह कुपुत्र भी हो तो उसके लिए हृदय में कभी नफरत नहीं लाती, स्वयं अनेकानेक कष्ट सहकर अपने पुत्र का पालन-पोषण करती है। कहते भी हैं :—

‘मात्रा समं नास्ति शरीर पोषणम् ।’

“माता के समान पुत्र के शरीर का पोषण करने वाला अन्य कोई नहीं होती ।”

उसी माता का दिल रखने वाली महारानी ने ऋषि को उत्तर दिया—

एक वृक्ष डलें घनी, पंछी बंटे आय ।
यह पाटी पीरी भई, उड़-उड़ चहुँ दिश जाय ॥

क्या कहा माता ने ? यही कि “जिस वृक्ष पर सघन डालियाँ होती हैं, पक्षी उस पर आकर विश्राम लेते हैं। किंतु पतझड़ के आते ही सब उड़-उड़ कर भिन्न-भिन्न दिशाओं में चले जाते हैं। तो पुत्र का निधन हो गया तो क्या हुआ। हम सभी तो पक्षी हैं और एक दिन यहाँ से रवाना होकर अपनी-अपनी राह पकड़ेंगे ।”

ऋषि को राजकुमार की बात सत्य महसूस हुई और वे विचार करने लगे कि वास्तव में ही यहाँ सब मोह को जीते हुए हैं। पर परीक्षा लेने में राजा ब.की थे अतः अब वे राजा समीप में पहुँच गए।

महाराज दरबार में अपने सिंहासन पर आसीन थे। ऋषिराज को आते देखा तो उनकी उचित अभ्यर्थना करके योग्य आसन प्रदान किया तथा आदर-पूर्वक पूछा—“भगवन् ! कैसे पधारना हुआ ?”

ऋषि ने अपनी पूर्ववत् गंभीरता कायम रखी और तेज नेत्रों से राजा को देखते हुए बोले—

राजा मुख ते राम कहू, पस-पस जात घड़ी ।

सुत खायो मृगराज ने, मेरे पास खड़ी ॥

अर्थात्—“राजन् ! राम का नाम लो, जीवन की ये अमूल्य घड़ियाँ क्षण-क्षण में समाप्त होती जा रही हैं । आज ही मेरे नेत्रों के समक्ष तुम्हारे पुत्र को सिंह ने खा डाला है ।”

पर धन्य है वह पिता, जिसने वृद्धावस्था को लाठी के समान और राज-कुमार जैसे होनहार तथा अद्वितीय सौन्दर्य के धनी पुत्र को मृत्यु की बात सुनकर भी उफ तक नहीं किया । उलटे ऋषि को मीठी ताड़ना दी—

तपिया तप क्यों छॉँडियो, इहाँ पलक नहि सोग ।

बासा जगत सराय का, सभी मुसाफिर लोग ॥

राजा ने कहा—“तपस्वीराज ! इस जरासी बात के कारण आपने अपनी तपस्या को छोड़कर क्यों कष्ट किया ? मुझे तो पुत्र की मृत्यु का तनिक भी शोक नहीं है । शोक करना भी किसलिए ? यह जगत तो एक सराय के समान है जिसमें प्राणी आते हैं । कुछ घड़ी, दिन या महीने निवास करते हैं और अपने-अपने गन्तव्य की ओर चल देते हैं । मेरा पुत्र भी इसी संसाररूपी सराय का मुसाफिर था अतः चल दिया और सब मेरा वक्त आया तो मैं भी चल दूँगा । आत्मा का भी क्या कोई पुत्र या पिता होता है ? वह अकेली है और अकेली ही जाएगी । बाकी शरीर के रिश्ते तो उसके संसार के समस्त प्राणियों के साथ अनन्त बार हो चुके हैं । इस जन्म में वह देह से मेरा पुत्र था पर पिछले जन्मों में वह असंख्य पिताओं का पुत्र बना होगा । फिर मुझे चिन्ता या दुःख किस बात का ?”

आप तो निश्चित होकर पुनः अपनी साधना में अनुमान लगाइये ! मेरी तनिक भी चिन्ता मत कीजिये । संसार में जन्म और मरण का चक्र तो चलता ही रहता है । उसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

राजा की बात सुनकर ऋषि को विश्वास हो गया कि वास्तव में राजा निर्मोही है । लोग झूठ नहीं कहते । इसने और इसके परिवार ने सचमुच ही मोह को जीत लिया है ।

वस्तुतः मनुष्य चाहे साधु बनकर जंगल में रहे या गृहस्थावस्था में घर पर रहे, उसे निर्मोही राजा के समान मोह से रहित होकर रहना चाहिये । मोह तथा आसक्ति का त्याग कर देने वाला प्राणी भव-बन्धन में नहीं बँधता और वही सदा के लिए कर्मों से मुक्त हो सकता है ।

आज तो हम देखते हैं कि मनुष्य युवावस्था में विषय-भोगों में फँसा हो रहता है, वृद्धावस्था में भी आशा-तृष्णा का त्याग नहीं कर पाता तथा उसकी

मोह-ममता और भी बढ़ जाती है। वह रात-दिन अपने बेतों, पोतों तथा प्रपौत्रों की चिन्ता में घुलता रहता है। परिणाम यही होता है कि वह जीवन-पर्यन्त परमात्मा को स्मरण करने का वक्त नहीं निकाल पाता।

श्री शंकराचार्य ने कहा भी है—

बालस्तावत् क्रीडासक्तः, तरुणस्तावत् तरुणी रक्तः ।

वृद्धस्तावत् चिन्ताभग्नः परे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥

मनुष्य बचपन में तो खेल-कूद में लगा रहता है, जवानी में स्त्री में आसक्त रहता है और बुढ़ापे में चिन्ता (फिकरों) में डूबा रहता है लेकिन परब्रह्म के चिन्तन में कोई भी नहीं लग पाता।

वस्तुतः इस मिथ्या और नाशवान संसार की वस्तुओं में आसक्ति रखना वृथा है। यहाँ कोई किसी का नहीं है। फिर उसकी चिन्ता और फिकर में इस दुर्लभ देह को व्यर्थ नष्ट कर देना कहाँ की बुद्धिमानी है? पुत्र, स्त्री, पति या अन्य कोई भी स्वजन सम्बन्धी मर गया तो क्या हुआ? प्रत्येक मनुष्य को ही तो एक दिन अपनी राह पर जाना है। हाँ, अगर वे चले जायें और हम सदा यहाँ बने रहें, तब तो कोई बात भी है पर जब सभी को जाना है तो फिर मोह और ममता किसलिए?

इसीलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह समस्त सांसारिक प्रलोभनों को जीते तथा सांसारिक बन्धनों में अपनी आत्मा को बँधा न रखे। इसके साथ ही वह समभाव में रहे।

समदर्शी कैसे बना जाय ?

समदर्शी बनना मुक्ति प्राप्ति का दूसरा साधन है। अगर मनुष्य के हृदय में सम-भाव आ गया तो समझना चाहिए कि उसके लिए सिद्धि प्राप्त में कुछ भी बाकी नहीं रहा। ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों में एक ही चेतन आत्मा मानता है। अभीर-गरीब, छोटा-बड़ा, पशु-पक्षी तथा जगत का प्रत्येक अन्य प्राणी उसकी दृष्टि में समान मालूम देता है। सभी को आत्मवत् मानना ही समदर्शी कहलाता है। जब प्राणी की ऐसी दृष्टि हो जाती है तो उसके हृदय में किसी के भी प्रति राग और किसी के भी प्रति विराग की भावना नहीं रहती। किसी से उसका विरोध नहीं होगा और किसी के भी प्रति प्रणय भाव नहीं रहता। न उसे कोई अपना शत्रु दिखाई देता है और न कोई मित्र। चित्त की ऐसी अवस्था में भव्य प्राणी का हृदय परम सन्तोष एवं आनन्द का अनुभव करता है।

कवि नगीर का कथत है—

ये एकताई ये एकरंगी, तिस ऊपर क्यामत है।

न कम होना न बढ़ना और हजारों घट में बँट जाना ॥

कवि के कथन का आशय है—ईश्वर एक है और एक रंग है। वह निर्विकार और अक्षय है। उसमें न कोई परिवर्तन आना है और न ही वह कम होता है या बढ़ता है। फिर भी महान् आश्चर्य की बात है कि वह घट-घट में इस प्रकार प्रकट होता है जैसे एक सूर्य का प्रतिबिम्ब असंख्य जलाशयों में एक ही जैसा दिखाई देता है।

निस्सन्देह जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। सागर में सैकड़ों नावें और जहाज चलते हैं। असंख्यों मगर, मछलियाँ और जल-जन्तु उसमें रहते हैं। सैकड़ों व्यक्ति उसमें स्नान करते हैं किन्तु उसी सागर के जल को एक लोटे में भर लिया जाय तो उसमें न नावें चल सकेंगी और न ही कोई उसमें स्नान कर सकेगा। सागर में अथाह जल राशि है और लोटे में थोड़ा सा जल है। दोनों एक हैं और उनके एक होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के एक होने में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। एक चींटी के शरीर में भी वही शक्तिशाली आत्मा है और हाथी के शरीर में भी।

संसार के समस्त धर्मशास्त्र इस विषय में यही कहते हैं। कुरान में कहा है।

“ला इलाही इत्ला अन्ना।”

यानी आत्मा के सिवा दूसरा ईश्वर नहीं है।

बाइबिल में भी ईसामसीह द्वारा कहा गया है।

“You are the living temples of God.”

— तुम ईश्वर के जीवित मन्दिर हो।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो प्राणी अपनी आत्मा को परमात्मा के रूप में लाना चाहता है उसे संसार के समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान ही मानना चाहिये तभी वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

श्री शंकराचार्य ने भी कहा है—

शत्रो मित्रे पुत्रे बन्धो, मा कुह यत्नं विग्रह सन्धो।

भद सप्त चित्तः सर्वत्र त्वं वाञ्छस्थधिराद् यदि विष्णुत्वम्।

अर्थात्—हे प्राणी! अगर तू शीघ्र ही मोक्ष या विष्णुत्व चाहता है तो शत्रु और मित्र, पुत्र और बन्धुओं से विरोध और प्रणय मत कर, यानी सब को एक नजर से देख; किसी में भी भेद मत मान।

ऐसी समदृष्टि ही आत्मा को उन्नत बनाती है तथा कर्मों की नष्ट करते हुए उसे परमात्मपद की प्राप्ति कराती है। इसी दृष्टि का प्रभाव हम प्राचीन इतिहासों में देखते हैं कि महर्षिगण अपने आश्रमों में सिद्धों को गाय व

बकरियों के समान पालते थे तथा विषयभर भुजंगों को भी अपने गले में डाला करते थे। इसका कारण केवल यही था कि उनकी आत्मा पूर्ण सच्चाई से उन भयंकर प्राणियों को भी अपने समान ही मानती थी। उनकी आत्मा यही पार्थना करती थी—

समहृष्टि सतगुरु करो, मेरो भरम निवार ।
जहँ देखूँ तहँ एक ही, साहब का दोषार ॥
समहृष्टि तब जानिये शीतल सपता होय ।
सब जीवन की आत्मा, लखें एक सी सोय ॥

और जब उनकी यह कामना फलीभूत हो जाती थी तो वे गद्गद् होकर कहते थे—

समहृष्टि सतगुरु किया, भरम किया सब दूर ।
दूजा कोई रिश्व नहीं, राम रहा भरपूर ॥

जीवन की ऐसी अवस्था ही सर्वोत्तम मानी जा सकती है और यह उन्हीं को प्राप्त होती है जिनके पूर्व जन्मों के असंख्य पुण्य संचित होते हैं।

तो बन्धु भी हमने आज की बात का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के गौतम को दिए हुए उस उपदेश से किया था—“हे गौतम ! तेरा शरीर सब तरङ्ग से जीर्ण हो रहा है, बाल श्वेत हो गए हैं, शक्ति बल क्षीण हुआ जा रहा है अतः समय मात्र का भी प्रमाद अब मत कर ।”

इसलिए हमें चाहिये कि इसी क्षण से हम सजग और सतर्क हो जायँ। उम्र भले ही हमारी कुछ भी हो केवल अपनी आत्मा और उसकी शक्ति पर विश्वास होना चाहिये।

पंचतन्त्र में कहा है—

आदौ चित्ते पुनः काये, सतां सम्पद्यते जरा ।
असतां तु पुन काये, नव चित्ते कदाचन ॥

अर्थात् सत्पुरुषों को पहले चित्त में और बाद में शरीर में बुढ़ापा आता है तथा असत्पुरुषों को शरीर में ही बुढ़ापा आ जाता है चित्त में कमी नहीं।

इस बात को हमें गम्भीरता पूर्वक समझना चाहिए। पद्य के अनुसार सज्जन पुरुषों के चित्त में पहले बुढ़ापा आ जाता है अर्थात् उनके हृदय में संसार के प्रति उदासीनता आ जाती है। परिणामस्वरूप वे पहले से ही जगत से विरक्त होकर आत्म-साधना में लग जाते हैं।

किन्तु जो असत्पुरुष अर्थात् दुर्जन होते हैं वे शरीर के बूढ़ हो जाने पर भी विषय-भोगों में रुचि रखते हैं तथा तृष्णा और ममता का त्याग नहीं करते। ऐसे व्यक्ति जीवन के अन्त तक भी सतर्क नहीं हो पाते तथा अगले जन्म में साथ ले जाने के लिये पुण्य का तनिक भी संवय नहीं कर सकते।

अतएव हमें शरीर के वृद्ध होने न होने की परवाह नहीं करनी है तथा 'अब जागे तभी सवेरा' वाली कहावत को चरिताथ करते हुए संसार से विरक्त रहकर आत्म-कल्याण में जुट जाना है। शरीर के वृद्ध हो जाने पर भी आत्मा की अतन्तशक्ति में कभी कमी नहीं आती यह विचार करके अपने विचारों को उच्चतम बनाते हुए कर्मों की निर्जरा करनी है।

मृत्यु से डरो मत !

जो अज्ञानी व्यक्ति यह विचार कर घबराने लगते हैं कि अब हमारी वृद्धावस्था आ गई और हमें काल का ग्रास बनना पड़ेगा, वे शोक और चिन्ता के कारण हाथ-हाथ करके अपने कर्मों का बन्धन करते हैं तथा अगले जन्म को भी बिगाड़ लेते हैं।

किन्तु ज्ञानी पुरुष मृत्यु को एक वस्त्र बदलकर दूसरा पहन लेने के समान ही साधारण मानते हैं। उन्हें इस शरीर के नष्ट हो जाने का तनिक भी भय नहीं होता। क्योंकि वे आत्मा को अमर और अविनाशी मानते हैं। वे विचार करते हैं—'इस देह का नाश होने से मेरी क्या हानि है? यह नष्ट हो जायेगी तो दूसरी नबीन देह मिलेगी। मेरी आत्मा तो शाश्वत है जिसे कोई नष्ट नहीं कर सकता।

भगवद्गीता में कहा भी है—

नैन छिन्दन्ति शास्त्राणि, नैन दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमभ्यधस्यास्य, न कश्चित्कतुं मर्हति ॥

अर्थात् इस आत्मा को शास्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल इसे भिगो नहीं सकता और पवन इसे सुखा नहीं सकता। कोई भी शक्ति इस अजर-अमर और निवासी आत्मा को नष्ट करने में समर्थ नहीं है।

भीष्म पितामह कई दिन तक शर-शंभ्या पर लेटे रहे और उसमें उन्होंने रंचमात्र भी दुःख या कष्ट का अनुभव नहीं किया। क्योंकि वे भली-भाँति विश्वास करते थे कि मेरी आत्मा पहले भी थी, अब भी है और भविष्य में भी रहेगी। यही कारण था कि अन्तिम क्षण तक उन्होंने परम पिता परमात्मा का स्मरण किया और स्मरण करते-करते ही प्रसन्नतापूर्वक अपना चोला बदल लिया।

महापुरुष इसी प्रकार स्वयं प्रबुद्ध रहते हैं तथा औरों को भी बोध देते हैं महात्मा बुद्ध के समय में एक स्त्री का इकलौता पुत्र काल कबलित हो गया। स्त्री अपने पुत्र की मृत्यु से अत्यन्त शोकाकुल हुई और उसे लेकर रोती-पीटती हुई बुद्ध के पास आ कर बोली—

“भगवन् ! मेरा यही एक बेटा था और यह भी मर गया कृपा करके इसे किसी भी प्रकार जीवित कर दीजिये ।

भगवान् बुद्ध स्त्री का दुःख देखकर व्यथित हुये किन्तु उसकी आत्मा को जगाने के लिये बोले—‘बहिन ! मैं तुम्हारे पुत्र को जीवित कर दूँगा पर एक शर्त है कि तुम किसी ऐसे घर से राई के थोड़े से दाने ले आओ जिस घर में किसी की भी कभी मृत्यु न हुई हो ।

पुत्र-शोक से विह्वल स्त्री बुद्ध की बात सुनकर आश्वस्त हुई और नगर की ओर दौड़ी । किन्तु प्रत्येक घर में धूमने पर भी उसे कोई ऐसा कहने वाला न मिला जहाँ पर किसी की मृत्यु न हुई हो । कोई पिता की, कोई दादा की, कोई पुत्र की और कोई पत्नी की मृत्यु हुई है, यही कहता था ।

अन्त में निराश होकर वह पुनः बुद्ध के पास आई और बोली - भगवन् ! ऐसा तो कोई भी घर मुझे नहीं मिला जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो । सभी के घर में कोई न कोई मरा है ।”

बुद्ध ने यह सुनकर कहा - “बहिन ! तुम अब तो समझ ही गई होगी कि मृत्यु का अनातिवार्य है । जो जन्मा है वह मरेगा ही । आगे पीछे हमें भी यह देह छोड़नी है, अतः धैर्य धारण करो तथा अपने आत्म-कल्याण की ओर ध्यान दो ।”

महात्मा बुद्ध की बात सुनकर स्त्री को बोध हुआ और उसने मृत्यु को अवश्यम्भावी मानकर अपने चित्त को शान्त किया तथा मृतक पुत्र के शव को लेकर उसका क्रिया-कर्म करने चल दी ।

इसलिये बन्धुओ, हमें भी न वृद्धावस्था के लिये शोक करना है और न मृत्यु से भयभीत होना है । अपितु यह प्रयत्न करना है कि हम त्याग, तपस्या, व्रत तथा नियमादि के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके ऐसा प्रयत्न करें जिससे पुनः जन्म न लेना पड़े और मृत्यु का कष्ट भी न भोगना पड़े ।

हमें अने जीवन के बचे हुये समय का ही बड़ी सतर्कता पूर्वक सदुपयोग करना है । बीता हुआ समय कभी लौटकर नहीं आता । अगर हम यह बात भली-भाँति समझ लेते हैं तो निश्चय ही अपना परलोक सुधार कर मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं ।

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने भी कहा है—

तजो मोह-भ्रमता भज समता, आत्म-स्वरूप निहारो ।
हृदय पटल का राग-रंग धो धर्म भाव डर धारो ।

यह अनिष्टता भव्य भावना जो प्रतिदिन भाते हैं ।
दुःख-शोक से मुक्त भव्य वे शाश्वत सुख पाते हैं ।

तो शाश्वत सुख पाने का यही सर्वोत्तम नुस्खा है कि संसार की अनिष्टता का ध्यान रखते हुए मोक्षाभिलाषी प्राणी मोह-ममता का त्याग करके हृदय में ममता को धारण करे तथा अपने हृदय-पटल से रागद्वेष की कालिमा को मिटाकर उसे स्वच्छ बनाए तथा धर्मराशन में जुट जाए ।

जो भव्य प्राणी ऐसा करेंगे, वे निश्चय ही शाश्वत सुख की प्राप्ति करेंगे तथा सदा के लिये जन्म-मरण के कष्टों से मुक्त हो जाएँगे । वृद्धावस्था तो क्या जीवन के अन्तिम समय में भी अगर उनका समाधि भाव रहेगा तथा वे पण्डित मरण को प्राप्त करेंगे तो उन्हें पुनः इस लोक में आना नहीं पड़ेगा ।





धर्मप्रेमी बन्धुओ ! माताओ एवं बहनो !

श्री उत्तराष्टयग्न सूत्र के दसवें अध्याय में भगवान महावीर ने गौतम स्वामी को लक्ष्य करके सयम मार्ग से तनिक भी विचलित न होने का आदेश दिया है। उन्होंने कहा है—

बिच्छा ण धणं च भारियं,
पव्वइओहिसि अणगरियं ।
मा बतं पुणो कि आविए,
सममं गोयम ! मा पमायए ॥

अर्थात्—“हे गौतम ! तू धन और भार्या आदि को छोड़कर—अनगार भाव को प्राप्त हुआ है अर्थात् दीक्षित हो गया है। अब इस वमन किये हुए को फिर तू ग्रहण न कर और समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।”

इस गाथा के द्वारा शिक्षा दी गई है कि धन, धान्यादि समस्त वस्तुएँ, अतुल वैभव और स्त्री, पुत्र आदि सभी का त्याग करके जिन मोक्षाभिलाषी व्यक्तियों ने संयम ग्रहण किया है उन्हें पुनः कभी भी इन सबकी वांछा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि त्यागी हुई वस्तु वमन के समान होती है और उन्हें ग्रहण करना वमन को ग्रहण करना ही कहलाता है।

राजुल और रथनेमि की कथा इसका ज्वलंत उदाहरण है। जब भगव न नेमिनाथ विवाह करने के लिये गए पर तोरण द्वार से लौटकर दीक्षित हो गए तो उनका छोटा भाई रथनेमि मन-हो-मन में अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह विचार कर कि अब राजोमती से मेरा विवाह हो सकेगा।

वह राजोमती के पास स्वयं ही गया और उससे अपने साथ विवाह करने का आग्रह किया। किन्तु राजोमती सती बुद्धिमान थी। उसने उत्तर दिया—

“पहले तुम मेरे लिये भेंट में ऐसी वस्तु लाओ जो संसार में प्रत्येक प्राणी को प्रिय और लाभकारी हो।”

रथनेमि ने बहुत सोचा और विचारा कि ऐसी वस्तु क्या हो सकती है जो संसार के समस्त प्राणियों को प्रिय हो ? अन्त में उसे यह सूझा कि गी का दूध ऐसी वस्तु है जो संसार के प्रत्येक प्राणी के लिये प्रिय और हितकर होता है । यह विचार अते ही वह रत्न-जड़े कटोरे में शुद्ध गाय का दूध राजीमती को भेंट में देने के लिये ले आया ।

राजीमती ने रथनेमि की भेंट देखकर प्रसन्नता व्यक्त की और कहा — “तुम मेरे लिये वास्तव में बड़ी सुन्दर भेंट लाए हो, पर तनिक देर ठहरो ताकि मैं भेंट का प्रयुक्त दे सकूँ ।”

रथनेमि बड़ा प्रसन्न हुआ और इस आशा से वहाँ बैठा रहा कि उसकी सौगात के उपलक्ष में राजीमती विवाह के लिये ही कहेगी । राजीमती कटोरा उठाकर अन्दर चली गई और दूध पीने के पश्चात् कुछ ऐसी दवा खाई जिससे उसे वमन हो गया । उसने उस रत्न-जड़ित कटोरे में ही वमन किया और उभे वहाँ लाई जहाँ रथनेमि बैठा हुआ था, पास आकर बोली — “रथनेमि ! अगर मुझसे तुम्हें सच्चा प्यार है तो इसे पी जाओ ।”

रथनेमि यह सुनकर बड़ा चकित हुआ और क्रोधित भी । लाल आँखें करता हुआ बोला — “क्या वमन की हुई वस्तु भी पीने योग्य रहती है ? यह तो मेरा सरासर अपमान है ।”

रथनेमि की बात सुनकर राजुल मुस्कराती हुई बोली — “भाई ! मैं भी तो तुम्हारे बड़े भाई के द्वारा त्यागी हुई अर्थात् वमन की हुई स्त्री हूँ । अगर तुम मुझे ग्रहण कर सकते हो तो इस मेरी वमन की हुई वस्तु को क्यों नहीं ग्रहण कर सकते ?”

राजुल की यह बात सुनते ही रथनेमि को होश आ गया और उसने अपनी इच्छा को धिक्कारते हुए सोचा — “सचमुच ही मैं वमन किये हुए को ग्रहण कहना चाहता था । घोर पश्चात्ताप करते हुये वह वहाँ से उलटे पैरों लौट गया और प्रव्रज्या ग्रहण करके साधु बन गया । इधर राजीमती ने भी अपने पति नेमिनाथ का अनुसरण करते हुए संन्यत अंगीकार कर लिया । उसने सोच लिया कि मुझे भी इस संसार में रहकर अब क्या करना है ?

कुछ समय बीत गया और राजुल दृढ़त पूर्वक अपने संन्यम का पालन करती रही । किन्तु एक बार अजीब संयोग आ उभस्थित हुआ । सती राजीमती अन्य साध्वियों के साथ विचरण कर रही थी कि एक पहाड़ी स्थान पर घनघोर वर्षा बरसने लगी । वर्षा के कारण साध्वियाँ भीग तो गईं ही, एक दूसरे से बिछुड़ भी गईं । राजीमती ने भी वर्षा से बचने के लिये एक

गुफा का आश्रय लिया और उसे निर्जन समझकर उसमें अपने गीले वस्त्रों को सुखा लेने के इरादे से खोलना प्रारम्भ किया ।

किन्तु दुर्भाग्यवश उसी गुफा में साधु-रथनेमि भी अपने ध्यान में बैठा हुआ था । राजीमती के गुफा में पहुँचने के कारण कुछ आहट हुई और रथनेमि का ध्यान भंग हो गया । इधर कुछ क्षण पश्चात् अँधेरे में कुछ दिखाई देने का प्रारम्भ होने पर राजीमती वी दृष्टि भी गुफा में चारों ओर घूम गई तथा उसने रथनेमि को वहाँ देखा । उसे देखते ही वह लज्जित होकर गीले वस्त्र पुनः पहनने ही लगी थी कि रथनेमि जो पुनः एकान्त में राजीमती को पाकर कामवासना का शिकार बन गया था बोला—

छोड़ जोगने भोग आदर तू,
सांभल सोहनवरणी जो ।
सुख बिलसी ने संयम लेस्यां,
पीछे करस्यां करणी जो ।

क्या कहा रथनेमि ने ? यही कि—‘हे सुन्दर नवयौवना ! मेरी बात सुन, मेरा यह कहना कि अभी तो तू यह योग छोड़ दे और मैं भी इसे छोड़ देता हूँ । कुछ दिन हम भोग-विलास कर लें और सांसारिक सुखों का रसा-स्वादन करें । उसके पश्चात् पुनः संयम ले लेंगे और उत्तम क्रियाएँ करेंगे ।

इस प्रकार पंचमहाव्रतधारी साधु रथनेमि के हृदय में त्याग हुए भोगों की लहर पुनः उठी और उसने पुनः-पुनः राजीमती साध्वी से प्रणय-निवेदन किया ।

किन्तु सती साध्वी राजुल कचची मिट्टी की बनी हुई नहीं थी कि रथनेमि की काम-वासना की लहर आते ही गल जाती । उसने रथनेमि को धिक्कारते हुए स्पष्ट कह दिया :—

गार्यां को घणी गबलियो, तू मत जाणे कोय ।
संयम रो घणी तू नहीं, हिये विमसी जोय ।
चंदन बाले बावनो, जो करणी चाहे राख ।
चौथा सूं चूक्या पछे थारे कुलने लागे दाग ॥

कितने तिरस्कारपूर्ण शब्द थे राजमती के ? वह कहती है—“अरे रथनेमि ! जिस प्रकार गायों को चराने वाला खाला गायों का स्वामी नहीं होता उसी प्रकार लगता है कि महाव्रतों को धारण करके तथा संयम को ग्रहण करके भी तू संयमी नहीं है ।”

“अरे भूबं ! तू यह भी नहीं सोचता कि बावने चन्दन को जला देने पर उसका क्या मूल्य रह जाता है ? केवल राख ही तो हाथ आती है । इसी प्रकार चार-चार महाव्रतों को कष्ट कर देने पर क्या हाथ आने वाला है ? उल्टा तेरे महान् कुल में दाग लग जाएगा । इसलिये अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है अतः सभल जा और अपने व्रतों का, त्याग का तथा बात का ध्यान रखते हुए मन में आए हुए विचारों पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप कर तथा संयम की अविचल साधना कर ।”

साध्वी राजीमती की बात सुनकर रथनेमि जो कि वासना के क्षणिक प्रवाह में बह जरूर गया था किन्तु कुर्लन और सुलभ-दोषिथ अतः उसी वक्त चेत गया । राजीमती की बातें सुनते ही उसकी आँखें खुल गईं और उसने अपनी निकृष्ट भावनाओं के लिए घोर पश्चात्ताप करते हुए शुद्ध हृदय से क्षमा याचना की तथा उसके पश्चात् घोर तपस्या करके आत्म-कल्याण किया ।

मन की इसी प्रकार की चंचलता का विचार करते हुए भगवान ने उपदेश दिया है कि संसार की जिन वस्तुओं का और भोगों का त्याग कर दिया जाय उन्हें किये हुए वमन के समान मानकर पुनः ग्रहण करने की इच्छा कदापि नहीं करनी चाहिए । आज तक जिन भव्य प्राणियों ने मोक्ष प्राप्त किया है, वह कर्म से, धन से अथवा सन्तान से नहीं अपितु त्याग के द्वारा ही उसे पाया है । इसलिए जिस वस्तु का त्याग कर दिया जाय उसकी पुनः वचन और शरीर से ही नहीं, अपितु मन से भी कामना नहीं करनी चाहिए । त्याग और नियम अंगीकार करने पश्चात् उनका पालन करने से ही कल्याण हो सकता है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि कोई भी व्रत-नियम धारण कर लिया जाय तो फिर चाहे जैसे उपसर्ग और कष्ट क्यों न आये उन्हें छोड़ना नहीं चाहिए । छोटे से छोटा नियम ग्रहण करके भी उन्हें छोड़ने से अनन्त कर्मों का बंध होता है तो फिर चार मन्त्रव्रतों को धारण करके छोड़ने वाले की तो क्या दुर्दशा होमी इसका अनुमान लगाना भी असम्भव है ।

कुण्डरिक और पुण्डरिक के विषय में तो आप जातते ही हैं । पुण्डरिक को राज्य मिलता है तथा कुण्डरिक दीक्षित हो जाते हैं किन्तु वर्षों संयम पालन करने के पश्चात् भी वे विचलित हो जाते हैं तथा नरक के बंध-बांध लेते हैं । ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में तो यहाँ तक वर्णन आता है कि उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान किया था किन्तु कर्मों की गति विचित्र है । स्थविर महाराज के साथ विहार करते हुए उनके शरीर में व्याधि उत्पन्न हो जाती है और उसी नगर में उनका इलाज होता है, जहाँ उनका भाई पुण्डरिक राज्य करता था । राजा ने मुनि कुण्डरिक का इलाज स्थविर महाराज की आज्ञा से किया ।

इलाज होने पर शरीर की व्याधि तो दूर हो गई किन्तु वे खाने-पीने की ममता में ऐसे आसक्त हुए कि साधु धर्म को छोड़कर राज्य ही मांग बैठे। राजा पुण्डरिक ने उन्हें समझाने का बहुत प्रयत्न किया। कहा—

आप तो मुनि हैं, अतः राजाओं के भी राजा हैं। आप त्यागी हैं अतः महाराजा भी आपके चरणों में मस्तक झुकाते हैं।” और भी अनेक प्रकार से कुण्डरिक मुनि को समझाने का प्रयत्न किया। इन्द्रिय-पराजय शतक में एक गाथा दी गई है—

बहइ गोसीस सिरिखण्ड छारकए ।

छगल गहणट्ट मेरावणं दिक्कए ॥

कप्पतथ तोडि एरण्ड सो बावए ।

बुद्धि बिसएहि मणुअन्तणं हारए ॥

अर्थात्—मुनि के समझाने के लिए दृष्टान्त देते हुए कहा है—अगर आपको राख की जरूरत है तो राख तो बहुत मिलती है। उसके लिए इस संयम रूप बावने चन्दन को जलाकर राख करना ठीक नहीं है। जो व्यक्ति ऐसा करते हैं वे बड़ी मूर्खता कर जाते हैं। चन्दन को जलाकर राख करने वाला मूर्ख नहीं तो और क्या कहलायेगा ?

हमारा दृष्टान्त दिया है—बकरे को खरीदने के लिए ऐरावत हाथी को बेचना। यह भी बुद्धिमानी की बात नहीं है संयम ऐरावत हाथी के समान है, उसे देकर बकरा लेना किनारे पर आकर पुनः फिसल जाने के समान है।

तीसरी बात है—कल्पवृक्ष को उखाड़कर एरण्ड का पेड़ लगाना। पूर्व-जन्म के असंख्य पुण्यों के फलस्वरूप तो प्रव्रज्या रूपी कल्पवृक्ष चित्तरूपी आँगन में उगता है किन्तु उसे उखाड़कर अथवा हटकर विषय-कषाय रूपी एरण्ड के वृक्ष को स्थापित करना साधक के लिए हीरे को छोड़कर कंकर को ग्रहण करना है।

चौथी शिक्षा पद्य में दी गई है—थोड़े से विषय सुखों के लिए मनुष्य-जन्म को ही निरर्थक कर देना बुद्धिमानी नहीं है।

इस तरह अनेक प्रकार से कुण्डरिक मुनि को समझाया पर उनके हृदय पर कोई असर नहीं हुआ तथा उन्होंने राज्य-प्राप्ति का आग्रह किया। पुण्डरिक ने आधा ही क्या सम्पूर्ण राज्य ही उन्हें देकर स्वयं साधु का बाना धारण कर लिया और त्याग नियम अपना कर अपनी आत्मा का कल्याण किया। किन्तु कुण्डरिक ने राज्य लेकर अपनी ही आत्मा का पतन किया और सातवें नरक की ओर प्रयाण किया।

उदाहरण का सारांश यही है कि लिए हुए नियम अर्थात् त्याग को हुई वस्तुएँ वमन के समान होती हैं जिनको पुनः ग्रहण करने की कदापि कामना नहीं करनी चाहिए।

आप ग्रहस्थ हैं आप से बड़ा त्याग नहीं होता किन्तु किसी दिन अगर आपने यह नियम ले लिया कि आज मैं हरी सब्जी नहीं खाऊँगा तो वही त्याग छोटा होते हुए भी बड़ा और महत्वपूर्ण हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि जब तक किसी वस्तु का त्याग नहीं किया जाता है उसके सामने आते ही चित्त उसे ग्रहण करने की इच्छा करने लगता है किन्तु त्याग करने के पश्चात् वह वस्तु सामने आए भी तो मन उसे पाने के लिए लालायित नहीं होता। क्योंकि आपकी भावना यही रहती है कि आज मेरे लिये यह त्याज्य है।

व्रत ले लेने पर यह कहना—“अमुक वस्तु का त्याग तो कर दिया पर क्या करूँ अब निभना कठिन है।” यह बड़ी निर्बलता है। अगर ऐसी निर्बलता हृदय में आ जाय तो फिर अपने नियम पर दृढ़ रहना कठिन हो जायेगा। आप व्यापार करते हैं कभी उसमें नफा होता है और कभी घाटा। पर घाटा आने पर उसे छोड़ देते हैं क्या? यही बात चारित्र्य के सम्बन्ध में है। पहले तो चारित्र्य उदय यों ही नहीं आता है। अनन्त पुण्य संचित हों तो चारित्र्य लेने की भावना किसी के हृदय में जागती है और वह व्रत नियम ग्रहण करता है। किन्तु उन अनन्त पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त विद्ये गये चारित्र्य को पुनः त्याग कर देने की वाँछा करना कितनी हीन एवं निकृष्ट भावना है। अधिक त्याग करके उसे फिर ग्रहण करने की अपेक्षा तो थोड़ा त्याग करके उसका ही दृढ़ता से पालन करना ज्यादा अच्छा है।

इस बात को एक गाथा में कहा गया है—

अबले जह भारवाहए
मा भग्गे विसमेऽवगाहिधा ।
पच्छा पच्छाभुताबए,
समर्थं गोयम ! मा पमायए ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १०-३३

अर्थात्—विषय मार्ग में चलता हुआ निर्बल भारवाहक, भार को फेंक कर पीछे से पश्चात्ताप करने लगता है, उसी प्रकार हे गौतम ! तू मत बन अतः इस विषय में समय मात्र भी प्रमाद मत कर।”

जिस व्यक्ति के शरीर में कम शक्ति होती है और वह भार अधिक उठा लेता है अर्थात् पाँच सेर वजन उठाने की ताकत हो पर बीस सेर वजन

अपने शरीर पर लाद कर चल पड़ता है उसे आखिर में भार फेंककर पश्चात्ताप करना पड़ता है। इससे लाभ के बजाय हानि ही होती है। अतः बोझ उताना ही लेना चाहिए जितना उठाया जा सके। यह बात त्याग नियम और महाव्रतों के धारण करने के लिए लागू होती है। अर्थात् त्याग करने से पहले मन को पक्का करके ही उन्हें करना चाहिए और उतना ही त्याग करना चाहिए जो अन्त तक निभाया जा सके। अपनी मन की शक्ति और दृढ़ता से अधिक त्याग कर देना यानि नियम ग्रहण कर लेने में उन्हें निभाना कठिन हो जाता है तथा उन्हें भंग करके घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है। अतः जिस काम का बीड़ा लो, जिसे उठाओ उसे पूरा करने छोड़ो तभी कल्याण ही सचता है। जोश या ओरों की देखा-देखी के कारण शक्ति से अधिक व्रत-नियम ग्रहण करके उन्हें दिना अन्त तक निभाए छोड़ देने से आत्मा का अकल्याण होता है तथा असंख्य कर्मों का बन्धन होता है।

आपने शास्त्रों में अरणक श्रावक तथा कामदेव श्रावक आदि के विषय में पढ़ा होगा वे लोग भगवान महावीर के दर्शनार्थ आये और उनके उपदेश को भी सुना। सुनकर मन में विचार आया—‘भगवान का कथन यथार्थ है, इस संसार में कोई किसी का नहीं है। केवल धर्म आखिरी समय सहारा देने वाला है। इसलिए अनेकों राजा, महाराजा, श्रेष्ठ और बड़े-बड़े महारथी अपना सब कुछ त्यागकर भगवान की सेवा में उपस्थित हुए हैं तथा आत्म-साधना में जुटे हुए हैं। हमें भी इन सांसारिक उलझनों से निकलकर आत्म-कल्याण करना चाहिए।’

इस प्रकार उनके हृदय में विरक्ति की भावना आती है और वे इस सम्बन्ध में सोचते हैं। किन्तु साथ ही अपनी सामर्थ्य पर दृष्टिपात करते हैं कि चारित्र्य धर्म अंगीकार कर तो लें पर उसे निभा सकेंगे या नहीं? विचार करते-करते आनन्द जी ने निश्चय लिया—अभी मेरा चारित्र्य धर्म ग्रहण करना उचित नहीं है। भावना है पर उतनी सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि मेरे पास चार गोकुल हैं, पाँच सौ हल चले उतनी पृथ्वी है, चार करोड़ सोनैया जमीन में हैं, चार करोड़ घर के पसारे में और चार करोड़ व्यापार में तथा अनेकों जहाज हैं। ऐसी स्थिति में मेरा समय ग्रहण करना उचित नहीं है अतः ठीक यही है कि मैं श्रावक के बारह व्रत धारण करूँ। अपने विचारानुसार उन्होंने श्रावक के व्रत ही धारण किये। पर उन्हें निभाया किस प्रकार ?

अरणक श्रावक को देवता ने परीक्षा लेने के लिए नाना प्रकार से सताया, उनके जहाज को समुद्र में डुबा देने की धमकियाँ दीं, यहाँ तक कि उन्हें मार डालने का भी डर दिखाया। किन्तु वे अपने धर्म से रंचमात्र भी नहीं डिगे।

मर जाना तथा सर्वस्व का विनाश हो जाना कबूल कर लिया किन्तु धर्म का त्याग नहीं किया। समुद्र में जो उनके अनेकों साथी थे उन सब ने तो कह दिया—“अरणक श्रावक धर्म को नहीं त्यागते तो न सही हम सब उसे छोड़ने के लिए तैयार हैं।” किन्तु देवता थककर उन लोगों से यह कहकर चल दिया कि तुम लोगों में धर्म है ही कहाँ ? वह तो केवल अरणक श्रावक में ही है।

कहने का अभिप्राय यही है कि भले ही संयम ग्रहण न किया जाय, बारह व्रत भी न लिये जाय किन्तु छोटा सा एक व्रत भी ग्रहण करके उसे पुनः खंडित नहीं करना चाहिए। त्यागी हुई वस्तु, त्यागा हुआ भोग वमन के समान समझ कर पुनः उसके नजदीक आने की इच्छा करना साधक के लिए घृणित और निषिद्ध है।

बन्धुओ प्राचीन समय में श्रावक कितने दृढ़ हुआ करते थे अतुल वैभव होते हुए भी बारह व्रत तो अंगीकार करते ही थे साथ ही उनका पालन भी मृत्यु तक की परवाह न करते हुए करते थे। उनके मुकाबले में आज आपके पास कितनी सामग्री है ? फिर भी क्या आप कोई व्रत ग्रहण करते हैं ? कितने नियम हैं आपके ? पुराने श्रावक एक महीने में छः-छः पौषध कर लिया करते थे पर आप क्या एक भी कर पाते हैं ? नहीं क्योंकि उनके लिए ऐश-आराम और इन्द्रिय सुबुओं का त्याग करना पड़ता है। त्याग के महत्व को आप समझते नहीं हैं, उस पर विश्वास नहीं करते हैं। अन्यथा जान पाते कि दृढ़तापूर्वक त्याग करने से अन्त में मोक्ष प्राप्ति भी हो सकती है।

भगवद्गीता में कहा गया है—

‘त्यागाच्छान्तिरनन्तम्’

—इच्छापूर्वक प्राप्त भोगों के परित्याग का अन्तिम परिणाम “अनन्त शांति” है।

इसीलिए मुमुक्षु प्राणी संसार के दुःखों से घबराकर सर्वदा यही भावना पाते हैं।—

सर्प सुमन को हार उग्र बंदी अरु सज्जन ।
 कंचन मणि अरु लोह कुसुम शय्या अरु पाहन ॥
 तृण अरु तरुणी नारि सवन पर एक दृष्टि चित ।
 कहूं राग नहिं रोष द्वेष कितहूं न कहूं हित ॥
 हूं हैं कब मेरी यह दशा-गंगा के तट तप जपत ।
 रस भीने दुर्लभ दिवस थे, बीतेगे ‘शिव-शिव’ रटत ॥

मोक्ष की सच्चे हृदय से कामना करने वाला भव्य प्राणी अपने हृदय से राग और द्वेष का सर्वथा नश करके तथा उनका सर्वथा त्याग करके इतना समभाव अपने हृदय में लाना चाहता है कि चाहे उसके गले में पुष्पों का हार हो अथवा सर्पों का हार समान मालूम हों। कंचन हो या लोहा तथा फूलों की शैथ्या हो या पत्थर की शिला एक जैसी महसूस हों। दृष्टि के सामने चास का तिनका हो या रत्ति के समान सुन्दर नारी, दोनों पर समान दृष्टि पड़े। किसी से भी न प्रेम रखे और न किसी से कटु बात कहे।

इस प्रकार मोह-ममता तथा राग और द्वेष का त्याग करके वह चाहता है कि मैं इस प्रकार विरक्त बनकर पतित पावनी गंगा के किनारे पर बैठकर जप-तप करके अपना समय व्यतीत करूँ। वह कहता है—हे भगवान् ! मेरी ऐसी स्थिति कब आएगी, जबकि मैं अपने जीवन के अत्यन्त दुर्लभ दिन 'शिव, शिव' करते हुए व्यतीत करूँगा।

सारांश यही है कि अग्नी आत्मा का हित चाहने वाले प्राणी को अधिक से अधिक न्याग करने की भावना रखनी चाहिये, लेकिन क्रमशः त्याग नियम उत्पन्न ही अंगीकार करना चाहिए जितना पूर्णतया निभाया जा सके। कोई भी व्रत धारण करते समय हृदय निश्चय और पूर्ण विचार कर लेना चाहिए कि यह मुझसे निभ सकेगा या नहीं। पूर्ण विचार पूर्वक काम न करने पर वह पूरा नहीं पड़ता तथा खंडित हो जाने पर अन्त में उसके लिए पश्चात्ताप करना पड़ता है।

सन्न महापुरुष सदा यही उपदेश देते हैं कि दुनियादारी की मोह-माया को कम करते हुए आत्म-साधना में लगे, जितना बन सके उतना त्याग-नियम करो पर उसका पूर्णतया पालन करो। उनके अनुभव कहते हैं—

जगत में झूठी देखी प्रीत ।

अपने ही सुख सों सब लागे, क्या दारा क्या मोत ॥

कहा गया है—इस जगत में मैंने अच्छी तरह देखा है कि प्रेम या प्रीत सब झूठ है। किसी का भी किसी के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। सब अपने-अपने स्वार्थ के लिए मुहूर्त प्रदर्शित करते हैं। किन्तु जब स्वार्थ साधन होना बन्द हो जाता है तो आँखें फेर लेते हैं। एक दृष्टान्त इस विषय में दिया गया है—

मां का प्रेम भी झूठा है

एक स्थान पर पंडितों की सभा थी। उसमें वे इसी बात पर बहस कर रहे थे कि संसार का प्रत्येक प्राणी स्वार्थी है। बिना स्वार्थ के कोई भी किसी से प्रेम नहीं करता। किन्तु एक पंडित ने कहा— 'यह गलत है और किसी का

प्रेम सच्चा हो या न हो, माता का प्रेम झूठा नहीं होता। वह प्राण देकर भी अपने पुत्र की रक्षा करती है। किन्तु दूसरे ने इस बात को नहीं माना और वह कहने लगा—“नहीं माता भी समय आने पर अपने पुत्र को छोड़कर अपने प्राण बचाती है।” पर पहले पंडित ने अब इस बात को नहीं माना तो दूसरे ने कहा मैं प्रत्यक्ष बताता हूँ।

उसने दो हीज खुदवाए। एक हीज में पानी भरवा दिया और दूसरे कोस खाली रखा। किन्तु खाली हीज में दूसरे हीज का पानी आ सके ऐसा छेद करवा लिया। खाली हीज में एक बंदरिया और उसके बच्चे को रख दिया। उसके पश्चात् भरे हुए हीज का छेद खोल दिया जिससे धीरे-धीरे पानी खाली हीज में आने लगा।

जब पानी थोड़ा भरा और बच्चा उसमें डूबने लगा तो बंदरिया ने अपने बच्चे को ऊपर उठा लिया किन्तु जब और पानी बढ़ा और स्वयं बंदरिया डूबने लगी तो उसने बच्चे को छोड़ दिया और स्वयं उछलकर अपनी जान बचाने की कोशिश करने लगी।

सभी के प्रेम को स्वार्थमय बताने वाले पंडित ने कहा—“देखो, अपनी जान बचाने के लिए इस बंदरिया ने माता होकर भी अपने बच्चे को छोड़ दिया है और अपनी जान बचाने की कोशिश कर रही है। यदा ऐसा ही होता है। घर में आग लग जाती है तो माँ-बाप भी दौड़कर बाहर आ जाते हैं और फिर चीखते हैं—“हमारा बच्चा तो अन्दर ही रह गया, बचाओ उसे।”

इस प्रकार महापुरुष संसारी संबन्धियों के स्वार्थ का दिग्दर्शन कराते हैं, पर फिर भी मन के न चेतने पर उसकी भत्सना करते हुए कहते हैं—

मन मूरख अजहं नहिं समझत, सिल्ल बे हार्यो नीत।

जगत में झूठी बेखी प्रीत !

अर्थात्—अरे मूर्ख मन ! तू थोड़ा तो समझ। नाना प्रकार की नीतिपूर्ण शिक्षाएँ दे-देकर मैं थक गया पर अभी भी तुझे अकल नहीं आई। तू कैसा है ? जगत का व्यवहार देख-देखकर भी सावधान नहीं होता। अपना पेट तो पशु भी भर लेता है पर दिमाग से काम नहीं लिया तो फिर तू इन्सान कैसा?

तीन प्रकार के मनुष्य

मनुष्य को अगर श्रेणियों में विभक्त किया जाय तो तीन प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी का मनुष्य पशुवत् होता है जैसे हमाल। हमाल अर्थात् कुली। कुली दिन भर पशु के समान बोझा होता फिरता है और उनसे चन्द पैसे पाकर पेट भर लेता है। वह चिन्तन-मनन नहीं कर पाता क्योंकि

उसके दिमाग में शक्ति नहीं होती बुद्धि नहीं होती। बुद्धि के अभाव में उसका विवेक जागृत नहीं हो पाता तथा अपनी आत्मा की शक्ति और उसके स्वरूप को जानने का वह प्रयत्न नहीं कर सकता।

दूसरे प्रकार का व्यक्ति का-गीर के समान होता है। वह कुछ शरीर से काम लेता है और कुछ दिमाग से। दिमाग से काम लेता हुआ वह संसार के स्वरूप को समझता है किन्तु अज्ञान और मिथ्यात्व के अन्धकार में भटक जाता है तथा कर्तव्य के स्थान पर अकर्तव्य करने लगता है। आत्म-साधना के लिए भी वह क्रियाएँ करता है किन्तु सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् ज्ञान न होने के कारण वे क्रियाएँ बनावटी और विवेक रहित साबित होती हैं तथा वे लक्ष्य की सिद्धि नहीं करा सकतीं।

तीसरे प्रकार का व्यक्ति कल कार के समान होता है। जिस प्रकार कलाकार अनेक प्रकार की कलाएँ दिखाता है, थोड़े खर्च में भी विशेष प्रकार की कुशलताएँ लोगों के सामने रखता है, उसी प्रकार कलाकार के समान बन जाने वाला व्यक्ति शरीर, दिमाग और अन्तःकरण से भी काम लेता है। उसका विवेक जागृत रहता है अतः वह भोगों को हेय समझकर उनका त्याग करता जाता है। अन्तःकरण में विवेक जागृत रहने के कारण वह सत्य-असत्य की पहचान कर लेता है तथा कलाकार के समान सत्य को अपने जीवन में उतारता हुआ अपने चारित्र्य को निष्कलंक बनाता है। उसे सच्चे देव, गुरु तथा धर्म पर पूर्ण विश्वास होता है अतः उसकी साधना मुक्ति की सही दिशा की ओर बढ़ती जाती है। अपने शरीर को वह आत्मा का कारागार समझता हुआ ऐसे शुभ अवसर और समय की प्रतीक्षा में रहता है कि कब मेरी आत्मा इस कैद से मुक्त हो तथा पुनः किसी भी शरीर रूपी पिंजरे में कैद न हो पाए।

वह संसार में रहता है, संसार की सुख-सामग्रियों का उपभोग भी करता है किन्तु पूर्णतया निर्विकर भाव से। क्योंकि वह इस बात पर विश्वास करता है कि जब तक मेरे कर्मों की स्थिति या अवधि पूर्ण नहीं होगी, तब तक मेरी आत्मा को विवश होकर संसार-भ्रमण करना पड़ेगा। ऐसा विचार कर वह सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति में सुख और उनके वियोग से दुःख का अनुभव नहीं करता।

एक विद्वान ने कहा भी है—

उत्तमः क्लेश-विक्षोभं सोढुं शक्तो नहीतरः ।

मणिरेव महाज्ञानघर्षणं, न तु मृदकणम् ॥

—उत्तम पुरुष ही दुःख और शोक को सहने में समर्थ होता है, अधम मनुष्य नहीं। जैसे मणि खराद के घर्षण को सहन कर सकता है, मिट्टी का तैला नहीं।

जिस प्रकार सच्चा कलाकार प्रतिमा के निर्माण में भावों को भी बड़ी बारीकी से अंकित कर सकता है, उसी प्रकार सच्चा विवेकी अपनी आत्मा में बारीकी के साथ प्रत्येक सद्गुण एवं प्रत्येक कल्याणकारी भावना को समाहित कर लेता है। परिणाम यह होता है कि उसकी आत्म-शक्ति दृढ़ से दृढ़तर बनती जाती है तथा वह क्रमशः हेय विषयों का त्याग करता जाता है और त्यागे हुए विषयों को वमन के समान समझकर पुनः कभी भी उन्हें ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता।

और तो और वह मृत्यु की भयंकरता को भी जीत लेता है। मृत्यु को वह दुःखदायी और शोक का कारण नहीं मानता अपितु एक साधारण और स्वाभाविक क्रिया मानता है। अपने पुराने और जीर्ण शरीर का त्याग करना वह पुराने और जीर्ण वस्त्र का त्याग करने के समान समझता है। परमार्थ दृष्टि से विचार करके वह मृत्यु के आने पर रोता नहीं, चीखता-चिल्लाता नहीं, वरन पूर्ण निर्भयतापूर्वक उसका सामना करता हुआ कहता है—

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द ।

मरने ही ने पाइये, पूरण परमानन्द ॥

वह कहता है—संसार के वे लोग अज्ञानी हैं जो मरने से डरते हैं। मेरे हृदय में तो उसके आगमन की अपार खुशी है क्योंकि मरने पर ही तो मैं पूर्ण और परमानन्द को प्राप्त कर सकूँगा।

तो विवेकी तथा अपनी आत्मा के स्वरूप को समझने वाला तथा अपनी आत्म-शक्ति पर विश्वास करने वाला व्यक्ति मृत्यु से तनिक भी नहीं डरता और अपने आपको इस संसार में एक अभिनेता मानकर जिस तरह स्टेज से अभिनेता अभिनय करके सहर्ष उतर जाता है उसी प्रकार विवेकी व्यक्ति भी इस संसार को स्टेज मानकर अपने सम्पूर्ण जीवन को ही अभिनय जानकर मृत्यु के बहाने इसे छोड़ जाता है।

श्री भर्तृहरि ने यही बात अपने एक श्लोक में बड़े सुन्दर ढंग से कही है। श्लोक इस प्रकार है—

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः ।

क्षणं विसर्हिनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः ॥

जराजीर्णरगनंद इव बाली-मण्डित तनु—

नरः संसारान्ते विशति यमधानियश्नतिकाम् ॥

अर्थात् मनुष्य नाटक के अभिनेता के समान है, जो क्षण भर में बालक, क्षणभर में युवा और कामी रसिया बन जाता है तथा क्षणभर में दरिद्र और क्षण में धन व ऐश्वर्य से पूर्ण हो जाता है। उसके पश्चात् भ्रत में बुढ़ापे से जीर्ण और सिकुड़ी हुई खाल का रूप दिखाकर, यमराज के नगररूपी पर्दे की धोट में छिप जाता है।

इस प्रकार बंधुओ, यह संसार एक नाट्यशाला है और प्राणी इसमें अभिनय करने वाले अभिनेता। जो भव्य पुरुष इस सत्य को समझ लेते हैं वे इसे यथार्थ मानकर इसमें आसक्त नहीं होते तथा प्रतीक्षण अपने अभिनय को समाप्त करने के लिए तैयार रहते हैं।

किन्तु ऐसी शक्ति मानव में कब आती है? जब वह सच्चे कलाकार के समान धर्म को अपने जीवन में उतार लेता है, तथा अपने शरीर, दिमाग और अन्तःकरण से काम लेता है। जो त्याग और नियमों को अपनाता है तथा उन पर पूर्णतया टढ़ रहता है। एक बार किसी भी वस्तु का तथा विषय-भोगों का त्याग करने के पश्चात् उनकी ओर फिरकर भी नहीं देखता। त्याग हुए भोगों को वमन के समान समझता है और उनसे पूर्णतया नफरत रखता हुआ अपने आत्म-साधना के पथ पर अविचलित कदमों से बढ़ता जाता है। ऐसा व्यक्ति ही अपने सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा करके अनन्त एवं अक्षय सुखों की प्राप्ति करके संसार-भ्रमण से मुक्त हो जाता है।





२४ रुको मत, किनारा समीप है

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

आज का विषम मैं भी उत्तराध्ययन सूत्र की एक गाथा से प्रारम्भ कर रहा हूँ। गाथा इस प्रकार है :—

त्तिष्णो ह्यसि अष्णवं महं,
किं पुण चिद्दृशसि तीरमागमो ।
अमितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयस ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १०—३४

इस गाथा में भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया है—हे गीतम ! तू अति विस्तृत संसार समुद्र को तीर गया है, फिर तीर को प्राप्त करके अब क्यों खड़ा है ? पार जाने के लिए शीघ्रता कर। इस विषय में समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

कहने का आशय यही है कि जीव चारों गतियों में जो चौरासी लाख योनियाँ हैं उनमें अनंत काल से जन्म-मरण करता चला आ रहा है और अब असंख्य पुण्यों के फलस्वरूप उसे मानव-पर्याय प्राप्त हुई है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है चार गति और चौरासी लाख योनियों रूपी यह जो असीम संसार-सागर है इसमें अब मानव-जन्म रूपी किनारे पर आ गया है। यह मानव-जन्म ऐसा जन्म है कि अब यह चाहे तो शीघ्र ही इसके किनारे तक पहुँचकर शिवपुर को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि मानव-जन्म के अलावा और कोई पर्याय ऐसी नहीं है, जिसमें रहकर जीव आत्मा के कल्याण के लिये प्रयत्न कर सके। स्वर्ग के देवता भी अपार सुखों का भोग करते हैं, शक्तिशाली और ज्ञानवान भी होते हैं किन्तु वे भी आत्म-मुक्ति के लिये साधना करने में समर्थ नहीं हो पाते। वे केवल पूर्वकृत पुण्यों का उपभोग ही करते हैं तथा मानव जन्म पाने के लिये तरसते हैं क्योंकि आध्यात्मिक

दृष्टिकोण से अमर विचार किया जाय तो सर्वज्ञ प्रभु के कथनानुसार चरम सीमा का आध्यात्मिक विकास केवल मनुष्य ही कर सकता है। सांसारिक सुखों के लिहाज से यद्यपि देवताओं को मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त हैं किन्तु आत्म-साधना की दृष्टि से देवता नगण्य साबित होते हैं। वे अधिक से अधिक चार गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं किन्तु मानव चौदह गुण स्थानों को ही पार करके परमात्म पद को पा सकते हैं।

इसीलिए मानव जन्म को अत्यन्त महिमामय तथा संसार-सागर का किनारा माना जाता है। यों तो संसार में अनन्त प्राणी हैं किन्तु मनुष्य के पास विवेक, बुद्धि और अन्तःकरण है विचार करने की ओर वाणी के द्वारा व्यक्त करने की अनुपम शक्ति है। इसी के कारण वह जीव-जगत का शिरोमणि और संसार-सागर का किनारा कहलाता है। मानव अपने जीवन का उद्देश्य लोक-परलोक, पाप और पुण्य तथा नरक निगोदादि के दुःखों का ज्ञान करता हुआ अपने हृदय में शुभ भावनाएँ रखता हुआ आत्म-मुक्ति के लिये प्रयत्न कर सकता है। भव्य प्राणी सदा यह भावना रखता है :—

कब दुःखदाता यह आरत तजूँगो दूर,
कब धन धामतों ही ममत मिटाऊँगो।
कब विष तुल्य जानो, त्यागूँगो विषय राग,
कब मैं विषय जीती ज्ञान उर लाऊँगो ॥
कब हों प्रमाद मद छोरिके करूँगो धर्म,
स्थिर परिणाम करी, भावना सो भाऊँगो।
कहे अमीरिस ममोरथ यों चित्तारे भवि,
घन्य वह दिन घड़ी, सफल कहाऊँगो ॥

इस प्रकार जिसे मानव-जन्म रूपी सर्वोत्तम पर्याय और संसार रूपी सागर का किनारा मिल गया है उसे तनिक भी प्रमाद न करके सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् चारित्र्य की आराधना करते हुए प्रतिक्षण मन में यही भावना रखनी चाहिये—“मैं कब आर्त-ध्यान का त्याग करके धन, धान्य, मकान तथा समस्त वैभव से ममत्व हटाऊँगा? मैं कब विषयों को विष के समान समझकर इनका त्याग करूँगा तथा हृदय में ज्ञान की ज्योति जगाऊँगा? कब मैं प्रमाद एवं अहंकार का त्याग करके धर्म को हृदय में धारण करूँगा तथा अपने परिणामों को स्थिर रखता हुआ शुभ भावनाओं को चित्त में स्थान दूँगा।

पूज्य-पाद श्री अमीरुधिरजी कहते हैं—भव्य प्राणी यही सोचता है कि

कब वह शुभ घड़ी और शुभ दिन आयेगा जबकि मैं अपने मनोरथों की पूर्ति करके अपने जीवन को सफल बनाऊँगा ?

तो बन्धुओ, प्रथम तो अनन्तकाल तक नाना योनियों में नाना कष्ट सहकर जीव बड़ी कठिनाई से मनुष्य जीवन को प्राप्त करता है और फिर अगर समस्त सांसारिक प्रलोभनों से बचकर तथा समस्त सम्बन्धियों से ममत्व हटाकर पांच महाव्रत धारण करके साधु बन जाता है तो फिर संसार सागर का किनारा प्राप्त कर लेने में और क्या कसर रह जाती है ? कुछ भी नहीं।

इसीलिये, भगवान महावीर गौतमस्वामी को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि हे गौतम ! तुम इस असीम संसार को तैरकर इसके किनारे तक तो आ गये हो अतः बिना प्रमाद किये भीष्म ही बाहर आने का प्रयत्न करो। यही जीवन का वास्तविक उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में मानव-जीवन का उद्देश्य आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझकर उसे कर्मों से मुक्त करके अव्याबाध शान्ति एवं अक्षय सुख प्राप्त करना है और इसीलिये इस मानव-जन्म रूपी संसार सागर के किनारे को प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य के समस्त प्रयत्न, पुरुषार्थ तथा साधनाएँ ऐसी होनी चाहिये जो उस अनन्तसुख की प्राप्ति में सहायक बन सकें।

किस मार्ग पर चलना है ?

प्रश्न उठता है कि आत्म-मुक्ति के लिये मनुष्य को क्या करना चाहिये, कौन-सी क्रियाएँ करनी चाहिये तथा कौन-सा मार्ग अपनाता चाहिये। इस विषय को एक उदाहरण से समझा जा सकता है।

एक सन्त के आश्रम में उनके कई शिष्य उनसे विद्याध्ययन किया करते थे। कई वर्ष तक यह क्रम चलता रहा तथा अनेक शिष्य अपने गुरु की अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर अपने-अपने घर चले गए।

किन्तु एक शिष्य करीब बारह वर्ष तक उनके आश्रम में रहकर भी गुरुजी की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सका। यह देखकर गुरु को शिष्य पर बड़ी क्षुब्धता हुई। वे बोले—'तू इतने वर्ष तक मेरे पास रहकर भी ज्यों का त्यों ही है। न शास्त्रीय ज्ञान ही हासिल कर सका है और न ही कुछ भी कण्ठस्थ कर पाया है। आखिर कब तक तू इस प्रकार यहाँ रहेगा।'

शिष्य बड़ी नम्रता से बोला—'भगवन् ! मेरे अपराध क्षमा कीजिए। मैं आपके पास रहकर कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका, इसका मुझे बड़ा दुःख है। पर आप यही समझकर मुझे अपने चरणों में रहने दीजिए कि आपकी वृद्धावस्था में सेवा करने के लिये कोई न कोई चाहिये और मैं वही हूँ।' गुरु उसकी नम्रता पर पिघल गए और चुपचाप रहे।

कुछ दिन इसी प्रकार निकल गए। शिष्य बड़ी लगन से गुरुजी की सेवा करता रहा। एक दिन गुरुजी स्नान कर रहे थे और शिष्य उनकी पीठ को हाथ से मसल-मसल कर धो रहा था। अचानक वह बोल पड़ा—“मन्दिर तो बड़ा है पर इसमें भगवान कहीं दिखाई नहीं देते।”

गुरु ने ये शब्द सुने तो उन्होंने अपने लिए ही यह बात समझी और अपने शिष्य पर अत्यन्त क्रोधित हुए। बोले—“तू कौसा नमकहराम है? मेरे पास वर्षों से रहकर मेरा ही अपमान कर रहा है? आज ही मेरे आश्रम से निकल जा।” कहने के साथ-साथ ही उन्होंने उसे आश्रम से निकाल दिया।

शिष्य गुरु के द्वारा निकाल दिये जाने पर भी पूर्ववत् मुस्कराता रहा और आश्रम के बाहर ही झोंपड़ी बनाकर उसमें रहने लगा। किन्तु वह जब तक आकर अपने गुरु के दर्शन कर जाता था।

इसी प्रकार एक दिन वह गुरुजी के दर्शनार्थ आया। उसने देखा गुरुजी तो अपने सामने कोई ग्रन्थ रखे उसका पाठ कर रहे थे और एक मक्खी खिड़की के काँच से बाहर का दृश्य देखती हुई काँच से बार-बार अपने सिर को टक्कर मार-मार कर अपने आपको परेशान कर रही है।

क्षण भर शिष्य गुरुजी के पीछे खड़ा रहा और बोला—“Stop and see back.” अर्थात्—ठहरो और पीछे देखो !

गुरुजी अचानक आए हुए शिष्य की बात सुनकर पुनः चमत्कृत हुए पर क्रोधित न होकर विचार करने लगे—“आखिर इसने ऐसी बात किस प्रकार कह दी है? क्षण-भर चुप रहकर उन्होंने पूछा—“तूने यह बात कैसे कही?”

शिष्य बोला—“गुरुदेव ! यह मक्खी काँच में से बाहर जाने के लिये परेशान हो रही है पर यह नहीं जानती कि मेरा मार्ग यह नहीं है, मैं जहाँ से आई हूँ वहीं मुझे लौटना है।”

गुरुजी शिष्य की बात समझ गये और बोले—“वत्स; मैं अब तक भ्रम में था कि तुमने इतने वर्षों में भी कुछ सीखा नहीं। पर मैं समझता हूँ कि तुमने जो सीख लिया है और जान लिया है वह अब तक और कोई भी मेरा शिष्य नहीं सीख पाया। तुमने मुझे भी आज सही मार्ग बता दिया है।

बन्धुओ, आप भी समझ गए होंगे कि शिष्य की बात में क्या रहस्य था? वह यही बताना चाहता था कि शास्त्रों के स्वाध्याय और अनेक ग्रन्थों के पठन-पाठन में कुछ नहीं होने वाला है। कर्मों से छुटकारा तो तभी मिलेगा जबकि इन सबसे मुँह मोड़कर आत्मा में झाँका जायेगा या आत्मा में रमण किया जायेगा। जिस प्रकार अपने ही घर में पहुँचने के लिए आप बाहर नहीं निकल जायेंगे तो आपका घर दूर से दूर होता जायेगा। इसी प्रकार आत्मा को शुद्ध और निर्मल बनाने के लिये बाह्य-क्रियाएँ करते रहने से कुछ लाभ

नहीं हो सकेगा। आत्मा को ऊँची बढ़ाने के लिये आत्मा में पहुँचने का मार्ग ही ग्रहण करना होगा।

आज हम देखते हैं कि मनुष्य तीर्थ-यात्रा करता है, मन्दिरों में जाकर घण्टों पूजा करता है। आज भी स्थानक में आकर सामायिक, प्रतिक्रमण और पीपल करतें हैं, किन्तु क्या यहीं मार्ग आत्मा को शुद्ध बनाने का है? नहीं, जब तक हम अपनी आत्मा की ओर नहीं आएँगे, उसमें भरे हुए विषय-वषय को नष्ट नहीं करेंगे, वासनाओं के कचरे को साफ नहीं करेंगे, संक्षेप में अपनी आत्मा की कमजोरियाँ और दोषों को दूर न करके औरों के अवगुण रखते रहेंगे तथा ओरों की निन्दा व आलोचना करते रहेंगे, तब तक आत्म-करुणा होना असम्भव है।

शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखो !

कहा जाता है कि एक शिष्य ने अपने गुरु से वर्षों तक ज्ञान तो प्राप्त किया ही, साथ ही उनकी इतनी सेवा की कि गुरुजी ने उसे प्रसन्न होकर एक ऐसा दर्पण प्रदान किया जिसके द्वारा वह प्रत्येक व्यक्ति के मन का प्रत्येक भाव उसमें झलक उठता था।

शिष्य दर्पण पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने परीक्षा करने के लिए दर्पण का मुँह अपने गुरुजी की ओर कर दिया। पर वह देखता क्या है कि उसके गुरु के मन में अहंकार, क्रोध, मोह, लोभ तथा वासना आदि के कीटाणु अनेक कोनों में कुलबुला रहे हैं।

शिष्य यह देखकर दंग रह गया और सोचने लगा—मेरे गुरुजी के हृदय में भी यह सब विकार है क्या? पर दर्पण स्पष्ट सब बात बता ही रहा था अतः उसका मन गुरुजी से विमुख हो गया और वह उनके पास से चल दिया।

दर्पण उसके पास ही था। अतः अब वह जहाँ-जहाँ जाता प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष शीशे का मुँह कर देता और देखता कि किसी भी व्यक्ति का दिल साफ नहीं है। प्रत्येक के हृदय में ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, छल, कपट और धोखा आदि भरा पड़ा है। यह सब देखकर वह हैरान और परेशान हो गया तथा घबराकर पुनः कुछ दिन पश्चात् अपने गुरु के पास आकर बोला—

“गुरुदेव ! यह क्या बात है कि संसार के जितने भी व्यक्तियों के मनों को मैंने इस दर्पण से देखा है सभी के दिलों में नाना प्रकार के दोष भरे पड़े हैं। किसी का भी तो हृदय साफ और पाप रहित नहीं है? क्या संसार में सभी ऐसे हैं? किसी का भी दिल पवित्र नहीं है?”

गुरुजी शिष्य की बात सुनकर मुस्कराए और उन्होंने अपने शिष्य का वह हाथ जिसमें दर्पण था पकड़ लिया तथा उस दर्पण का मुँह स्वयं शिष्य की ओर कर दिया।

शिष्य ने प्रथम बार उस दर्पण में अपने मन का चित्र देखा। पर वह दंग रह गया यह देखकर कि स्वयं उसके मन का प्रत्येक कोना क्रोध, मान, माया, लोभ, अहंकार, राग, द्वेष तथा ईर्ष्या आदि से भरा पड़ा है। वह बहुत ही हैरान होकर बोला—“महाराज ! यह क्या बात है ? मेरा हृदय तो सभी के हृदयों से ज्यादा बुरा दिखाई देता है ?”

गुरु ने सस्नेह शिष्य की ओर देखते हुए कहा—“बेटा, यह दर्पण मैंने तुम्हें दूसरों के मन की बुराइयाँ देखने के लिए नहीं अपितु अपने मन की बुराइयों और दोषों को देखने के लिए दिया है। अतः इसमें तुम अपने मन को देखा करो और उसे देख-देखकर बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया करो।”

तो बन्धुओ, यह उदाहरण हमें यही बताता है कि हमारी दृष्टि केवल अपनी आत्मा की ओर होनी चाहिए। हमें अपने मन के दोषों को देखकर उनका निवारण करना चाहिए तथा आत्मा को अधिक से अधिक निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यही आत्मा की मुक्ति का सीधा और सच्चा मार्ग है।

जो व्यक्ति अभी बताए गए उदाहरण के अनुसार उस शिष्य की तरह जो दर्पण में केवल दूसरों के मन की बुराइयों को देखा करता था कभी भी स्वयं अपनी आत्मा से बुराइयों को निकाल नहीं सकता। वह अपनी समस्त शक्ति औरों की निन्दा, आलोचना करने में व्यर्थ खर्च कर देता है कि इस सबका त्याग करके अगर वह केवल अपनी ही कमी और बुराइयाँ देखता है तो क्रमशः अपनी आत्मा को निर्मल बनाता चला जाता है।

वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई दोष होता है किन्तु जो व्यक्ति अपनी कमी को कमी नहीं मानता वह कभी अपनी आत्मा को निर्मल नहीं बना सकता पर इसके विपरीत जो अपनी प्रत्येक कमी को बड़ी मानकर उसे आत्मा से निकालने का प्रयत्न करता है वही आत्म-कल्याण के मार्ग पर चल सकता है।

महात्मा कबीर ने तो कहा है—

निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छबाय ।

बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय ॥

क्या कहा है ? कहा है जिस प्राणी को अपनी आत्मा को शुद्ध करने की लगन हो उसे तो यह चाहिए कि वह अपनी निन्दा करने वाले अथवा अपनी गलतियाँ व दोषों का दिग्दर्शन कराने वाले व्यक्ति को सदा अपने समीप रखना चाहिये ताकि उसके बताते ही वह अपने दोष का परिमार्जन कर सके।

कवि का कथन सत्य भी है क्योंकि जिस व्यक्ति को अग्ने दुर्गुणों का पता नहीं चलता वह उन्हें दूर कर भी कैसे सकता है ! अपने शरीर की और वस्त्रों की गन्दगी का जिन्हें पता नहीं चले, वह इन्हें साफ कैसे करेगा ? इसीलिए महापुरुष कहते हैं—निन्दा करनी है तो अपने अवगुणों की करो और प्रशंसा करनी है तो दूसरों के गुणों की करो। अर्थात् अपने अवगुणों को और दूसरों के गुणों को ही देखो। ऐसा करने पर ही जीवन उन्नत और पवित्र बन सकता है।

अपनी कमियों का निरीक्षण और उनका संशोधन ही आत्म-शुद्धि के मूल मन्त्र हैं। जब व्यक्ति में ये दोनों प्रवृत्तियाँ पनप जाती हैं तभी वह आत्मोत्थान के मार्ग पर बढ़ सकता है तथा संसार-सागर के इस मनुष्य जन्म रूपी किनारे से तनिक सा आगे बढ़कर ही शिवपुर पहुँच सकता है।

आज के मेरे कथन का सारांश यही है कि बन्धुओं, यह मानव जन्म अत्यन्त दुर्लभ है और अन्त पुण्यों के उदय से प्राप्त हुआ है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह जन्म ही ऐसा है जिसमें मनुष्य अपनी आत्मा के स्वरूप को समझकर उसे कर्म-मुक्त कर सकता है। तथा भली-भाँति समझ सकता है कि सच्चा मोक्ष केवल आत्मा का निर्मल होना है। उसके लिए कहीं भी बाहर जाने की तथा बाह्य आडम्बर करने की आवश्यकता नहीं है। कहा भी है—

मुक्तिपुरी तेरे मन में बाबा, दूँढ़े कहीं गगन में।
स्वर्ग नरक के आँगन में बाबा, दूँढ़े कहीं गगन में ?
है विवेक की पहरेदारी पाप नहीं आ पाते।
द्रोह, मोह, अज्ञान, असंयम; दूर खड़े सकुचाते।
शुचिता रमी यहाँ कण-कण में—बाबा दूँढ़े कहीं गगन में ?

कितनी सुन्दर और मामिक बात है। कवि का कथन है—अरे भोले प्राणी ! जिस मोक्ष की प्राप्ति के लिए तू जमीन आसमान एक कर रहा है तथा सोच रहा है कि वह बहुत ऊपर है, वह तो तेरी ही अपनी आत्मा में निहित है। आत्मा की पूर्णतया कर्म रहित अवस्था से अन्य भी कहीं मुक्तिपुरी है क्या ? तू क्यों भूल जाता है कि स्वयं स्वर्ग भी तो तेरे अन्तःकरण रूपी आँगन में नृत्य कर रहा है। फिर तू स्वर्ग और मोक्ष को कहीं दूँढ़ता है ?

अगर तेरा हृदय सरलता, शुद्धता और विषय विकारों से रहित है और उस पर भी सद्विवेक सजग और सतर्क रहकर उसकी पहरेदारी कर रहा है तो पापों का अन्तःकरण में प्रवेश होना संभव नहीं है। हृदय के कण-कण में

जब पवित्रता रम रही है और समस्त अन्तःकरण निर्मल भावों से भरा हुआ है तो भली-भाँति समझ ले कि अज्ञान, असंयम, मोह तथा वैर-विरोध संकुचित होकर भय के कारण दूर ही रहेंगे तथा तेरे अन्दर प्रवेश करने का साहस नहीं कर पायेंगे ।

कवि ने आगे के पद्य में सच्चे साधक अन्तःकरण को एक व्यवस्थित दरबार के रूप में चित्रित करते हुए कहा है—“तेरे मन के सुन्दर सिंहासन पर सत्य रूपी राजा एवं अहिंसा रूपी महारानी प्रतिष्ठित है तथा स्नेह, सद्-भावना, विरक्ति, सेवा, करुणा, दया आदि अनेक सुन्दर सद्गुण दरबारियों के समान उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं । तेरे इस हृदय-दरबार में अगणित सत्य-धारी पंगम्बर एवं अवतारी भी विराजमान हैं । फिर बता कि तू बन-वन में किसलिए भटक रहा है ?” अर्थात्—

सत्य अहिंसा राजा रानी; सब सद्गुण दरबारी ।

अगणित सत्यमत्त बंटे हैं, पंगम्बर अवतारी ॥

तू क्यों भटक रहा बन-वन में—बाबा दूँढ़े कहीं गगन में ?

वास्तव में ही कवि ने निष्पाप और निर्दोष हृदय का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है कि जीवन की सभी अच्छाइयाँ केवल मनुष्य की अपनी आत्मा में ही निहित हैं । उससे अलग रहकर पूजा-पाठ तथा नाना प्रकार के अन्य क्रिया-कांड व्यर्थ है और उनसे आत्म-कल्याण संभव नहीं है ।

आत्मा की असाधारण महिमा बताते हुए कवि ने आगे भी कहा है—

सिद्ध शिला है यहीं, यहीं बंकुण्ठ यहीं है जगत् ।

मन की मुक्तिपुरी पर करदे न्योछावर सारे मत ॥

बन जा मुक्त इसी जीवन में, बाबा दूँढ़े कहीं गगन में ?

जब हम इतिहास उठाकर देखते हैं तो मालूम होना है कि धर्म के नाम पर लोगों ने कितना खून-खच्चर किया है तथा किस प्रकार रक्त की नदियाँ बहाई हैं ? और वह सब क्यों हुआ ? केवल इसीलिए कि व्यक्तियों ने धर्म को आत्मा के अन्दर नहीं माना तथा उसे अपने-अपने ढंग से किये जाने वाले ऊपी क्रिया-कांडों में ही समझ लिया । मन्दिर वालों ने प्रतिमा की पूजा करने में, स्थानकवासियों ने संत दर्शन तथा सामायिक, प्रतिक्रमण अथवा अन्य क्रियाओं में, सिक्खों ने गुरुग्रन्थ का पाठ करने में, मुसलमानों ने नमाज पढ़ने और कुरान की अष्टतै कण्ठस्थ करने में तथा ईसाइयों के गिरजाघर में जाकर बाइबिल का अध्ययन करने में धर्म मान लिया ।

परिणाम यह हुआ कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय खड़े हो गए, धर्म को विभिन्न नामों से पुकारा जाने लगा और उनमें मतों की मोटी-मोटी दीवारें खड़ी हो

गई हैं। वे नहीं समझ सके कि—

“वस्तुसहाओ धम्मो।”

अर्थात्—वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है।

जिस प्रकार जल का धर्म शीतलता, अग्नि का उष्णता, मिथी का स्वभाव भीठापन है, इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव या धर्म सत्-चित्त-आनन्दमय है। ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्यमय है। प्रत्येक जीव की आत्मा अगर अपने सहज स्वभाव एवं विशुद्ध रूप में रह सके तो निश्चय ही वह आत्मा धर्ममय है। स्पष्ट है कि धर्म आत्मा से अलग कहीं नहीं है। उसके ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य ही उसे धर्ममय मानते हैं।

इसीलिये कवि ने कहा है—‘तेरी आत्मा में ही सिद्धशिला, बँकुण्ठ या जलत जो कुछ भी कहा जाय सब है। इसलिए समस्त सम्प्रदायों और मतों को तू केवल अपने मन की मुक्तिपुरी पर ही न्योछावर क्यों नहीं कर देता? जलत, बँकुण्ठ और सिद्धशिला पर एक ही स्थिति के नाम ही तो हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा को शुद्ध बनाकर ही तो मुक्ति का अनुभव कर सकता है। उसके लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का नाम देना मूर्खता नहीं तो और क्या है? भेद सब ऊपर से दिखाई देने वाला है अन्दर तो केवल एक ही तत्व निहित होता है। मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा और शिवालय तो एक ही प्रकार के चूने, मिट्टी और पत्थर से बने हुए होते हैं। कहा भी है—

बनवाओ शिवालय या मसजिद,
है ईंट वही, चूना है वही।
ये मार वही, मजदूर वही,
मिट्टी है वही, गारा है वही॥

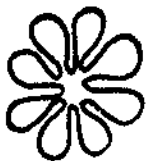
आशा है आप पद्य का अर्थ समझ गये होंगे। आशय यही है कि ऊपी वेश-भूषा या क्रिया-कांडों को लेकर लडना-झगड़ना भारी भूल है। परमात्मा का निवास केवल आत्मा में ही होता है। जिस समय आत्मा समस्त कर्मों से मुक्त हो जाती है, वह भी परमात्म-स्वरूप बन जाती है। इसीलिए कवि ने कहा है कि तू अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर इसी जीवन में मुक्त हो जा !

तो बन्धुओ ! हमें ऐसा महिमामय और दुर्लभ मानव-जीवन पाकर इसे व्यर्थ नहीं खीना है। अगर अनन्तकाल के पश्चात् भी इसे पाकर हमने खो दिया तो समझना चाहिए कि हमारी आत्मा भव-सागर के किनारे तक आकर भी पुनः मझघार की ओर मुड़ गई है तथा उस ओर अग्रसर हो रही है।

इस विराट् विश्व में जीते तो सभी व्यक्ति हैं किंतु ऐसे कितने हैं जो अपने जीवन को सार्थक बनाने के सम्बन्ध में गंभीर विचार करते हैं तथा उस पर अमल कर लेते हैं ? कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने स्वभाव में भद्रता रखते हैं, इन्द्रियों पर संयम रखते हैं, शक्ति के अनुसार दान, शील, तप और भाव की आराधना करते हैं । समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री, कृपा एवं सद्-भावना के भाव रखते हुए अपने हृदय को अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, पर-निन्दा, काम, क्रोध और मिथ्यात्व से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं ।

सारांश यही है कि जो भव्य प्राणी पापों से डरता है, पुनः चौरासी लाख योनियों में चक्कर काटने के भय से सदा सजग और सावधान रहता है तथा प्राप्त हुए मानव-जीवन को पूर्णतया सार्थक करना चाहता है वह इस मानव-जन्म रूपी भव समुद्र के किनारे के करीब आकर पुनः उसमें गोते लगाने के कार्य अथवा कुकृत्य नहीं करता । वह सदा अपनी आत्मा में रमण करता है तथा उसके शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने का प्रयत्न करते हुए एक दिन किनारे पर पहुँच जाता है तथा सदा सर्वदा के लिए जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है ।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आप जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को अधिकाधिक उन्नत बनाना चाहता है। इतना अवश्य है कि कोई अपने जीवन की सफलता वैभव-शाली बनने में मानता है, कोई यश-प्रतिष्ठा की प्राप्ति में, कोई सांसारिक सुखों को अधिकाधिक भोग सकने में, जीवन को सफल और उत्तम मानते हैं।

किन्तु जीवन की सफलता इन सब पदार्थों को प्राप्त करने में नहीं है। इन सब उपलब्धियों को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों की दृष्टि में शरीर मुख्य होता है और आत्मा नगण्य। दूसरे शब्दों में वे शरीर और आत्मा को भिन्न नहीं समझते क्योंकि उनकी दृष्टि अति सीमित होती है। इस जीवन और इस पृथ्वी को ही वे संसार समझते हैं। पर ज्ञानियों की दृष्टि ऐसी नहीं होती, वे आत्मा को शाश्वत कल्याण के दृष्टिकोण से गम्भीर विचार करते हैं तथा भली भाँति समझते हैं कि यह शरीर एक पित्रा है और आत्मा रूपी हंस इसमें कैद है।

पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने इस आत्म-हंस की कैद का अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा है, कहा है—

हंस का जीवित कारागार।

अशुचि का है अक्षय भंडार ॥

विविध व्याधियों का मंदिर तन, रोग शोक का मूल,

इस भव, परमव में शाश्वत सुख के सर्वव प्रतिकूल।

जानी, करो राग परिहार।

हंस का जीवित कारागार।

इन चंद पंक्तियों में कितना रहस्य भरा हुआ है ? कवि ने स्पष्ट बताया है कि अष्विन्नता के इस अक्षय-कोष रूपी शरीर में हमारा शुद्ध स्वरूपी तथा अक्षय सुख एवं शान्ति को प्राप्त कराने वाला निष्पाप एवं निष्कलुष आत्मा

रूपी हंस कैद है। इस शरीर के कारण ही आत्मा को शाश्वत सुख प्राप्त नहीं हो पाता क्योंकि यह असंख्य व्याधियों का नाना प्रकार के विषय-विकारों एवं मोह तथा शोक का मूल स्थान है। इसी के कारण मनुष्य आर्तध्यान व रौद्रध्यान को ध्याकर आत्मा के लिये अनन्त वेदनाओं का अर्जन करता है दूसरे शब्दों में अपने आप ही अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारता है।

इसीलिए इन पंक्तियों के रचयिता ने चेतावनी दी है—हे जानी जीव ! तुम इस शरीर और संसार के प्रति होने वाले राग का त्याग करके अपने आत्म-हंस को पुनः-पुनः नवीन शरीरों में कैद होने से बचाओ और इसे मुक्त करो।

भगवान महावीर ने भी अपने प्रिय शिष्य गौतम स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहा है—

बुद्धे परिनिवृद्धे चरे,
गम गए नगरे व संजए,
सन्तीमर्गं च बूहए,
समयं गोयम ! मा पमायए ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १०-३६

अर्थात्—“हे गौतम ! प्रबुद्ध व शान्तरूप होकर संयम-मार्ग में विचरण करो तथा पापों से निवृत्त होकर ग्राम, नगर या अरण्य आदि स्थानों में रह कर शांति के मार्ग पर बढ़ो। इस काम में समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।”

कितना सुन्दर एवं कल्याणकारी उपदेश दिया गया कि हे जीव ! अगर तुझे अपनी आत्मा रूपी हंस को सदा के लिये विभिन्न शरीरों के कारागारों में कैद होने से बचाना है, अर्थात् सदैव के लिए शरीर-कारागार से मुक्त करना है तो तत्त्वज्ञ बनकर संयम मार्ग में विचरण कर। कषाय रूप अग्नि से अपनी आत्मा को झुलसने से बचा तथा शान्त रूप होकर सब पापों से दूर रहते हुए शाश्वत सुख की प्राप्ति का प्रयत्न कर।”

“भले ही तू गाँव में रहे, नगर में रहे अथवा वनों में निवास करे पर स्वयं कर्मों के सपार्जन से बचे तथा अन्य प्राणियों को सदुपदेश देकर उन्हें भी पाप कर्मों से बचाकर कल्याणकारी मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करे तभी तेरा जीवन स्वयं तथा पर को शांति पहुँचाने वाला बन सकता है।

वास्तव में ही यह शिक्षा प्रत्येक मुमुक्षु के लिए है जिसे अपने अमूल्य मानव पर्याय को सफल बनाने की आत्मिक छटपटाहट है। भगवान महावीर के द्वारा फरमाई हुई गायाने में सर्वप्रथम शब्द आया है—‘बुद्धे’ अर्थात् तत्त्वों

को जानने वाले प्रबुद्ध । जो प्रबुद्ध होंगे वे ही स्वयं अपना और दूसरों का कल्याण कर सकेंगे ।

आप नमोत्पुणं पाठ में बोलते हैं—‘बुद्धार्णं बोहयाणं’ यानि भगवान् तत्त्व को जानते थे और इसलिये औरों को भी उपदेश देते थे । अगर स्वयं उनके पास ज्ञान नहीं होता तो वह औरों को क्या उपदेश दे सकते थे ? जिसके पास जैसी वस्तु होती है वही वह औरों को देता है । भगवान् के पास केवल ज्ञान और केवलदर्शन था अतः उन्होंने दूसरों को भी ज्ञान प्रदान किया । सर्वप्रथम वे तत्त्वज्ञ बने और उसके पश्चात् औरों को नसीहत दी । कल्याणकारी नसीहत का आत्मोत्थान में बड़ा भारी भाग होता है ।

एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा भी है—

“God counsel has no Price”

—अच्छी नसीहत अमूल्य होती है ।

कहने का आशय यही है कि प्रथम तो मुमुक्षु स्वयं प्रबुद्ध बने और उसके पश्चात् शान्ति से विचरण करता हुआ औरों को बाँध देने का प्रयत्न करे । अगर वह स्वयं तत्त्वज्ञ नहीं होता तो औरों को बोध देना उसके लिये असम्भव है । स्वयं व्यक्ति ज्ञानी हो और अपने आचरण में वह ज्ञान को उतारता भी हो, तभी उसके उपदेश का असर औरों पर पड़ता है ।

उपदेश का सच्चा प्रभाव

एक व्यक्ति अपने पुत्र को एक संत के पास लाया और बोला—‘भगवन् ! यह लड़का गुड़ बहुत खाता है कृपा करके इसकी यह आदत छुड़वा दीजिये ।’

संत ने उत्तर दिया—‘भाई ! इसे एक पक्ष के बाद मेरे पास लाना, तब मैं इसकी गुड़ खाने की आदत को छुड़वाऊँगा ।

पन्द्रह दिन बाद वह व्यक्ति अपने लड़के को लेकर पुनः महात्मा के पास आया । महात्मा ने बच्चे को बड़े प्यार से कहा—‘वत्स ! तुम गुड़ मत खाया करो ।’ उस लड़के ने उसी दिन से गुड़ खाना छोड़ दिया ।

बहुत दिन बाद एक दिन महात्मा ने उस व्यक्ति से पूछा—‘तुम्हारा लड़का अब तो गुड़ नहीं खाता ?

पिता ने उत्तर दिया—‘महात्मा जी ! आपके उपदेश ने बड़ा चमत्कारिक असर किया है । अब मेरा पुत्र कभी भी गुड़ नहीं खाता । किन्तु आप कृपया मुझे इस बात का रहस्य समझाइये कि आपने उसे गुड़ न खाने का उपदेश उसी दिन न देकर पन्द्रह दिन पश्चात् क्यों दिया था ?

संत ने हँसकर कहा 'भाई ! उस वक्त तक मैं स्वयं ही गुड़ खाता था अतः गुड़ खाना छोड़ने के बाद ही मैंने तुम्हारे पुत्र को न खाने के लिये उपदेश दिया था। क्योंकि जिन बातों को मनुष्य स्वयं आचरण में न लाए उनके लिये उपदेश देने पर उस उपदेश का कोई असर नहीं होता। स्वयं त्यागवृत्ति अपनाने के बाद ही त्याग का उपदेश दिया जाना चाहिये और वही उपदेश औरों पर असर करता है।

वस्तुतः अगर कोई व्यक्ति स्वयं तो गलत मार्ग पर चल रहा है पर दूसरे को अन्य सही मार्ग पर चलने के लिये कहेगा तो सुनने वाला बताने वाले की बात कैसे मानेगा ? वह तभी उस मार्ग को सही समझेगा जबकि बताने वाला स्वयं भी उस सच्चे मार्ग पर चल रहा होगा। इसी प्रकार तत्वों को जानने वाला तत्वज्ञ ही औरों को बोध दे सकेगा अज्ञानी व्यक्ति नहीं।

उदाहरण स्वरूप एक ज्ञानी व्यक्ति अगर औरों से कहे कि तुम क्रोध मत किया करो तो सुनने वाले उसकी बात पर कब ध्यान देंगे ? वे तभी उसकी बात मानेंगे जबकि उपदेश देने वाला व्यक्ति क्रोध तथा अन्य कषायों को जीत लेगा। वह किसी के के द्वारा निन्दा किये जाने पर क्रोधित न होगा और स्तुति या प्रशंसा करने पर हर्षित न होगा। ऐसी स्थिति आने पर ही उसके उपदेशों का प्रभाव लोगों पर पड़ सकेगा।

पर ऐसी स्थिति कब आएगी ? तभी, जबकि व्यक्ति सच्चा ज्ञान सन्तोष, क्षमता तथा धैर्य का अधिकारी बन जाएगा। आज के तो युग में थोड़ा वैभव प्राप्त होते ही अथवा कोई उच्च पदवी प्राप्त करते ही व्यक्ति अपने आपको अधिकारी मान बैठता है। वह यह भूल जाता है कि ऐसा अधिकार कब तक टिकेगा ? जब तक वह पद उसके पास रहेगा तभी तक तो अथवा जब तक उसकी तिजोरी में धन रहेगा तभी तक वह अपने आपको अधिकारी मान पाएगा।

दौलत क्या अधिकार का लक्षण है ? आप थोड़ा सा धन पाकर ही अहंकार से भर जाते हैं, अकड़कर चलते हैं, पर यह विचार नहीं करते कि यह दौलत कब तक रह सकती है ? दौलत का अर्थ हम दो लतों से भी लगा सकते हैं। लत यानि आदत। दौलत अथवा लक्ष्मी में दो लतें होती हैं एक आने की और एक जाने की। क्योंकि दौलत या लक्ष्मी चंचल होती है, आती और जाती रहती है वह सभी जानते हैं।

तो लक्ष्मी की ये दोनों लतें खराब होती हैं। आप पूछेंगे यह किस प्रकार ? इस प्रकार कि जब यह आती है तो पीठ में लात मारती है।

परिणामस्वरूप आलस्य और प्रमाद के कारण आपकी तोंद निकल आती है क्योंकि दौलत पाने के पश्चात् आप फिर कोई भी परिश्रम कार्य तो करते ही नहीं हैं अतः गद्दी पर बैठे बैठे तोंद नहीं बढ़ेगी तो और क्या होगा ?

अब इस दौलत की दूसरी लत भी आप जान लीजिये ! अभी मैंने इसके आने का परिणाम बताया था अब जाने का परिणाम देखना है। वह यही है कि जब यह जाती है तो पेट में लात मार कर जाती है जिससे मनुष्य कुबड़ा हो जाता है। सुनकर आपको आश्चर्य होगा, किन्तु बात सही है। जब लक्ष्मी चली जाती है तो उससे रहित व्यक्ति को पेट भर अन्न भी खाने को नहीं मिलता तथा पेट भरने के लिए कठिन परिश्रम करते-करते तथा पैसे की प्राप्ति के लिए चिन्ता करते-करते वह युवावस्था में भी वृद्ध के समान झुक जाता है अर्थात् कुबड़े के समान दिखाई देने लगता है। पंचतंत्र में एक स्थान पर कहा भी है :—

“जिनके पास दौलत है वे यदि वृद्ध भी हो चुके हैं तो जवान हैं, और जो दौलत से रहित हैं वे जवान होते हुए भी वृद्ध हैं।”

तो बन्धुओ, इस दौलत या टके की महिमा अवर्णनीय है। जब तक यह पास में रहती है, तब तक तो सारी दुनिया और सभी सुख व्यक्ति के कदमों में लोटते हैं सभी उसे मेरा-मेरा कहकर सम्मान देते हैं। कहा भी है :—

टका करे कुलहल, टका मिरवंग बजावै,
टका घड़ै सुखपाल, टका सिर छत्र धरावै ॥
टका माय अरु बाप, टका भयन को भंया ॥
टका सास अरु ससुर, टका सिर लाड़ लड़ैया ॥

वस्तुतः जब तक टका पास में रहता है मनुष्य के सुखों का पार नहीं रहता और व्यक्ति अभिमान के नशे में चूर होकर निर्धनों पर अत्याचार करता है, उन पर नाना प्रकार से अना बड़प्पन और अधिकार जमाने के लिए तैयार रहता है। पर ऐसा अधिकार सदा टिकनेवाला नहीं होता। आप लोगों के लिए ही यह बात नहीं है। हम लोगों के लिए भी यही नियम है। मान लीजिये—आचार्य, उपाध्याय प्रवर्तक या उपप्रवर्तक कोई भी पदवीधारी मुनि हैं, अगर वह छोटे सन्तों को दबाना चाहते हैं तो उनके अधिकार और पाकर ये भी टिक नहीं सकतीं।

अधिकार में चार अक्षर हैं—अ, धि, का, और र। अगर अधिकार पाकर व्यक्ति मर्यादा में रहता है तो उसका अधिकार भी कायम रहता है। जैसे राम थे। उन्होंने अधिकार प्राप्त किया किन्तु फिर भी मर्यादा में रहे तो आज भी

सारा संसार उनका नाम गौरव से लेता है। सन्त भी अधिकार पाकर अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करे तो उनका पद पाना सार्थक है। अन्यथा पद तो प्राप्त कर लिया और उल्लटे रास्ते पर चले गये तो क्या होगा ? आप लोग ही कहेंगे—“क्या रखा है महाराज में ?”

कहने का अभिप्राय यही है कि अधिकार पाकर व्यक्ति को उसका सदुपयोग करना चाहिए तथा उसकी मर्यादा रखनी चाहिए। अन्यथा क्या होगा जानते हैं ? यही कि अधिकार में से ‘अ’ हट जायेगा और केवल धिक्कार ही पल्ले पड़ेगा।

अगर हम इतिहास उठाकर देखते हैं तो मालूम हो जाता है कि बादशाह औरंगजेब को अधिकार मिला, किन्तु उसने अपने अधिकार का उपयोग हिन्दुओं को, जिन्हें काफिर कहता था उन्हें निर्मूल करने के प्रयत्न में किया। गुरु गोविन्दसिंह के दो बालकों को भी मुसलमान न बनने के कारण जीते जी दीवाल में चुनवा दिया। हिटलर को अधिकार मिला तो वह तानाशाह बन गया। परिणाम इस सब का क्या हुआ ? यही कि आज भी लोग ऐसे अधिकारियों का नाम धिक्कार के साथ लेते हैं और ऐसे अधिकारियों के उदाहरणों को लेकर ही शुक्राचार्य ने कहा है :—

अधिकारमदं पीत्वा को न मुह्यात् पुनश्चिरम् ।

अधिकार रूपी मदिरा का पान करके कौन है जो चिरकाल तक उन्मत्त नहीं बना रहता ?

पर बन्धुओ ! ऐसा होना नहीं चाहिए। पूर्वकृत पुण्यों के उदय से मानव पर्याय प्राप्त हुई है और लक्ष्मी का भी संयोग मिल गया है। इसलिए इन दोनों का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए जिससे इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर सकें। आपके पास पैसा है तो उसे दीन-दुखी और दरिद्र व्यक्तियों के कष्टों को दूर करने में खर्च करो, समाज में अनाथ बालक और निराश्रित विधवा बहूँ हैं उनकी सहायता में लगाओ।

पैसे वाले होने के नाते आप सब के मान-सम्मान के अधिकारी बने हैं, समाज और संघ के शिरोमणि का पद आपको प्राप्त हुए तो प्रत्येक के साथ नम्रता, सद्भावना और सद्व्यवहार रखो। अन्यथा आपका वैभव और आपका सम्मान थोथा बनकर रह जायेगा। जवान से तो फिर लोग आपकी प्रशंसा कर देंगे किन्तु हृदय से तिरस्कार करना नहीं छोड़ेंगे।

हमारे जैन समाज में चाहे वे दिगम्बर हैं, श्वेताम्बर हैं, तेरापन्थी या स्थानकवासी हैं अधिकतर व्यवसायी और व्यापारी हैं। सभी धन कमाने में

बड़े होशियार हैं। जँतियों को पैसा कमाना खूब आता है पर उसका सही उपयोग करना नहीं आता। अरे, धन कमा लिया है तो क्या उसका उपयोग आपके केवल अपने और अपने परिवार के सुख-भोग में ही करना चाहिए ? नहीं, उसे परोपकार में भी लगाना चाहिए।

हमारे समाज में परोपकारी और दानी नहीं हैं. ऐसा मैं नहीं कहता पर यह अवश्य कहता हूँ कि रुपये में एक आना ऐसे महापुरुष मिलेंगे और पन्द्रह आना केवल अपनी भोग-सामग्रियाँ जुटाने वाले होंगे। इसलिए अन्य लोगों की आँखों में यह समाज खटकता रहता है। वे कहते हैं—“हम तो भूखें मरते हैं और वे जँती या बनिये गुलछरें उड़ाते हैं।” लोग तो हमें भी आप लोगों के लिए उलाहना देने से नहीं चूकते।

जब हम महाराष्ट्र में विचरण कर रहे थे। वहाँ प्रवचन मराठे भी काफी तादाद में आया करते थे। एक बार उनमें से एक व्यक्ति बोला—‘महाराज आपके ये भक्त यह केवल लोटा डोरी लेकर आये थे पर आज हुबेलियाँ बनाकर रह रहे हैं।’

अब हम उस बान का क्या जवाब देते ? कहना पड़ा—“भाई ! इन लोगों ने हुबेलियाँ बनवाई हैं अवश्य, किन्तु किस प्रकार ये रहते हैं इस पर तो विचार करो कि ये व्यापारी एक रुपये के पीछे पाव आना, आधा आना, एक आना या चार आने भी कमाते होंगे और इस प्रकार लखपति बन गये। पर तुम लोग खेतों में गिने-चुने दाने डालकर हजारों और करोड़ों दाने प्राप्त कर लेते हो फिर भी भूखे क्यों मरते हो ? और इसका कारण क्या है ?”

वह व्यक्ति बोला—‘महाराज ! आप ही बताइये कि इसका क्या कारण है ?’

मैंने कहा—‘तुम्हारी फसल अच्छा पानी बरस जाने से ठीक आ जाती है तो तुम लोग उससे प्राप्त पैसे का संयम नहीं करते। जब तक वह पास में रहता है, खेल तमाशों में, शराब पीने में, माँस खाने में, जुआ खेलने में और ऐसे ही अनेक व्यसनो में उड़ा देते हो। किन्तु ये व्यापारी लोग ऐसा नहीं करते। ये लोग न शराब पीते हैं, न माँस खाते हैं, न जुआ-बोरी ही करते हैं। किसी भी दुर्व्यसन में से अपने पैसे को व्यर्थ नहीं खोते। इसलिए इनका पैसा सुरक्षित रहता है और उससे ये स्थायी सम्पत्ति खरीदकर या बनवाकर आराम से रहते हुए भरसक धर्मध्यान में समय व्यतीत करते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि हमारा समाज यद्यपि इन लोगों के जैसा नहीं है और उसमें अधिक दुर्व्यसन भी नहीं हैं और जातियों के समान, फिर

भी आज की पीढ़ी के तो अनेक युवक मांस, शराब और जुए को भी खाना खुके हैं तथा इनका प्रयोग करके ही अपने आपको सभ्य मानते हैं। कारण इसका यही है कि वे सन्तों के सम्पर्क में नहीं आ पाते। प्राचीन काल से जो यह समाज अनेकानेक दुर्गुणों से बचा हुआ है वह सन्तों की संगति और उनके उपदेशों को हृदयंगम करने के कारण है।

इसलिये प्रत्येक माता-पिता को चाहिए कि वह अपनी सन्तान में प्रारम्भ से ही उत्तम संस्कार डालें। उनकी रुचि सद्गुरु की संगति और उनके उपदेशों में बढ़ायें। अन्यथा यह अर्य कुल, आर्यक्षेत्र और आर्य जाति का पाना निरर्थक चला जायेगा।

बहुत से व्यक्ति आकर हमसे कहते हैं - "महाराज!" हमारे समाज में दहेज की प्रथा दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही है। पैसे वाले व्यक्ति तो लाखों खर्च करके अपनी शोभा बढ़ाते हैं पर मध्यम वर्ग मारा जाता है। वास्तव में यह हजारों का टीका और दहेज लेना बहुत बुरी बात है। इस कुप्रथा के कारण अनेक गुणवान एवं सुशिक्षित कन्याओं को योग्य घर बार नहीं मिल पाता तथा पैसा दिया जाने पर चाहे जैसी कन्या लक्षाधीशों के यहाँ पहुँच जाती है।

टीका तथा दहेज आदि अधिक से अधिक देकर चार दिन के लिये तो आप यश प्राप्त कर लेते हैं किन्तु इसका कुप्रभाव समाज के अन्य व्यक्तियों पर किसना पड़ता है इसका भी आप कभी अन्दाज लगाते हैं क्या? नहीं, कितने निर्धनों की आँहें आपको लगती हैं यह भी आप सोच नहीं पाते।

कितना अच्छा हो कि आप लोग दहेज तथा अन्य इसी प्रकार के व्यर्थ जाने वाले पैसे को परोपकार में खर्च करें। पर यह उपदेश आपके हृदय में उतरे तभी तो यह सब सम्भव है। अन्यथा तो लोग बोलेंगे ही, चुप क्यों रहेंगे? आप आवश्यकता से अधिक सांसारिक सुखों का उपभोग करें और ख़ाये न जा सकें इतने ख़ाद्य पदार्थों का संग्रह करें तथा दूसरी और असंख्य लोगों को भरपेट रोटी भी नसीब न हो तो वे चुप कैसे रह सकते हैं? इसी-लिये मेरा कहना है कि लोगों का मुँह बन्द रखना है तो बँटकर खाना चाहिए। समाज में कुरीतियों को प्रश्रय देकर उसे खोखला नहीं बनाना चाहिए।

आप सन्तों के सम्पर्क में आते हैं, उनके उपदेश सुनते हैं, किन्तु उस पर अमल नहीं करते। फिचूलखर्चों में प्रतियोगिता के लिये तो आप फौरन तैयार हो जाते हैं पर जहाँ आत्म-कल्याणकारी क्रियाएँ करने को कहा जाता है, इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं।

यह बात इस प्रकार सच भी है कि चाँदी को खरीदने वाले बहुत मिल जायेंगे, सोने को खरीदने वाले गिने चुने और रत्नों को खरीदने वाले तो बिरले ही मिलते हैं। सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य अमूल्य रत्न हैं और इन्हें वही ग्रहण करता है जो समग्र संसार से विमुख हो जाता है।

गौतमस्वामी सांसारिक प्रलोभनों को जीत चुके थे इसीलिए पाँच महा-प्रतों को धारण करके वे श्रमण बन सके। वे जान गये थे कि यह संसार मिथ्या और असार है, माया ने इसमें अपना जाल बिछा रखा है और जो इसमें फँस जाता है वह कहीं का नहीं रहता। एक कवि ने भी कहा है :—

इस जाल में सब जलझाये दुनिया है गोरख घन्घा ।
 डाल रखा है सबने गले में, लोभ मोह का फन्दा ॥
 फिर भी सकल जगत है अन्धा ।
 इस दुनिया के सुख भी झूठे, इसका प्यार भी झूठा ॥
 सावधान हो इस ठग नीने है बड़ों बड़ों को लूटा ।
 मूरख मत बन इसका बन्दा ।

कवि का कथन यथार्थ है। यह जगत वास्तव में ही गोरखघन्घा है। जिधर देखो उधर ही व्यक्ति लोभ, मोह, विषय, विचार तथा अन्य माना प्रकार के जाल में फँसा हुआ है। माया का प्रलोभन इतना जबरदस्त है कि उसके कारण उसकी दृष्टि अपने भविष्य की ओर नहीं जाती तथा परलोक में क्या होगा, इसका भी उसे ख्याल नहीं आता।

किन्तु महापुरुष इसीलिए तो प्राणी को बार-बार चेतावनी देते हैं कि यह जगत और इसके प्राप्त होने वाले सुख सच्चे नहीं हैं केवल सुखाभास ही कराते हैं। इस जगत के समस्त सम्बन्धी जो धार जताते हैं, उसमें भी स्वार्थ के अलावा कुछ नहीं होता। इसीलिए हे प्राणी ! बड़े-बड़े राजा महाराजाओं, सेठ-साहूकारों तथा पदवीधारियों को जिस मायामय जगत ने लूट लिया है उससे सावधान रह, मूर्ख बनकर इसके फँदे में मत फँस अन्यथा यहाँ से विदा होते समय केवल पश्चात्ताप ही तेरे हाथ आएगा।

जो भ्रष्ट जीव इस बात को समझ लेते हैं वे चाहे साधु बन जाय या घर में रहें; इस संसार में जल कमलवत् निलिप्त रहते हैं। इस विषय में उदाहरण-स्वरूप एक बड़ा सुन्दर उदाहरण ग्रन्थों में मिलता है—

मिथिला जलती है तो जलने दो !

एकबार महर्षि व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव से कहा—“तुम राजा जनक के पास जाकर उनसे उपदेश ग्रहण करो।” शुकदेव पिता की आज्ञानुसार मिथिलानगरी की ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर वे राजमहल के द्वार पर जा

खड़े हुये और द्वारपाल से अपने आने की सूचना राजा जनक के पास भेजी ।

राजा ने उत्तर में कहला भेजा—“द्वार पर ठहरो ।” शुकदेव तीन दिन तक राजभवन के द्वार पर खड़े रहे किन्तु जनक ने उन्हें भीतर नहीं बुलव या । किन्तु इस पर भी शुकदेव को जरा भी क्रोध नहीं आया । राजा ने भी शुकदेव के क्रोध की परीक्षा लेने के लिए ही उन्हें तीन दिनों तक द्वार पर खड़ा रखा था ।

अन्त में चौथे दिन शुकदेव जी को महल में बुलाया गया । अन्दर जाकर उन्होंने देखा कि राजा जनक स्वर्णमण्डित सिंहासन पर आसीन हैं उनके सामने अनिन्द्य सुन्दरी नवयौवनाएँ नृत्य कर रही हैं, कुछ उनकी सेवा में संलग्न हैं । तात्पर्य यह कि राजा के चारों ओर ऐश-आराम के साधन बिखरे हुये थे और यही दिखाई देता था कि राजा जनक भोगों में रत हैं ।

यह सब देखकर शुकदेव जी को बड़ी घृणा हुई और वे मन ही मन विचार करने लगे—“पिताजी ने मुझे किस नरक कुण्ड में भेज दिया । क्या यही राजा जनक का परम ज्ञान है कि इस प्रकार संसार के भोग-विलासों में रहा जाय ? मेरे पिता कितने भोले हैं कि इस विलासी राजा को वे परम ज्ञानी मानते हैं ।”

शुकदेव के मन के भाव उनके चेहरे पर भी आए बिना नहीं रह सके । एक कहावत भी है—

“चेहरा, मस्तिष्क और हृदय दोनों का प्रतिबिम्ब है ।”

तो शुकदेव के हृदय में राजा जनक के प्रति जो नफरत भरे विचार आए ने उनके चेहरे से भी झलकने लगे । राजा जनक ने उन्हें ताड़ लिया और वे कुछ कहने को उत्सुक ही हुये थे कि संयोगवश मिथिलापुरी में बड़े जोरों से आग लग गई । बाहर से कर्मचारी दौड़े हुए आये और व्यग्र होकर बोले—“महाराज ! नगर में आग लग गई है और वह राजभवन तक भी पहुँचने वाली है ।”

शुकदेव ने ज्योंही यह बात सुनी सोचने लगे—“अरे मेरा दण्ड कमण्डल तो बाहर ही रखा है कहीं वह न जन जाय ।” यह विचारकर ज्योंही वे बाहर जाने के लिये तैयार हुए कि महाराज के वाक्य उनके कानों में पड़े जो वे आग लगने की खबर लाने वाले दूतों से कह रहे थे :—

अनन्तश्चास्ति मे चित्तं
मन्ये नास्ति हि किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदग्धायां,
न मे दहति किञ्चन ॥

अर्थात्—मेरा आत्मरूप धन अनन्त है। उसका अन्त कदापि नहीं हो सकता। इस मिथिला के जलने से मेरा कुछ भी नहीं जल सकता।

राजा जनक के यह वचन सुनते ही शुकदेव को बोध हो गया कि वास्तव में जनक सच्चे ज्ञानी हैं, जिन्हें किसी भी सांसारिक पदार्थ में आसक्ति नहीं है और जो व्यक्ति ऐसे-आराम के साधनों का उपभोग करते हुए भी राजा जनक के समान संसार से अनासक्त रहता है, वही ज्ञानी भोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। उन्हें अपने आप में भी लज्जा महसूस हुई कि जहाँ राजा जनक मिथिला के जल जाने से भी व्यग्र नहीं हुए, वहाँ मैं अपने दण्ड-कमण्डल के जल जाने की सम्भावना से ही विकल हो उठा था। अब उन्हें जनक से उपदेश प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रही थी अतः वे वहाँ से उलटे पैरों लौट आए।

उदाहरण से स्पष्ट है कि ममता और असक्ति ही समस्त दुखों का कारण है। जिस भव्य प्राणी की किसी भी पदार्थ में ममता नहीं होती, वह चाहे साधु हो या गृहस्थ, अवश्य ही मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। परन्तु जो व्यक्ति घर छोड़कर सन्यासी का वेश धारण कर लेता है पर मन से अपनी वस्तु पर से उसका मोह समाप्त नहीं होता, वह सन्यासी का बाग पहनकर भी कभी अपनी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता। उसके लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य कुछ भी मूल्य नहीं रखते। न वह उन्हें प्राप्त ही कर सकता है और न उन्हें जीवन में उतार सकता है।

इसलिये बंधुओ, सर्वप्रथम हमें सांसारिक प्रलोभनों को ही जीतना है उन पर ममता हटने पर ही हम संसार को जीत सकेंगे। एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी कहा है :—

“Every moment of resistance to temptation is a victory.”

— प्रलोभन के अवरोध का प्रत्येक क्षण विजय है। —फेबर

अगर व्यक्ति सांसारिक पदार्थों से ममत्व नहीं हटायेगा तो वह कदापि आत्म-साधना के मार्ग पर नहीं चल सकेगा। क्योंकि इस मायामय संसार में कदम-कदम पर प्रलोभन के कटि बिछे हुए हैं और उनमें उलझ-उलझ कर राही या तो भटक जाएगा अथवा निराश होकर अपना मार्ग छोड़ बैठेगा।

एक कवि ने यही बात कही है :—

संभल संभल कर चलना रे जग में।

कंटक बिछे पड़े पग-पग में॥

कहते हैं—अरे चेतन ! अगर तू अपनी आत्मा को शुद्ध, बुद्ध और अरिहंत.

बनाना चाहता है तो बहुत सोच-विचार कर तथा संभल-संभल कर चल । त्याग और तपस्यामय इस आत्म-साधना के मार्ग में समस्त सांसारिक सुख रूची काटि जो कि आगे चलकर असह्य पीड़ा पहुँचाने वाले होते हैं, बिछे हुए हैं । अतः बहुत सोच विचारकर तथा सजग होकर इस पर चल । अन्यथा अगर ये चुभ गए तो जन्म-जन्मान्तर तक पाप कर्म बनकर आत्मा में चुभते रहेंगे । इस स्थूल पृथ्वी पर कुछ देर चलने के लिये भी कहा गया है ।—

“उपानत् मुखभंगो वा, दूरतो वा विवर्जनम् ।”

उपानत् कहते हैं जूती को । भूमि पर चलने के लिए आप या तो जूती पहनकर अपने पैरों की रक्षा कर सकते हैं, अथवा काँटों भरा मार्ग छोड़कर अन्य रास्ते पर गमन करके भी अपने पैरों का बचाव कर सकते हैं ।

तो मोक्ष प्राप्ति के लिये भी इसी प्रकार सावधानी से चलना पड़ेगा । या तो घर में रहकर सुख-भोग भोगते हुये भी उनके प्रति आसक्ति और प्रलोभन रूपी काँटों से बचे रहना पड़ेगा अथवा इस मार्ग को छोड़कर त्याग, तपस्या, नियम तथा इन्द्रिय संयम रूची साधना का मार्ग अपनना होगा । इस मार्ग पर चलने से काँटों का भय नहीं रहेगा तथा प्रत्येक व्यक्ति निर्भय होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकेगा ।

हम साधुओं को यही मार्ग अपनाना पड़ता है । गौतमस्वामी भी समस्त सांसारिक भोग-रूप काँटों से बचने के लिये सम्पक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य से युक्त होकर इस मार्ग पर चल पड़े थे । फिर भी भगवान ने उन्हें पुनः-पुनः आदेश दिया कि हे गौतम ! प्रबुद्ध होकर संयम मार्ग पर चलो तथा पापों से बचते हुए गाँव, नगर या वन में जहाँ चाहो शांति से विचरण करो ।

गाँव और नगरों में जो प्रबुद्ध व्यक्ति विचरण करता है वह स्वयं तो शांति और संयमपूर्वक अपने आत्म-साधना के मार्ग पर चलता ही है, साथ सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों को भी सही मार्ग सुझाता है तथा उन्हें समझा देता है कि आत्म चैतन्य स्वरूप है ।

प्रबुद्ध व्यक्ति अज्ञानियों को बता देता है कि संसार के प्रत्येक जीव की आत्मा के समान शक्ति है और प्रत्येक में परमात्मा बनने की क्षमता है । अलग से उसे मन्दिरों, मसजिदों, गिरजाघरों या अन्य धर्मस्वागों में खोजना वृथा है । ये सब तो मार्ग हैं जो एक ही स्थान पर जिसे हम मोक्ष कर्ते हैं, पहुँचा सकते हैं । किपी शायर ने भी कितनी सुन्दर बात कही है—

काब्रे जाना भी तो बुतखाने से होकर जाहिद ।
दूर इस राह से अत्लाह का घर कुछ भी नहीं ॥

कहा है—अरे भक्त ! अगर कावा जाना है तो जाओ; पर मन्दिर से होकर भी एक मार्ग उधर को ही जाता है । अल्लाह का घर वहाँ से भी दूर नहीं है ।

तो बन्धुओ आप समझ गए होंगे कि मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर या गुरुद्वारा कहीं ने भी जाया जाय, उसमें कोई हर्ज नहीं है शर्त केवल यही है कि पाप कर्म रूपी काँटों से आत्मा को बचाते हुए चला जाय । अगर ऐसा नहीं किया जाएगा तो कोई भी मार्ग मंजिल तक पहुँचाने में समर्थ नहीं हो सकेगा इसलिये अगर हमें अपनी मंजिल को पाना है, अपनी आत्मा को परमात्मा बनाना है तो पग-पग पर बिछे हुए इन काँटों को बचाकर समय मात्र का भी प्रमाद किये बिना चलते रहना है । तभी हमारी लक्ष्य पूर्ति हो सकेगी ।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कई दिनों से हमारा विषय श्री उत्तराध्ययन सूत्र की उन गाथाओं को लेकर चल रहा है जिनमें भगवान महावीर ने अपने सबसे बड़े शिष्य गौतम स्वामी को अमूल्य शिक्षाएँ प्रदान की हैं। इससे यह साबित नहीं होता है कि गौतम अज्ञानी थे या वे उन बातों को जानते नहीं थे, किन्तु बड़ों का फर्ज ही यह होता है कि वे छोटों को सदा सावधान और सतर्क करते रहें। आप जानते ही हैं कि आपका पुत्र पढ़ने के लिये विदेश जाता है और विदेश जाने वाला स्वयं ही समझदार तथा होशियार होता है फिर भी आप लोग ट्रेन में बैठते-बैठते भी उसे कहते हैं रास्ते में सावधानी से रहना, खाने-पीने का ध्यान रखना, फिजूल खर्च मत करना और किसी बुरे व्यक्ति की संगति मत करना, आदि आदि।

इसी प्रकार भगवान ने अपने चौदहपूर्व का ज्ञान रखने वाले शिष्य गौतम को भी पुनः-पुनः आत्म-कल्याणकारी शिक्षाएँ दी हैं जिनमें से कुछ के विषय में हम कई दिनों से जानते आ रहे हैं। आज हम इस शास्त्र के दसवें अध्याय की अन्तिम गाथा को देखेंगे जिसमें रचयिता ने स्वयं अपना मंतव्य प्रगट किया है—

बुद्धस्स निम्मम भासियं,
सुकहियमट्ठ पओबसोहियं
रामं दोसं च छिदिया,
सिद्धिगइं गए गोयमे ।
त्ति वेमि ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १०-३७

कहा है—“सुन्दर अर्थ एवं पदों से सुशोभित—बुद्ध (तत्त्वज्ञ) भगवान महावीर स्वामी की उत्तमोत्तम शिक्षाओं से निहित तत्त्वों का गौतम स्वामी

पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे सम्पूर्ण राग और द्वेष का नाश करके सिद्धि को प्राप्त हो गए यही मैं कह रहा हूँ।”

इस गाथा में सर्वप्रथम बुद्ध शब्द आया है। इम शब्द का अर्थ आपको बौद्ध धर्म के प्रचारक बुद्ध से नहीं, अपितु भगवान महावीर से ही लेना है। बुद्ध किसे कहते हैं और महावीर के लिए इसका प्रयोग क्यों किया गया है इस विषय में कहा है—

“बुद्धस्य-केवलालोकावलोकित समस्त वस्तुत्वस्य प्रक्रमाच्छीमन्-महावीरस्य।”

अर्थात्—जिसने केवल ज्ञान के द्वारा समस्त लोक के पदार्थों को जान लिया है वह बुद्ध होता है अतः भगवान महावीर के लिये ही बुद्ध विशेषण आया है।

भगवान महावीर का दिया हुआ सदुपदेश अगर मुमुक्षु ग्रहण करे तो वह निश्चय ही परम शांति और किसी भी प्रकार के दुःख से रहित अनन्त सुख रूप मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। पर ग्रहण करना ही तो महा कठिन है। वीतराग के वचनों को इस कान से सुनकर इस कान से निकाल दिया जाय तो उन्हें सुनने से क्या लाभ हो सकता है? लाभ तभी हासिल हो सकता है जब कि शास्त्रों की वाणी को कान से सुनकर हृदय में उतारी जाय। अन्यथा सुना नहीं सुना समान है, लाभ कुछ नहीं। आप कहेंगे—“हमने गँवाया क्या?” अरे भाई! सर्वप्रथम तो आपने वर्तमान समय ही गँवाया और आचरण नहीं किया तो भविष्य के लिये कुछ इकट्ठा नहीं किया। फिर दोनों ही तरफ से गये या नहीं? किसी बात को सुनकर हृदयंगम करने से कितना लाभ होता है और व्यक्ति का कितना महत्व बढ़ जाता है यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। आपने भी उसे समय-समय पर सुना ही होगा।

लाख रुपये की मूर्ति

एक शिल्पकार तीन मूर्तियाँ बनाकर किसी राजा के दरबार में लाया। मूर्तियाँ तीनों ही अत्यन्त सुन्दर थीं और देखने में हूबहू एक ही जैसी दिखाई देती थीं। राजा को वे बड़ी पसन्द आईं और उन्होंने कलाकार से उनका मूल्य पूछा।

कलाकार ने एक-एक मूर्ति की ओर इंगित करते हुए उत्तर दिया—
“महाराज! इस मूर्ति का मूल्य एक कौड़ी है, इसका एक रुपया और इस तीसरी का मूल्य एक लाख रुपया है।

राजा कलाकार की बात सुनकर दंग रह गए और आँखें फाड़-फाड़कर पुनः उन मूर्तियों की ओर बारी-बारी से देखने लगे। बहुत ध्यान से देखने पर भी उन्हें उनमें कोई अन्तर दिखाई नहीं दिया। एक-सा रंग, एक-सा रूप, एक-सी बनावट और एक-सी नक्काशी उन्हें तीनों में दिखाई दे रही थी। सोचने लगे आखिर एक कोड़ी, एक रुपया और एक लाख रुपये जैसा अन्तर इन समान मूर्तियों में किस प्रकार है? जब उनकी समझ में किसी भी तरह यह अन्त नहीं मालूम हुआ तो कलाकार से ही यह फर्क बताने के लिये कहा।

कलाकार ने कहा—“महाराज! एक डोरा मँगवा दीजिये, मैं अभी आपको इनमें रहा हुआ अन्तर बताए देता हूँ।” इशारा करते ही डोरा आ गया। अब कलाकार ने तीनों सुन्दर मूर्तियाँ राजा के सामने रखीं और एक मूर्ति के कान में डोरा डाला। डोरे का अगला हिस्सा मूर्ति के दूसरे कान में से निकल गया। यह दिखाकर कलाकार बोला—महाराज! यह मूर्ति केवल एक कोड़ी के मूल्य की है। वह इस प्रकार कि यह मूर्ति उस व्यक्ति के समान है जो हित शिक्षा या सदुपदेश को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देता है।

अब दूसरी मूर्ति की परीक्षा करने की बागें आईं। कलाकार ने उस मूर्ति के कान में भी डोरा डाला। उस दूसरी मूर्ति के कान में डोरा हुआ डोरा मूर्ति के मुँह से बाहर निकला। यह दिखाकर शिल्पी बोला—महाराज! यह मूर्ति एक रुपये के कीमत की है, क्योंकि यह ऐसे मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करती है जो उत्तम बातों को सुनकर दूसरे कान से तो नहीं निकालते पर जबान से कहकर भूल जाते हैं। राजा मूर्तियों के गुण जानकर अकित और प्रवन्न हो रहे थे। अब उनकी उत्सुकता तीसरी मूर्ति का गुण जानने में बढ़ी कि इस एक लाख रुपये के मूल्य की मूर्ति में ऐसा कौनसा गुण है? उन्होंने कलाकार से शीघ्रतापूर्वक उस मूर्ति का गुण बताने के लिये कहा।

शिल्पकार ने पुनः डोरा उठाया और तीसरे नम्बर की मूर्ति के कान में डाला। राजा और समस्त दरबारी बड़ी व्यग्रता के साथ मूर्ति पर दृष्टि गड़ाए हुए थे कि क्या रहस्य अब सामने आनेवाला है? सबने देखा—कलाकार के द्वारा मूर्ति के कान में डाले हुए डोरे का मुँह कहीं से भी बाहर नहीं निकला। राजा ने इसका कारण पूछा।

कलाकार ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—महाराज! इस मूर्ति के कान में डाला हुआ डोरा न कान में से बाहर निकलता है और न मुँह से। यह सीधा इसके पेट में उतर गया है। इसीलिये इसका मूल्य एक लाख

रूपया है। यह मूर्ति बताती है कि अगर मनुष्य सुने हुए उपदेशों को, महा-पुरुषों की शिक्षाओं को और शास्त्रों के वचनों को कान से सुनकर हृदय में उतार ले तो अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर मोक्ष को पा सकता है। ऐसा गुण रखने वाला व्यक्ति ही लाख रुपये का या मारवाड़ी भाषा में 'लाखीणा' पुरुष कहलाता है।

संस्कृत भाषा में भी वीतराग-वाणी को हृदय में धारण करने वाले तथा उन पर चिन्तन-मनन करने वाले व्यक्ति को ही आँख वाला कहते हैं। श्लोक इस प्रकार है—

चक्षुर्मंतस्त एव, ये श्रुतज्ञान चक्षुषा ।
सम्यक् सर्वैव पश्यति, भावान् हेयेतराग्नराः ॥

कहते हैं—आँख अलग है और आँखवाले अलग हैं। गाड़ी अलग है और गाड़ी वाला अलग है। अपने दास आँख हैं पर उसका उपयोग नहीं किया जाय तो आँख के होने से क्या लाभ है? आँख होकर भी अगर व्यक्ति आँख मूँदकर चले तथा रास्ते में ठोकरें खाता जाय तो उसे आप मूर्ख ही कहेंगे।

कवि ने श्लोक में आँख को श्रुत ज्ञान की उपमा दी है। श्रुत ज्ञान रूपी आँख खुली होने पर व्यक्ति भली-भाँति जान सकता है कि शास्त्र क्या कहते हैं? सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र क्या हैं तथा वे किस प्रकार आत्मा को उन्नत और निष्पाप बनाते हैं? मनुष्य के लिये हेय ज्ञेय तथा उपादेय अर्थात् छोड़ने, जानने और ग्रहण करने लायक क्या हैं? श्रुत ज्ञान रूपी चक्षु से ही मानव विषय विकारों से अजित होनेवाले पापों का तथा सत्य, अहिंसा अचर्य आदि सद्गुणों से होने वाले लाभों का ज्ञान कर सकता है।

हितोपदेश में कहा गया है :—

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्रयं एव सः ।

शास्त्र सबके लिये नेत्र के समान हैं। जिसे शास्त्र का ज्ञान नहीं वह अन्धा है।

वस्तुतः शास्त्रों का ज्ञान किये बिना नहीं जाना जा सकता कि श्रावक के कर्तव्य क्या हैं और साधुओं के क्या हैं? वीतरागों की स्पष्टतः दोनों के अपने-अपने कर्तव्य और अपनी-अपनी चर्चा के विषय में बताती है किन्तु अगर श्रावक उसके अनुसार न चले तो उनकी भूल है और साधु भी अपनी चर्च का शास्त्रानुसार पालन न करे तो उनकी महा भयंकर गलती है। भगवान किसी का भी राखी नहीं बाँधते अर्थात् वे किसी का भी पक्षपात नहीं करते। श्रावक हो या साधु सब अपनी-अपनी करनी का ही फल प्राप्त करते

है। 'जो जैसा करेगा वैसा ही भरेगा' यह कहावत यथार्थ है। न उत्तम और शुभ करनी के बिना श्रावक का कल्याण होगा और न ही उपयुक्त करनी के बिना साधु का ही उद्धार हो सकेगा।

इसलिये शास्त्र-श्रवण करके उसे हृदयंगम करना तथा आचरणों में उतारना अनिवार्य है। अन्यथा सुनना, नहीं सुनना बराबर है। जिस प्रकार आँख होते हुए भी बिना उनका उपयोग किये अन्ध के समान चलना। जो श्रुतज्ञान रूपी आँख को पाकर भी उसका सदुपयोग नहीं करते उनकी आत्मा उन्नत होने के बजाय पतन की ओर ही अग्रसर होती है।

एक सुभाषित में पतन के तीन कारण बताए गए हैं कहा है—

विहितस्थाननुष्ठाना-भ्रान्तिस्य च सेवनात् ।

अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां, नरः पतनमृच्छति ॥

पतन के तीन कारणों में से पहला कारण है विहित यानी जो कहा गया है। ससार के प्रत्येक क्षेत्र में अपने-अपने नियम होते हैं। आपके समाज में कुछ सामाजिक नियम होते हैं, जिनका पालन न करने पर आप समाज से बहिष्कृत किये जा सकते हैं। राजनीति के भी अनेकानेक नियम होते हैं जिनका प्रत्येक व्यक्ति को पालन करना पड़ता है। अगर राज्य के नियमों के विरुद्ध कोई कार्य करता है तो वह अपराध माना जाता है तथा राज्य उसे सजा दिया करता है।

आपके बीच में एस० डी० एम० साहब बैठे हैं इन्होंने सरकार को अपनी अमूल्य सेवाएँ दी हैं। अब तो उन कार्यों से रिटायर हो गए हैं। लेकिन अपने कार्य-काल में अगर आप राजनीति के अनुसार नहीं चलते, उनका यथाविधि पालन नहीं करते तो इस ऊँचे पद पर कैसे पहुँचते? कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति राज्य के नियमों का पालन नहीं करता उसकी आत्मा पतन की ओर बढ़ती है तथा वह नाना प्रकार के गैर-कानूनी कार्य करके कैद खाने में सड़ता है।

समाजनीति और राजनीति के अनुसार ही धर्मनीति के भी अनेक नियम हैं जिनका श्रावकों और साधुओं को पालन करना चाहिए। पर अमतौर, पर हम देखते हैं कि ऐसा होता नहीं है। धर्मनीति का अथवा धर्म के नियमों का पालन करने में व्यक्ति अपेक्षा और प्रमाद करता है।

इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि समाज के और राज्य के नियमों का पालन न करने पर आपको उसकी सजा प्रत्यक्ष से भोगनी पड़ती है और धर्म के नियमों के पालन न करने पर प्रत्यक्ष रूप में कोई फल नहीं भोगना

पड़ता । पर बंधुओ, यह याद रखो कि समाज और राज्य के नियम तोड़ने पर तो आपको केवल इस जन्म में ही सजा भोगकर छुटकारा मिल जाता है । पर धर्म के नियमों का पालन न करने पर उनके लिये अनेक जन्मों तक सजा भोगनी पड़ती है । सत्य बोलना अहिंसा का पालन करना, चोरी न करना, तथा दान, शील तप व भाव की आराधना न करना धर्म के नियमों का तोड़ना ही कहलाता है जिनके कारण ऐसे पाप कर्म बँध जाते हैं जो जन्म-जन्मान्तर तक भी आत्मा को सजा देते रहते हैं तथा उसे इस संसार की चौगानी लाख योनियों में पुनः-पुन जन्म-मरण कराया करते हैं । इसीलिए श्लोक में कहा गया है कि विहित नियमों का पालन न करने पर आत्मा का पतन होता है ।

पतन का दूसरा कारण सुभाषित में कहा गया है—निन्दित कार्यों का करना । जिन कार्यों की निन्दा की गई है, तिरस्कार किया गया है उनका सेवन करने से भी आदमी पतित होता है । प्रश्न होता है कि वे निन्दित कार्य व आचरण कौन-कौन से हैं जिनकी शास्त्रों में निन्दा की गई है । उत्तर में कहा जा सकता है— क्रोध, मान, माया, लोभ तथा ईर्ष्या-द्वेष आदि निन्दनीय विकार हैं । जिनका नाश करना आवश्यक है अन्यथा ये आत्मा को कभी भी कर्म-मुक्त नहीं होने देंगे । कहा भी है :—

कोहं च माणं भ तद्देव मायं
लाभं चउत्थं अज्जत्तदोसा ।
ऐयाणि बंता अग्हा महेसी,
ण कुब्बई पाव ण कारवेइ ॥

भगवान ने इन चार कषायों का वमन किया है, छोड़ दिया है तभी वे वन्दनीय बने । अन्यथा वे भी हमारे समान ही साधारण व्यक्ति थे । किन्तु कषयों का त्याग करने से उनके घनघाती कर्म नष्ट हो गये ।

अभी मैंने कहा कि भगवान ने चारों कषायों का वमन किया । वमन के स्थान पर त्याग करना भी कहा जा सकता है । पर त्याग करने की बजाय वमन करना यह कहना अधिक उपयुक्त है । क्योंकि छोड़ी हुई या त्याग की हुई वस्तु तो पुनः ग्रहण की जा सकती जिस प्रकार नदीषेण मुनि ने मुनि धर्म त्यागकर बाहर वर्ष तक एक वेश्या के यहाँ निवास किया था ।

शास्त्रों में उल्लेख है कि जिस समय नदीषेण ने दीक्षा ग्रहण की उस समय आकाशवाणी हुई थी कि अभी तुम्हारे भोगावली बाकी हैं । किन्तु नदीषेण ने नहीं माना और संयम अंगीकार कर लिया ।

संयमी बनने के पश्चात् एक बार वे विचरण करते हुए वेश्याओं के मुहल्ले में जा पहुँचे। ऊपर की ओर देखा तो दिखाई दिया कि झरोखों में से दो वेश्याएँ झाँक रही है। एक ने मुनि से कहा—“मुनि जी, आप इधर आए तो हैं किन्तु कुछ धन भी आपके पास है या नहीं?”

इतने में दूसरी बोल पड़ी—“इनके पास धन कहीं पड़ा है? देखती नहीं है स्वयं ही तो झोली में काठ के बतन लेकर भिक्षा मांगते हुए फिर रहे है।”

नंदिषेण मुनि ने यह बात सुनी तो उन्हें क्रोध आ गया और उसी समय अपनी लब्धि का प्रयोग करके उन्होंने बाहर करोड़ सोनियों की वर्षा वेश्या के आँगन में करवादी तथा उन्हें लेने के लिए वेश्या को कह दिया।

किन्तु वेश्या बोली—“महाराज, मैं मुफ्त का पैसा नहीं सकती। अगर आपको मुझे इन्हें देना है तो आपको भरे यहाँ रहना पड़ेगा।” और मुनि नंदिषेण को वहाँ रहना पड़ा। किन्तु इतने पर भी उनका नियम था कि वे प्रतिदिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देने के पश्चात् ही अपने मुँह में अन्न व जल डालते थे।

धीरे-धीरे नंदिषेण को वेश्या के यहाँ रहते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन वे नौ व्यक्तियों को ही प्रतिबोध दे पाए थे कि दिन बहुत चढ़ गया और भोजन नहीं कर पाए क्योंकि दसवाँ व्यक्ति उन्हें प्रतिबोध देने के लिये मिला ही नहीं।

यह देखकर वेश्या जो कि यह समझने लगी थी कि अब ये मुझे छोड़कर कहाँ जा सकते हैं, ताना देती हुई बोली—मुनि जी! प्रतिबोध देने के लिये दसवाँ कोई अन्य व्यक्ति नहीं मिलता तो तुम स्वयं ही दसवें क्यों नहीं बन जाते? वेश्या का यह कहना ही था कि नंदिषेण उसी क्षण उठ खड़े हुए और यह कहते हुए चल दिये—‘हाँ, यही बात ठीक है।’

कहने का आशय यही है कि त्यागे हुए पदार्थों को तो फिर ग्रहण किया जा सकता है किन्तु उत्तम से उत्तम पदार्थ का भी वमन करने के पश्चात् उसे कोई ग्रहण नहीं करता। भगवान के लिए इसीलिए कहा गया है कि उन्होंने चारों कषायों का जो कि निदनीय है, वमन कर दिया था। वमन कर देने के पश्चात् उनका सेवन नहीं किया अतः वे संसार-सागर को पार कर गए।

पतन का तीसरा कारण बताया है—इन्द्रियों के विषय में आसक्त रहना। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता है। उसका नाना प्रकार से पतन होता है जो अनन्त वेदनाओं का कारण बनता है। कहा भी है—

“आपहाम् प्रथितः पंथा इन्द्रियाणामसंयमः।”

—इन्द्रियों का असंयम अर्थात् विषयों का सेवन ही आपत्तियों के आने का मार्ग कहा गया है ।

आज के युग में लोग कुछ तो समय के प्रभाव से और कुछ पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा के प्रभाव से विलासिता की ओर बढ़ते जा रहे हैं । वे अधिक से अधिक भोग विलास कर लेने में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं । हमारे भारत की प्राचीन संस्कृति और विचारधारा की ओर उनकी उपेक्षा है, उसे हेय कहने में भी वे नहीं चूकते । इसका कारण यही है कि उन्हें सच्चे आनन्द की परिभाषा ही मालूम नहीं है ।

महात्मा गाँधी का कथन है—

“सुख-दुःख देने वाली बाहरी चीजों पर आनन्द का आधार नहीं है । आनन्द सुख से भिन्न वस्तु है । मुझे धन मिले और मैं उसमें सुख मानूँ यह मोह है । मैं मिखारी होऊँ, खाने का दुःख हो, फिर भी मेरे इस चोरी या किन्हीं दूसरे प्रलोभनों में न पड़ने में जो बात मौजूद है वह मुझे आनन्द प्रदान करती है ।”

गाँधी जी के कथन से स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थों से प्राप्त होने वाला सुख, सुख नहीं अपितु सुखाभास मात्र है । आनन्द का सच्चा स्रोत तो अपने अन्दर ही है अतः उसे अन्दर से ही खोज कर निकालना होगा । आध्यात्मिकता का परित्याग करके कोरी भौतिकता का आश्रय लेने पर आनन्द की प्राप्ति होना कदापि संभव नहीं है ।

इस संसार में सदा से दो प्रकार की भावनाएँ मनुष्यों के अन्दर रहती आ रही हैं । एक को हम आसुरी भावनाएँ कहते हैं और दूसरी को दैवी । जो व्यक्ति सांसारिक सफलताओं की प्राप्ति में अर्थात् इन्द्रिय सुखों के सम्पूर्ण साधन जुटा लेने में और उनका भोग करने में ही प्रयत्नशील रहते हैं, धन सम्मान और पदवियों के अभिलाषी बने रहते हैं वे अपने इन भौतिक प्रयासों के कारण आत्मा और आत्मा के लाभ को सर्वथा मुला बँटते हैं । उन्हें हम आसुरी भावनाओं के स्वामी कह सकते हैं ।

वे भूल जाते हैं कि हम चाहे जितने भोग भोगें मगर उनका अन्त न कभी आया है और न ही आया किन्तु हमारी उम्र इस तृष्णा का गड्ढा भरते-भरते ही पूरी हो जाएगी । अर्थात् हम भोगों को शान्त नहीं कर पायेंगे और ये भोग शरीर व इन्द्रियों के नष्ट होते ही हमें छोड़ देंगे ।

मुस्लिम शायर जोक ने कहा है—

दुनिया से जोक रिश्तये-उल्फत को तोड़ दे ।
जिस सर का ये बाल उसी सर पे जोड़ दे ॥

परं जीक नहीं छोड़ेगा इस पीरा जाल की ।
यह पीरा जाल गर तुझे चाहे तो छोड़ दे ।

कवि का कहना है कि मनुष्य को चाहिए तो यह कि वह संसार के प्रति मोह को समाप्त कर दे तथा यह आत्मा जिस परमात्मा का अंश है उसी में उसे मिला दे किन्तु जीक का कथन है कि लोग दुनिया को नहीं छोड़ते, चाहे दुनिया ही उन्हें निकम्मा करके त्याग देती है । अपनी इस आसुरीवृत्ति के कारण वे ऐसे निविड़ पाप कर्मों का बन्धन कर लेते हैं कि सच्चे आनन्द का अनन्तकाल तक भी अनुभव नहीं कर पाते ।

किन्तु दैवी भावनाएँ रखने वाले भव्य पुरुष महापुरुषों के उपदेश सुनकर तथा शास्त्र श्रवण करके अपने आत्मा की पहचान कर लेते हैं तथा उसमें रहे हुए सद्गुणों को एवं उसमें रही हुई अनन्तशक्ति व चमत्कारिक कलाओं को जगा लेते हैं । भगवान के उपदेशों को सुनकर वे सचेत हो जाते हैं और दैवी भावनाओं के स्वामी बनकर जान लेते हैं कि इन समस्त भौतिक सुखों से परे भी कोई सुख व आनन्द है जिसकी तुलना में संसार के सम्पूर्ण सुख तुच्छ हैं । वे धीर वीर और संयमी पुरुष जीवन के रहस्य, उसके लाभ और उसकी ऋद्भुत शक्ति को जानकर आशा और तृष्णा पर सदैव के लिए विजय प्राप्त कर लेते हैं । संसार के प्रति मोह को त्याग कर आत्मा से नाता जोड़ते हैं । वे महापुरुष स्वयं तो जाग्रत हो ही जाते हैं, संसार के अन्य प्राणियों को भी जगाने के लिए कहते हैं—

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासी ।
तद्ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पं ॥
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य—
भोगावयः कृपण लोकमता भवन्ति ॥

— भर्तृहरि

कहते हैं— हे प्राणियो ! तुम तो अजर, अमर अविनाशी एवं शान्तिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करो । संसार के मिथ्या अंजालों में कुछ भी नहीं है । ये सब अनित्य और असार हैं अतः उस अभूतपूर्व परमानन्द की प्राप्ति का प्रयत्न करो जिसके समक्ष पृथ्वी परिते महाराजाओं का आनन्द भी सर्वथा तुच्छ दिखाई देता है ।

मतलब यही है कि संसार के भोग-विलासों में तनिक भी आनन्द नहीं है, उनमें तुम जो आनन्द मान हो वह क्षणिक है । सच्चा आनन्द कहीं बाहर प्राप्त नहीं हो सकता वह तो अपनी आत्मा से ही प्राप्त हो सकता है ।

महात्मा कबीर ने भी कहा है—

ज्यों नयनन में पूतली, त्यो मालिक घट मांहि ।
मूरख नर जाने नहीं, बाहर दूँढ़न जांहि ।।
कस्तूरी कुण्डल बसे मृग दूँढ़े बन मांहि ।
ऐसे घट-घट ब्रह्म है, दुनिया जाने नाहि ।।

जिस प्रकार आँखों में पुतलियाँ हैं, उसी तरह हृदय में परमात्मा है किन्तु मूर्ख व्यक्ति उसे दूँढ़ने के लिए बाहर भागते फिरते हैं ।

दूसरा उदाहरण मृग का दिया गया है । कहा है—कस्तूरी हिरण की अपनी नाभि में ही होती है किन्तु वह उसे खोजने के लिए बन-वन में भटकता है ।

आशय कहने का यही है कि सच्चा आनन्द एवं मोक्ष प्राप्ति का स्थान तो मानव की अपनी आत्मा ही है पर दुर्बुद्धि के कारण वह उस आनन्द को संसार के भोगों में पाना चाहता है और कुछ व्यक्ति अगर भोगों से विरक्त हो जाते हैं तो साधु सन्यासी का भेष धारण करके मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा आदि स्थानों में या तीर्थ स्थानों में भगवान को खोजते फिरते हैं । दोनों ही प्रकार के व्यक्ति अज्ञान में रहते हैं । न उन्हें आनन्द ही प्राप्त हो पाता है और न भगवान ही । इसका कारण कवि सुन्दरदास जी बताते हैं—

कोउक जात प्रयाग बनारस कोउ गया जगन्नाथहि धार्व ।
कोउ मथुरा बदरी हरिद्वार सु कोउ गंगा कुरुक्षेत्र महाध्व ॥
कोउक पुष्कर ह्वं पंच तीरथ दौरहि बौरिजु द्वारिका आध्व ।
सुन्दर चित्त गइयो घर मांहि सु बाहर दूँढ़त क्यों करि पाव्व ॥

सरल और सीधी-साधी भाषा में कवि ने कितनी रहस्यपूर्ण बात कह दी है कि जिस प्रकार घर में गड़ा हुआ धन बाहर दूँढ़ने से नहीं मिल सकता, उसी प्रकार जो परमात्मा अपनी आत्मा में ही निहित है, वह प्रयाग, काशी, गया, पुरी, मथुरा, कुरुक्षेत्र और पुष्कर आदि तीर्थों में कैसे मिल सकता है ?

तो बन्धुओं, मैं आपको यह बता रहा था कि जो ज्ञानी पुरुष होते हैं उनके हृदय का नाता अविच्छिन्न रूप से प्रभु से जुड़ा रहता है । उनका चित्त दुनिया-दारी की झंझटों से मुक्त और निर्मल, भावनःएँ शुद्ध और क्रियाएँ निष्कपट होती हैं । प्राणी मात्र के प्रति उनकी अपार करुणा और स्नेह की भावना होती है । उनके श्रुत ज्ञान-रूपी, नेत्र सदा खुले रहते हैं और इसीलिये वे कभी कोई निन्दित कर्म नहीं करते और अपनी आत्मा को पतन के रास्ते पर

नहीं जाने देते। वे भली-भाँति जान लेते हैं कि कर्म-बन्धनों के मूल कारण राग और द्वेष ही हैं, जब तक इन्हें नहीं जीत लिया जाता, स्वर्ग और मुक्ति की कामना निरर्थक है।

साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है भगवान महावीर के शिष्य स्वयं गौतमस्वामी को भी भगवान के प्रति जब तक राग भाव रहा, वे केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सके। यद्यपि उनका भगवान के प्रति प्रशस्त राग था। देव, गुरु और धर्म के प्रति जो राग होता है वह प्रशस्त कहलाता है तथा संसार के अन्य पदार्थों के प्रति रहा हुआ राग अप्रशस्त की कोटि में आता है।

तो अपने गुरु के प्रति भी गौतम स्वामी का प्रशस्त राग था किन्तु उसके कारण भी उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकी। कई बार इसके लिए उनके मन में बड़ा ख्याल आया और—

एक दिन गौतम मन चिंतवे जी,
मने क्यों न जपजे केवल ज्ञान ?
खेद पाभ्या प्रभु देखने,
बुलाया श्री वर्धमान जी।

अर्थात् एक दिन गौतम स्वामी बड़े दुःख पूर्वक विचार करने लगे कि मेरे अनेक गुरु भई केवल ज्ञान की प्राप्ति करते जा रहे हैं किन्तु मुझे वह क्यों नहीं प्राप्त होता ?

उनकी इस विचारधारा को सर्वज्ञ प्रभु ने जान लिया और उन्हें अपने समीप बुलाकर परम स्नेह से कहा—

धारे ने स्हारे गोयसा, घणा काल नी प्रीत।
आगे ही आपाँ भेला रह्या, बलि लोड़ बड़ाई नी रीत जी।
मोह कर्म ने लीजो जीत ओ, केवल भाड़ी छे याही भीत जी।

क्या कहा भगवान ने ? कहा था—हे गौतम ! तुम्हारा और मेरा बहुत समय यानी बहुत जन्मों से स्नेह चला आ रहा है। बड़े-छोटे बनते हुए इसी प्रकार हम पहले भी साथ रहे हैं। पर अब तुम मेरे प्रति रहे हुए मोह को जीतो। क्योंकि तुम्हें केवल ज्ञान प्राप्त होने में माय्य यही एक रुकावट है।

इसी प्रकार मस्तक पर मंडराता हुआ केवल ज्ञान गौतम स्वामी को प्राप्त नहीं हो सका था, जब तक उनका भगवान के प्रति प्रशस्त या विशुद्ध राग रहा। जब उनका चिंतन इसके विपरीत चला और उन्होंने विचारा कि आत्मा का कोई नहीं है सब अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं किसी पर भी राग रखना निरर्थक है, तो क्षण भर में उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। राग दशा से ऊपर आते ही उनके लक्ष्य की पूर्ति हुई और सिद्ध बने।

तो हमारा विषय आज यही चल रहा है कि हमें वीतराग के बचनों पर विश्वास करना चाहिये तथा उन्हें हृदयंगम करते हुए आचरण में उतारना चाहिये। अगर हमारे श्रुतज्ञान रूढ़ी चक्षु उधड़े रहेंगे तो हमारा मन कभी भी निन्दित कर्मों को करके कर्मों का बन्धन नहीं करेगा। उसटे प्रतिक्षण यह विचार करेगा कि जीवन के अमूल्य क्षण एक-एक करते निकले जा रहे हैं और जीवन का कुछ भी लाभ नहीं मिल पा रहा है। ऐसी ही विचारधारा वाले किसी कवि ने कहा है—

वे ही निसि वे ही दिवस, वे ही तिथि वे बार ।
 वे उद्यम वे ही क्रिया, वे ही विषय विकार ॥
 वे ही विषय विकार, सुनत देखत अरु सूँघत ।
 वे ही भोजन भोग जागि सोवत अरु ऊँघत ॥
 महा निसज यह जीव, भोग में भयौ विदेही ।
 अजहं पलटत मांहि, कदत गुण वे के वे ही ॥

कवि ने अपनी कुण्डलिया में मन के सच्चे पश्चाताप का कितना सुन्दर चित्र खींचा है? कहा है—पूर्व की तरह ही दिन, रात, तिथि, वार, नक्षत्र मास और वर्ष आते हैं तथा जाते हैं। उसी तरह हम खाते-पीते सोते-जागते तथा काम-धन्धे करते हैं। कोई भी परिवर्तन दिख ई नहीं देता। जिन निरर्थक कार्यों को पहले करते थे अब भी उन्हें ही बारम्बार किये जा रहे हैं। यद्यपि हम देखते हैं कि इन्हें करने से भी हमारी इन्द्रियों को कभी तृप्ति नहीं हो पाती, हमारी लालसा कभी समाप्त नहीं होती फिर भी महान आश्चर्य है कि हम इस असार और मिथ्या संसार से मोह नहीं त्यागते।

बन्धुओ, जो व्यक्ति ऐसा सोचते हैं वे शर्नैः-शर्नैः अवश्य ही अपने आपको बदल लेते हैं। उनका पश्चाताप निरर्थक नहीं जाता और सुबह का भूला हुआ जिस प्रकार शाम को घर आ जाता है, उसी प्रकार वे भी अपने आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। चाहिए मनुष्य में आत्म-कल्याण की सच्ची लगन और सच्चा पुरुषार्थ। इन दोनों के सहारे वे अनन्त कर्मों की निर्जरा करके भी अन्त में मुक्ति प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।





२७ जीवन को नियंत्रण में रखो

धर्मप्रेमी बंधुओं, माताओं एवं बहनों !

भगवान महावीर ने मनुष्य जीवन को सार्थक करने के दो कारण बताए हैं। एक श्रावकधर्म और दूसरा साधुधर्म।

यहाँ एक बात आपको ध्यान में रखनी चाहिए कि श्रावकधर्म और गृहस्थधर्म में बड़ा भारी अन्तर है। कहने में हम आप सभी को श्रावक कहते हैं, किन्तु वास्तव में आप सब श्रावक नहीं कहला सकते। श्रावक आप सभी कहला सकते हैं, जब कि श्रावक धर्म के लिए बनाए हुये नियम या व्रत अंगीकार करें। जब तक व्रत अंगीकार नहीं किये जाते और अंगीकार कर लेने पर उनका पालन नहीं किया जाता, तब तक अनेकानेक अनर्थ जीवन में घटने की आशंका बनी रहती है।

टेढ़ी खीर

आप सोचते होंगे कि श्रावक के व्रतों का पालन करना कौनसा कठिन काम है ? आखिर तो श्रावक भी हमारे जैसे गृहस्थ ही होते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है, श्रावक धर्म का पालन करना भी टेढ़ी खीर है। कभी-कभी तो ऐसे प्रसंग आते हैं कि श्रावक को अपने प्राणों का बलिदान भी देना पड़ता है। सुदर्शन सेठ श्रावक थे किन्तु एक पति व्रत के धारी होने के कारण उन्हें सूली की सजा दी गई थी। यह तो उनके धर्म का प्रभाव था कि सूली भी सिंहासन बन गई। अरण्य भी श्रावक थे, पर देवता के द्वारा धर्मत्याग का कहने पर भी उनके इन्कार करने से उन्हें जहाज समान जल में डूबने की नौबत आई। सती सुभद्रा भी श्राविका थी और उसके अपने धर्म और व्रतों का पूर्णतया पालन किये जने से घर-घर में गाई जाने वाली कलक की कहानी भी यश प्राप्ति का कारण बनी।

कहने का अभिप्राय यही है कि श्रावकधर्म का फल तो प्राणी महान् यश और पुण्य के रूप में मिलता ही है किन्तु उनका पालन करने में कभी-कभी बड़ी विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं।

जब तक आप व्रत ग्रहण नहीं करते आपको कहीं कोई दिक्कत महसूस नहीं होती और आप खुले रहते हैं, किन्तु व्रत ग्रहण करने के पश्चात् आपकी मर्यादा में रहना पड़ता है। रात्रि भोजन का आप त्याग करते हैं तो समय पर खाना पड़ेगा। दिशा की मर्यादा की है तो उससे आगे नहीं जा सकते। धन की सीमा निश्चित कर ली है तो सीमा से अधिक नहीं रख सकते। अहिंसा सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का भी पालन करना होगा। इस प्रकार जितना त्याग किया जाय उसका पालन भी चाहे जितनी परेशानियाँ क्यों न सामने आएँ, करना तो पड़ेगा ही। व्रतों का ग्रहण करना अपने आपको एक सीमा में बाँध लेना होता है जिसका आपको उल्लंघन नहीं करना चाहिए। ऐसा करने पर ही आप सच्चे श्रावक कहला सकते हैं। आपका जीवन मर्यादित सन्तुलित और सुन्दर बना सकता है। नदी जब तक अपने दोनों किनारों के बीच में बहती है, तभी तक उसकी महना है। अगर वह अपनी सीमा अर्थात् अपने किनारों को तोड़कर वह निकलती है तो लोग उससे भयभीत होकर यत्र-तत्र भागने लगते हैं।

इसी प्रकार श्रावक धर्म का पालन करना भी सहज नहीं है काफी कठिनाइयों से भरा हुआ है किन्तु हमारा साधु धर्म तो और भी कड़क है उसमें कोई सीमा या छूट नहीं है। पाँच महाव्रतों का पूर्णतया पालन करना पड़ता है।

आपको जानने की जिज्ञासा होगी कि यह सब तकलीफें और परीपह किसलिए सहन करना? उत्तर यही है कि बिना त्याग और तप के जीवन विशुद्ध नहीं बन सकता। त्याग के अभाव में इन्द्रियाँ भोगों की ओर वेतहासा दौड़ती हैं उन पर संयम नहीं रखा जा सकता। मनुष्य जीवन-भर भोगों को भोगकर भी तृप्त नहीं होता भले ही वृद्धावस्था क्यों न आ जाय।

इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है—

अवश्यं यातारश्चरतर मुषित्वाऽपि विषया ।
 विद्योगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयमभूम् ॥
 ब्रजन्तः स्वातंत्र्यादतुल परित्तापाय मनसः ।
 सः यं त्यक्त्वा ह्येते शम-सुखंमन्तं विदधति ॥

विषयों को हम चाहे जितने दिनों तक क्यों न भोगें, एक दिन वे निश्चय ही हमें छोड़कर अलग हो जाएँगे। ऐसी स्थिति में मनुष्य उन्हें स्वयं अपनी इच्छा से ही क्यों न छोड़ दे क्योंकि इस जुदाई में फर्क ही क्या है कि मनुष्य उन्हें नहीं छोड़ेगा तो वे मनुष्य को छोड़ देंगे। उस स्थिति में उसे बड़ा

दुख और क्लेश होगा। पर अगर मनुष्य अपनी इच्छा से उन्हें छोड़ दे तो उसे इस जीवन में संतोष और उसके बाद अनन्त सुख और शान्ति प्राप्त होगी।

वस्तुतः जो लोग विषयों को स्वेच्छा से त्याग देते हैं उन्हें बड़ा आत्म-संतोष प्राप्त होता है। किन्तु जिन्हें जीवन के अन्त में जबरन त्यागना होता है उनका अन्त अति विकलता में होता है। इसलिए बुद्धिमान और ज्ञानवान को समय रहते ही समस्त धन-दौलत और स्त्री पुत्रादि से मोह ममत्व को हटा लेना चाहिए। तथा इच्छा पूर्वक त्याग करने के पश्चात् पुनः उन्हें ग्रहण करने की स्वप्न में भी कामना नहीं करनी चाहिए। त्याग करके पुनः ग्रहण करना और दान देकर भी पुनः उसे लेना किसी वस्तु का वमन करके उसे फिर से ग्रहण करने के समान है। इसी कारण राजा इषुकार की रानी कमलावती ने राजा को प्रतिबोध देकर स्वयं भी संयम मार्ग को अपनाया था।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के चौदहवें अध्याय में इस पर विशद वर्णन है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—भृगु पुरोहित उसकी पत्नी तथा उनके दो पुत्र इन चारों ने एक साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली। भृगु राज्य पुरोहित थे अतः उनके यहाँ अगर सम्पत्ति थी। जब चारों घर से निकल गए तो राज्य के नियमानुसार कि वारिस न होने पर धन राज्य कोष में जाता है, पुरोहित का धन गाड़ियों में भर भरकर राजमहल की ओर आने लगा।

रानी कमलावती ने झरोके से यह देखा तो राजा से पूछा—“यह धन कहाँ आ रहा है।”

राजा ने बताया—“भृगु पुरोहित ने सपरिवार दीक्षा ले ली है और उनके धन का अब कोई वारिस नहीं है अतः यह सब राज्यकोष में जमा किया जा रहा है।”

रानी को यह जानकर अत्यन्त दुःख हुआ और उसने राजा इषुकार से कहा—

धंतासो पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसिओ ।

माहणेण परिच्चत्तं, धणं आयाउमिच्छसि ॥

— उत्तराध्ययन सूत्र १४-३८

अर्थात्—हे राजन् ! वमन किये हुए को पुनः खाने वाला कभी प्रशंसा का पात्र नहीं होता और आप तो ब्राह्मण द्वारा त्यागे हुए धन को ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं।

रानी के कहने का तात्पर्य यही था कि राज्य के पुणोहित को आपने ही तो ममय-समय पर संकल्प करके विपुल दान दिया है और अब वे लोग दीक्षित हो गए तो क्या हुआ ? धन तो आपका दिया हुआ वही है। फिर आप कैसे इसे ग्रहण कर रहे हैं ? इसके अलावा एक बार आपने इसे त्यागा और अब ब्रह्मण ने इसे त्याग दिया तो यह तो दो बार वमन किया जा चुका है। अतः आप जैसे महाराजा को ऐसा हेय पदार्थ कभी भी पुनः स्वीकार नहीं करना चाहिए। ऐसा करने पर आप वान्ताशी कहलाएँगे और संसार में प्रशंसा के योग्य नहीं बनेंगे उलटे तिरस्कार के पात्र बन जाँएँगे।

राजा इक्षुकार रानी की बात पर हँस पड़ते हैं तथा कहते—“रानी ! राज्यकार्य को तुम क्या जानो ? हम राजा हैं, संसार में रहते हैं और फिर पुरोहित। जब घर में रहते थे तब तक धन हमने लिया नहीं। अब तो वे उसे छोड़ ही गए हैं फिर उस अपार धन राशि से राज्यकोष क्यों न भरा जाय।

रानी कमलावती के गले से यह बात नहीं उतरी। उसने पुनः अपनी बात को दोहराते हुए राजा की तृष्णा को लक्ष्य करके कहा—

सर्वं जग जइ तुहं, सर्वं वावि धणं भवे ।

सर्वं पि ते अपज्जत्रं, नेव ताणाय तं तव ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४-३६

क्या कहा रानी ने ? यही कि महाराज ! यदि सारा जगत आपका हो जाय, समस्त धनादि पदार्थ भी आपके हो जाय अर्थात् विश्व का सब कुछ आपका हो जाय तो भी वह आपकी तृष्णा को पूरा करने में समर्थ नहीं हो पाएगा। उस पर भी यह सब मृत्यु आदि के कष्टों के समय तनिक भी सहायता नहीं करेगा न ही उससे रक्षा कर सकेगा। सब यों ही ओर यहीं पड़ा रह जायेगा।

राजा इक्षुकार को रानी की ऐसी बातों से बड़ी झुंझलाहट हुई और वे बोले—“जब तुम इतना जान रखती हो ता स्वयं ही दीक्षा क्यों नहीं ले लेती ?”

पति की बात सुनकर कमलावती ने तुरन्त उत्तर दिया—“महाराज ! मैं तो संसार छोड़ने के लिए इमी क्षण तैयार हूँ। मेरी आत्मा तो पिजरे में पड़े हुए पक्षी के रूप में छटपटा ही रही है, केवल आपकी आज्ञा की ही देर है। किन्तु मैं चाहती हूँ—

इमे य बद्धा फन्दन्ति, मम हृत्थज्जमागय ।

ययं च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४-४५

देवी कमलावती का कथन है - हे आर्य ! मैं तो संयम ग्रहण करना चाहती हूँ पर साथ ही यह भी चाहती हूँ कि ये क म-भोग आदि जो नाना प्रकार से सुरक्षा करने पर भी अस्थिर हैं, पर हमारे हस्तगत हैं और जिसमें हम आसक्त हैं इन सब को जिस प्रकार मृगपुरोहित छोड़कर चले गए हैं, इसी प्रकार हम दोनों भी इनका परित्याग करके संयम मार्ग पर चलें ।

रानी की शुद्ध व आंतरिक भावना में बड़ी शक्ति थी इसलिये उसने अनेक उहाह्वण देते हुए राजा को वैराग्य की ओर प्रवृत्त कर लिया । परिणाम स्वरूप राजा इषुकार और रानी कमलावती दोनों ने ही संयम ग्रहण करके अपनी आत्मा का उद्धार किया ।

कहने का अभिप्राय यही है कि व्रतों को अंगीकार करना तथा जीवन में त्यागवृत्ति को अपनाना बड़ा कठिन है । ऐसा वे ही महापुरुष कर सकते हैं जो देवी शक्ति से अलंकृत होते हैं । जिनके हृदय में वैर, विरोध, राग और द्वेष को स्थान नहीं होता जो कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, धर्म, अधर्म, न्याय और अन्याय का विचार करते हैं और जो सम्पूर्ण जगत से निस्पृही बनकर रहते हैं ।

संस्कृत में एक श्लोक है—

उदारस्य तृणं विल्लं, शूरस्य मरणं तृणम् ।

विरक्तस्य तृणं सार्या, निस्पृहस्य तृणं जगत् ॥

जो व्यक्ति उदार होता है उसके लिए धन तिनके के समान होता है । उनकी दृष्टि में मिट्टी और सोना बराबर होता है । ऐसे उदार व्यक्ति बिरले ही होते हैं । पर पृथ्वी किसी भी काल में ऐसे महापुरुषों से शून्य नहीं रहती । अने बम्बई चातुर्मास के समय मैंने सुना था कि एक पारसी बन्धु ने एक ही वक्त में पैंतीस लाख रुपये दान में दे दिये थे । परोपकारी व्यक्ति तो अपना सर्वस्व भी दान में देने से नहीं हिचकिचाते । इसलिए कहा गया है—

परोपकारः कर्त्तव्यः प्राणैरपि धनैरपि ।

परोपकारं पुण्यं न स्यात् क्रतु शतैरपि ॥

—धन और प्राण सभी से परोपकार करना चाहिए; क्योंकि परोपकार के पुण्य के बराबर सौ यज्ञों का भी पुण्य नहीं होता ।

सर्वोत्तम फल

एक सेठ बड़ा धर्मिया था । उसने अनेक यज्ञ करवाए और अपना करोड़ों का धन उनमें खर्च कर दिया । परिणाम यह हुआ कि वह स्वयं निर्धन हो

गया। तब एक दिन उसकी सेठानी ने सलाह दी कि तुम अपने दो-चार यज्ञों का फल राजा को देकर उनसे धन ले आओ ताकि हमारा जीवन-यापन हो सके। सेठ राजी हो गया।

रवाना होते समय सेठानी ने सेठ को राह में खाने के लिए कुछ रोटियाँ बनाकर रख दीं। सेठ चलते-चलने एक वन में पहुँचा और भूख लग जाने के कारण एक पेड़ के नीचे रोटियाँ खाने बैठा। किन्तु ज्योंही वह रोटी में से घ्रास तोड़ने बैठा उसने देखा कि पेड़ की कोटर में एक कुतिया ब्याई हुई मरणासन्न अवस्था में पड़ी है। कई दिनों से तेज वर्षा होने के कारण वह खाने की तलाश में जा नहीं सकी थी।

सेठ ने जब यह देखा तो अपनी समस्त रोटियाँ उस कुतियाँ को खिला दी तथा आप भूखा-प्यासा राजा के समक्ष पहुँचा राजा ने सम्मान से सेठ को बिठाया और वहाँ आने का कारण पूछा। सेठजी ने अपनी सारी हालत राजा को बता दी और अपने आने का कारण भी बताया कि वह उनके पास कुछ यज्ञों का फल बेचने आया है।

राजा के दरबार में एक महा विद्वान ज्योतिषी था, अतः राजा ने उससे पूछा - 'इन सेठजी के कौन से फल सर्वोत्तम है?'

ज्योतिषी ने सोच विचार कर कहा—'महाराज ! इन्होंने जितने भी यज्ञ किये हैं उन सब के फलों में सर्वाधिक उत्तम फल इनके उस परोपकार का है जो कि अपनी समस्त रोटियाँ राह में कुतिया को खिलाकर किया है। आप उस फल को खरीद लीजिये।'

राजा ने सेठजी से इस विषय में पूछा। किन्तु सेठजी अपने उस एकमात्र परोपकार के पुण्य-फल को देने के लिये तैयार नहीं हुए और वैसे ही बिना कुछ लिये लौटने को तत्पर हो गए।

किन्तु राजा भी बड़े उदार थे। अतः उन्होंने सेठ के यज्ञों का या उनके परोपकार का, किसी का भी फल न खरीदते हुए उन्हें विपुल धन देकर ससम्मान विदा किया।

सारांश यही है कि संसार में उदारता के समान और कोई गुण नहीं है तथा जो उदार होता है वह अपने धन को या जो कुछ भी आपका अपना कहलाता है उसे तृण के समान समझता है।

श्लोक में दूसरी बात कही गई है—'शूरस्य मरणं तृणम्।' यानी शूरवीर के लिये मरना तिनके के समान है।

जो पुरुष सच्चे शूरवीर या बहादुर होते हैं वे मृत्यु की रंचमात्र भी परवाह नहीं करते। हमारे यहाँ एक मेजर साहब जो अपने ही समाज के व्यक्ति हैं प्रायः दर्शनाथ आया करते हैं। एक दिन मैंने उनसे पूछा—“आप कहाँ रहते हैं ?” वे बोले—महाराज ! मुझे बाँडर पर रहना पड़ता है। ओर वहाँ हमारी जान हथेली पर रहती है। किन्तु देश की सेवा करने में मुझे इतनी प्रसन्नता होती है कि मरने का तनिक भी भय नहीं लगता किसी भी क्षण मरने के लिये तैयार रहता हूँ।”

इतिहास उठाकर देखने पर भी हमें ज्ञात होता है कि सरदार भगतसिंह राजगुरु और सुखदेव जैसे अनेकानेक देशभक्तों ने हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान किया है। इसके अलावा केवल देश के लिये ही नहीं, धर्म और परोपकार के लिये भी अनेकों वीरों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग करने में रंचमात्र भी हिचकिचाहट नहीं की। हमारे धर्म-शास्त्र बताते हैं कि आप ही के जैसे अनेकों श्रावकों में आने धर्म को न त्वागने में मरणांतक उपसर्ग सहन किये हैं तथा अपने धर्म की रक्षा की है। अनेक राजाओं ने तो शरणागत की रक्षा करने के लिये भी अपने प्राणों की आहुतियाँ दी हैं। तो श्लोक यही कहता है कि जो शूरवीर होने हैं उनके लिये इस देह से आत्मा का पृथक् हो जाना एक तिनका टूट जाने से अधिक महत्व नहीं रखता।

श्लोक की तीसरी बात है - विरक्त पुरुष के लिये स्त्री तृण के समान है।

इस कथन का यही आशय है कि जो व्यक्ति काम-विकारों के प्रलोभनों को जीत लेता है उसके लिये भोगविलास और नारी तृण के समान महत्त्वहीन साबित होते हैं। देखा जाय तो संसार में चारों ओर नाना-प्रकार के प्रलोभनों का जाल बिछा हुआ है। किन्तु सृष्टि के समस्त प्रलोभनों में सबसे बड़ा प्रलोभन है काम-विकार। यह प्रलोभन इतना जबदस्त और व्यापक होता है कि प्रत्येक प्राणी इसके चंगुल में फँसा रहता है।

राजा भर्तृहरि ने तो यहाँ तक कह दिया है—

आसंसारं त्रिभुवमिदं, चिन्वतां तात तादृङ् ।
 नैवास्याकं नयनपदवीं श्रोत्रधत्तमगितो वा ।
 योऽयं धत्ते विषयकरिणी गाढरूढाभिमान—
 क्षीवस्थान्त ककरणरिणः संयमालान-लीलाम् ॥

कहते हैं—“भाई ! मैं सारे संसार में घूमा और तीनों भुवनों में खोज कर ली, किन्तु ऐसा कोई मनुष्य मैंने न देखा और न ही सुना, जो अपनी

कामेच्छापूर्ण करने के जिये हथिनी के पीछे दौड़ते हुये मदोन्मत्त हाथी के समान मन को वश में रख सकता है।”

तो बन्धुओ, इनके भी कहने का आशय यह है कि बिषय-विकार बड़े शक्तिशाली होते हैं और इन्हें जीतना बड़ा कठिन है। किन्तु ये जीते ही नहीं जा सकते यह कहना भी उचित नहीं है। अगर इन काम-भोगों को जीता नहीं जाता तो हमारे तीर्थंकर एवं अवतारी पुरुष आज किस प्रकार हमारी श्रद्धा और पूजा के पात्र बनते? आज भी अनेक साधु और साध्वियाँ बाल ब्रह्मचाची मिलते हैं तथा अन्य सब भी संयमी जीवन अपना लेने के बाद पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

समय पर आया हूँ

वासवदत्ता मथुरा की अपूर्व सुन्दरी एवं सर्वश्रेष्ठ नर्तकी थी। हजारों व्यक्ति उसकी एक-एक मुसकान के लिये तरसते थे। एक दिन उसने अपने वातायन से देखा कि अत्यन्त सुन्दर एवं युवा भिक्षु पीला वस्त्र ओढ़े तथा भिक्षा-पात्र हाथ में लिये मार्ग से गुजर रहा है।

वासवदत्ता उस भिक्षु को देखकर अत्यन्त मोहित हुई और शीघ्रतापूर्वक नीचे आकर पुकार उठी—“भन्ते !”

भिक्षु समीप आया और नर्तकी के सामने खड़े होकर उसने अपना भिक्षा का पात्र आगे बढ़ा दिया। किन्तु नर्तकी बोली—“आप ऊपर चलि ! यह मेरा महत्त, मेरी सम्पत्ति और मैं स्वयं आपकी होना चाहती हूँ। आप मुझे स्वीकार कीजिए।”

भिक्षु ने उत्तर दिया—“मैं तुम्हारे पास फिर कभी आऊँगा।”

उत्सुकता से वासवदत्ता ने पूछा “कब पधारेंगे आप ?”

“जब वक्त आएगा।” कहते हुए भिक्षु उपगुप्त वहाँ से जागे चल दिये।

कई वर्ष व्यतीत हो गए और वासवदत्ता अपने दुराचरण के कारण भयंकर रोगों का शिकार बन गईं। उसका गगनचुम्बी भवन और अपार सम्पत्ति, सभी कुछ उससे अलग हो गए और वह स्वयं आश्रय रहित होकर सड़क के एक किनारे पर पड़ी थी। शीर पर मैले-कुर्चले और फटे कपड़े थे तथा शरीर पर अनेक घाव थे जिनसे दुर्गन्ध निकल रही थी।

एकाएक भिक्षु उपगुप्त उधर से आ निकले और वासवदत्ता को पहचान लेने के कारण शीघ्र उसके पास आकर बोले—“वासवदत्ता ! इधर देखो, मैं आ गया हूँ।”

रोगिणी नर्तकी ने बड़ी कठिनाई से अपनी आँखें खोलों और भिक्षु को पहचान कर बोली—“कौन, भिक्षु उपगुप्त तुम अब आए हो ? अब मेरे पास क्या रखा है ? मेरा जीवन, सौन्दर्य, धन आदि सभी कुछ नष्ट हो गया ।” कहती हुई नर्तकी रो पड़ी ।

“पर मेरे आने का समय भी सभी हुआ है वासवदत्ता”, कहते हुए भिक्षु उपगुप्त ने शान्ति से उसके समीप बैठकर उसके घावों को धोना शुरू किया । कुछ दिनों में औषधोपचार से वासवदत्ता का सौन्दर्य पूर्ववत् आकर्षक हुआ । तब भिक्षु उपगुप्त ने कहा कि, अब परमात्मा के बताए हुए मार्ग पर चलो अर्थात् ब्रह्मचारिणी बनकर तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर जो आत्माएँ विचलित हुई थीं, उनको सन्मार्ग पर लगावो और उनके जीवन को सार्थक बनावो । वासवदत्ता ने भी उस भिक्षु के वचनों को शिरोधार्य किया व उस कार्य में सफल बनी ।

इस प्रकार संसार में अनेक नरपुंगव ऐसे होते हैं जो काम-विकारों की सर्वथा जीत लेते हैं और भोग-लालसा का त्याग करके अपनी आत्मा को उन्नत बनाते हुए साधना के मार्ग पर बढ़ते हैं ।

अब श्लोक का अन्तिम चरण सामने आता है :—

निस्पृहस्य तृणं जगत् । यानी जो निस्पृही मानव होता है उसके लिये समग्र संसार ही तिनके के समान मूल्यरहित साबित होता है ।

जिसके हृदय में जगत के प्रति सच्चा वैराग्य उत्पन्न हो जाता है वह सदा मध्यस्थभाव में रमण करने लगता है । उसे न कोई पदार्थ प्रिय लगता है और न अप्रिय । न किसी भी वस्तु पर उसका राग होता है और न किसी व्यक्ति से द्वेष । राग और द्वेष ही संसार-भ्रमण कराने वाले होते हैं :—

“रागो य दोसोऽपि य कम्म बीजं”

—राग और द्वेष ही समस्त कर्मों के बीज हैं ।

इन्हीं दो दोषों के कारण आत्मा अपने स्वरूप से अलग हो जाता है तथा उसकी भयंकर दुर्गति होती है । इस संसार में जितने भी कष्ट, संकट और वेदनाएँ भुगतनी पड़ती हैं उनका कारण यही राग और द्वेष की ही जोड़ी है । यही आत्मा के विवेक पर पर्दा डालकर बुद्धि को भी भ्रष्ट करती है ।

किन्तु जो भव्य प्राणी अपनी आत्मा को सम्पूर्ण कष्टों और सम्पूर्ण उपाधियों से मुक्त करना चाहते हैं वे सर्वप्रथम किसी भी पदार्थ और प्राणी को न प्रिय मानते हैं, न अप्रिय । अपितु सबके प्रति उपेक्षणीय भाव रखते

हैं। वे भली-भाँति जान लेते हैं कि जब तक इन समस्त दुःखों की जड़ राग और द्वेष को पराजित नहीं किया जाएगा, तब तक आत्मा को वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकेगी और न ही उसे अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि ही होगी।

इसीलिये मुमुक्षु जीव सांसारिक प्रलोभनों को जीतने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रतों या महाव्रतों को धारण करके त्याग और तपस्यामय जीवन व्यतीत करते हैं। आत्मा-साधना के इस मार्ग पर अगर वे दृढ़तापूर्वक चलते हैं तो राग-द्वेष का नाश होकर वीतराग-दशा की प्राप्ति होती है और फिर उस आत्मा को सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी होने में देर नहीं लगती।

अतएव बन्धुओ, अगर हमें भी अपनी आत्मा का कल्याण करना है तो यथाशक्ति व्रत-नियमों को अपनाना चाहिये ताकि हमारा जीवन संयमित बन सके तथा दिन-दिन हमारी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर हो सके।





विजयादशमी को धर्मिय बनाओ !

धर्म प्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आज विजयादशमी का विशिष्ट दिन है। वैसे तो प्रत्येक तिथि एक महीने में दो बार आती है, दसमी भी उभी प्रकार आती जाती रहनी है। किन्तु आज की इस तिथि से पहले 'विजय' शब्द लगाया जाता है और इस विशिष्ट शब्द का प्रयोग एक वर्ष में एक बार ही इस तिथि के लिये किया जाता है। इसका वारण आप सभी जानते हैं कि आज के दिन धर्मावतार रामचन्द्रजी ने रावण पर विजय प्राप्त की थी।

यद्यपि रावण के पास अपार दौलत, असीम शक्ति तथा बड़ा भारी सैन्य-बल था तथा रामचन्द्रजी से मुकाबला करने के लिये अनेक प्रकार के साधन मौजूद थे। राम के पास यह सब कुछ नहीं था किन्तु धर्म, न्याय, नीति और मर्यादा पालन की भावना का जबदस्त बल था। उस बल के कारण ही राम ने वनवासी होते हुए भी सोने की लंका के स्वामी महाबली रावण पर इसी विजयादशमी को विजय प्राप्त की थी।

आध्यात्मिक दृष्टि से विजयादशमी कैसे मनाई जाय ?

महर्षि वाल्मीकि ने और महाकवि सन्त तुलसीदासजी ने विशाल रामायण की रचना की है, जो आज संसार के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में गिनी जाती है तथा घर-घर में उसका प्रतिदिन पाठ किया जाता है। प्रत्येक मनव उस ग्रन्थ से चाहे तो अनेक शिक्षाएँ ले सकता है। महापुरुषों का सम्पूर्ण जीवन ही शिक्षाप्रद होता है।

हमारे कविकुल भूषण पूज्यपाद श्रीतिलोक ऋषि जी महाराज ने भी अपने दस वाक्यों में रामायण से लिये जाने वाले ज्ञान को गागर में सागरवत् भर दिया है। सर्वप्रथम उन्होंने कहा है :—

विजयादसमी दिन विजय करो—
तुम ज्ञान दृष्टि कर नर नारी ।
धर्म दशहरा करलो उमंग से,
मिथ्या मोह—रावण भारी ॥ टेरे ॥

कवि ने मुमुक्षु को प्रेरणा दी है— इस विजयादसमी के दिन तुम भी विजय प्राप्त करो, यशस्वी बनो ! पर कैसे यशस्वी बनना और किस प्रकार विजय प्राप्त करना ? उत्तर भी पद्य में ही है कि इस दशहरे को तुम मिथ्यात्व रूपी रावण को मारकर धर्म दशहरे के रूप में मनाओ ।

यद्यपि बाह्य शत्रुओं को मारना भी सहज नहीं है उसके लिये भी साहस और शक्ति की आवश्यकता है किन्तु आन्तरिक शत्रु तो इतने जबर्दस्त होते हैं कि उन्हें जीतना अत्यन्त ही कठिन है तथा उसके त्रिये महान् आध्यात्मिक बल और साधना की आवश्यकता है । तो सम्यक्त्व की प्राप्ति करना, अपनी श्रद्धा भजवृत्त बनाना तथा मोह एवं मिथ्यात्व रूपी रावण का जीतना ही मुक्ति के इच्छुक के लिये सच्ची विजयादसमी मनाना है ।

कवि ने आगे कहा है :

ए संसार सागर के अन्वर कर्म रूप अब थब पानी ।
भ्रम रूप पड़े भँवर इसी में, डूब जात जहाँ जग प्राणी ॥
तीन दण्ड त्रिकूट द्वीप है, लालच लंका बंक बणी ।
महामोह रत्नश्रवा नामक राक्षस राजा इसमें धणी ॥
ब्लेस केकसी राणी है उसकी अकलदार समझो जहारी ।

धर्म दशहरा..... १ ॥

इस संसार रूपी समुद्र में कर्म-जल लबालब भरा हुआ है । प्रत्येक प्राणी कर्मों के इस जल में डूबता उतराता रहता है । कोई जिज्ञासु प्रश्न करेगा— समुद्र में तो भँवर होते हैं, फिर इस संसार-सागर में भँवर कौन से हैं ? उत्तर है—इस संसार समुद्र में भ्रम रूपी भँवर बड़े जबर्दस्त हैं । स्वर्ग कहीं है या नहीं ? नरक भी वास्तव में है या यों ही व्यक्ति डरते रहते हैं इसी भ्रम में पड़े हुए व्यक्ति भँवर में फँस जाते हैं तथा पतन की ओर अग्रसर होते हुए पूर्णतया डूब जाते हैं ।

पद्य में आगे कहा है—‘तीन दण्ड त्रिकूट द्वीप है ।’ कौन से दण्ड और त्रिकूट ? मन, वचन और काया ये तीन दण्ड हैं । किसी जीव को काया योग है, किसी को मन योग और किसी को वचन योग है । यही तीन त्रिकूट आध्यात्मिक दृष्टि से कहे जाते हैं ।

अब पूछा लंका कौन सी है ? उत्तर दिया है—लालचरूपी लंका बनी

हुई है। यानी लालच ही लंका है। लंका में रावण का पिता रत्नश्रवा राक्षस राज्य करता था। आध्यात्मिक दृष्टि से इस लालच रूपी लंका में महामोह रूपी रत्नश्रवा-राक्षस रहता है। रत्नश्रवा की पत्नी या रावण की माता केकसी थी, और यहाँ महामोह रूपी राक्षस की रानी क्लेश है। जहाँ महामोह रहेगा वहाँ क्लेश तो रहेगा ही। मोहका दूसरा नाम अज्ञान भी है और जहाँ अज्ञान होगा वहाँ क्लेश न हो यह संभव नहीं है। क्योंकि अज्ञानी कभी सही मार्ग पर नहीं चलता और सही मार्ग पर न चलने वाला समाज के व्यक्तियों की हानि करके क्लेश का कारण बनता है।

किसी ने कहा भी है—

निपट अबुध समझ कहीं, बुध-जन धचन-विलास ।

कबहू भेक न जानहीं, अमल कमल की बास ॥

जो व्यक्ति महामूर्ख होता है वह विद्वानों के वचनों की उपयोगिता और सुन्दरता को नहीं समझ सकता जिस प्रकार मेंढक निर्मल कमल की बास को (सुगन्ध को)।

तो जहाँ महामोह अथवा अज्ञान होता है वहाँ धर्म, नीति तथा न्याय आदि नहीं रह पाते और इनके विरोधियों के कारण क्लेश का साम्राज्य बना रहता है।

कवि ने अपने आगे के पद्य में बताया है कि महामोह राजा के तीन पुत्र हैं, जिस प्रकार रावण, विभीषण और कुम्भकर्ण तीन पुत्र रत्नश्रवा राक्षस के थे।

पद्य इस प्रकार है—

मिथ्यामोहनी उसका फजद, दस मिथ्या दस जानन है ।
बोस आश्रव की सुजा हैं उसके, कपट विद्या की खानन है ।
सम्यक्त्व मोहनी विभीषण दूजा, नंदन सो कुछ है न्यायी ।
मिश्र मोहनी कुम्भकर्ण ए, सचपिच बात में अधिकारी ।
महामोह के ए तिहें नंदन, समझो सुगुणा नर नारी—

धर्म दशहरा... ॥ २ ॥

कवि ने रत्नश्रवा के रावण, विभीषण और कुम्भकर्ण जैसे पुत्रों की महामोह के मिथ्या मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय से बड़ी सुन्दर उपमा दी है। बताया है—

महामोह का सबसे बड़ा पुत्र है—‘मिथ्या मोहनीय ।’ रावण के दस मुखों के समान मिथ्यात्व मोहनीय के भी दस मुख हैं। वे क्या हैं ? दस प्रकार के मिथ्यात्व, यथाजीव को अजीव माने और अजीव को जीव माने, धर्म को अधर्म माने और अधर्म को धर्म माने अमुक्त को मुक्त और मुक्त को अमुक्त तथा साधु को असाधु और असाधु को साधु मानना आदि दस प्रकार के मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व मोहनीयरूपी रावण के दस मुँह हैं ।

अब आप कहेंगे— रावण के तो बीस मुजाएँ थीं मिथ्यात्व मोहनीय के बीस मुजाएँ कौन-कौन सी हैं ? उत्तर यही है कि जहाँ मिथ्यात्व रहेगा वहाँ आश्रव भी रहेंगे। आश्रव यानी पाप के आने के रास्ते ! बीस प्रकार के आश्रव ही उसकी बीस मुजाओं के समान हैं। इसके अलावा रावण जैसा घोखेबाज और कपटी था उसी प्रकार ‘मिथ्यात्व मोहनीय’ भी कपट विद्या की खान ही है।

अब रावण के दूसरे भाई विभीषण का नम्बर आता है। विभीषण ने बार-बार अपने भाई को समझाया था—‘सीता को वापिस कर दो क्योंकि दूसरे की वस्तु चुरा लाना और अपने पास रखना अधर्म है ।’

तात्पर्य यह है कि विभीषण न्याय मार्ग पर चलता था और इसी प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय भी होता है जो मानव को प्रशस्त मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है।

अब तीसरा भाई मिश्र मोहनीय है जो कभी उधर और कभी उधर विचारों की तरंगें बहाता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कुंभकर्ण था जो रावण के समीप जाता तो रावण की हाँ में हाँ मिलाता था और जब विभीषण के पास जाता था उसे भी प्रसन्न रखने को कोशिश करता था। आप यह कहावत भी कहा करते हैं—

‘गंगा गए गंगादास, जमुना गए जमुनादास ।

इसी प्रकार मिश्र मोहनीय की प्रकृति है जो दुलमुल बनी रहती है। अब कवि आगे कहते हैं—

परपंच नाम मंदोदरी नामे, मिथ्यामोह रावण रानी ।
विषय इन्द्रजित अहं मेघवाहन मिथ्या रावण के सुखवानी ॥
कुमति नाम चन्द्रनखा बहन है, कठिन क्रोध सर के अग्नी ।
दूषण दूषण तीन शत्य त्रिशिरा, ए दोनु ही उसके सार ॥
संज्वलतिक चन्द्रनखा शबुक कछ एक आयो होशियारी—

धर्म दशहरा... ॥ ३ ॥

रावण की पत्नी मंदोदरी थी और यहाँ मिथ्यामोहनीय रावण की पत्नी परंपंच या माया कहलाती है। अब प्रश्न है—रावण के लड़के कौन ? रावण को बड़ा घमण्ड था कि मेरा बड़ा पुत्र इन्द्रजीत है जिसने इन्द्र को भी जीत लिया था तथा दूसरा पुत्र मेघवाहन है जो मेघ के समान शत्रु-समूह में गर्जना करने वाला है।

यहाँ भी मिथ्यामोहनीय रूपी रावण के दो पुत्र बताए गए हैं—पहला विषय और दूसरा अहंकार। इन्द्रजीत के समान विषय भी अत्यन्त शक्तिशाली हैं। इन्हें जीतना भी बड़ा कठिन है। कहा भी है—

मिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ॥
वस्त्रं च जीर्णं-शतखण्डमलीनं कन्धा ।
हा हा तथाऽपि विषया न परित्यजन्ति ।

—भर्तृहरि

ऐसा व्यक्ति जो कि भीख माँग-माँगकर एक ही वस्तु नीरस और अलोना खाता है, जिसे ओढ़ने-बिछाने के लिए भी वस्त्र न होने और पलंग तकिया न होने के कारण धरती पर सोना पड़ता है, जिसका कोई भी सगा सम्बन्धी नहीं होता केवल उसकी देह के अलावा, जिसके वस्त्र जीर्ण-शीर्ण बने रहते हैं तथा ओढ़नेवाली कथड़ी में सँकड़ों चीथड़े लटकते हैं। खेद है कि ऐसे लोग भी विषयों को नहीं त्यागते फिर वैभवशाली और धनिक व्यक्तियों का तो कहना ही क्या है ? वे विषयों को कैसे जीत सकते हैं।

इसलिए विषयों को मिथ्यमोह रूपी रावण के शक्तिशाली पुत्र इन्द्रजीत को उपमा दी है। इस मिथ्या मोह का दूसरा पुत्र अहंकार बताया है। रावण का दूसरा पुत्र मेघवाहन जिस प्रकार गर्व के कारण गर्जना करता था इसी प्रकार अहंकार के तन्त्र में चूर व्यक्ति दुनिया के किसी प्राणी की परवाह नहीं करता। वह भूल जाता है कि मेरे गर्व का परिणाम क्या होगा ? केवल यही कि उसका पतन होना अनिवार्य हो जाएगा।

इसीलिए कबीर ने कहा है—

धन अह यौवन को गरब कबहूँ करिये नाहि ।
देखत ही मिट जात है, ज्यों बादर की छाहि ।

अर्थात्—धन अथवा यौवन किसी का भी मनुष्य को गर्व नहीं करना

चाहिए क्योंकि जिस प्रकार बादल की छाया हवा से हट जाते ही मिट जाती है, उसी प्रकार धन व यौवन भी अल्पकाल में ही विलीन हो जाते हैं ।

तो गर्व अथवा अहंकार मिथ्या मोहनीय का दूसरा पुत्र है जो अपने समय में तो किसी को भी कुछ नहीं समझता तथा गर्दन टेढ़ी करके ही चलता है किन्तु अल्पकाल में ही उसका गर्व चूर-चूर हो जाता है ।

रावण की एक बहन थी, जिसका नाम चंद्रनखा था किन्तु सूप के समान बड़े-बड़े नाखून होने के कारण उसे शूर्पनखा भी कहते थे । शूर्पणखा ने ही अपने भाई रावण को कुबुद्धि प्रदान की थी यह कहकर कि--“तुम्हारे अन्तःपुर में इतनी रानियाँ हैं पर आज मैं जिसे देखकर आई हूँ उसके सामने ये सब कुछ भी नहीं हैं ।” बहन के कथन के कारण ही रावण ने सीता का हरण किया और उसे निर्वास हो जाना पड़ा ।

इसी प्रकार मिथ्या मोह की बहन कुबुद्धि है जो प्राणी को कुमार्ग पर चला कर कुमति प्रदान करवाती है । कुबुद्धि ऐसा क्यों करती है ? क्योंकि उसका विवाह क्रोध-रूपी खर के साथ हो जाता है । दोनों का संयोग मिलने से ही भयंकर घटनाएँ घटती हैं ।

खर के दो भाई थे—दूषण और त्रिशिरा । क्रोध रूपी खर के भी दो भाई हैं—पहला दूषण अर्थात् अवगुण और दूसरा त्रिशिरा रूप तीन शल्य—माया शल्य यानी कपट, निदानशल्य यानी निदान करना कि मेरी अमुक करनी का अमुक फल मिले । तीसरा मिथ्यादर्शन शल्य अर्थात् गलत श्रद्धा रखना ।

खर के एक पुत्र था शंबूक । एक बार वह अपने मामा रावण के यहाँ गया तो वहाँ पर उसने सूर्यहंस खड्ग को देखा । देखकर उसके हृदय में अभिष्ट इच्छा हुई कि मुझे भी सूर्यहंस खड्ग प्राप्त करना है । कवि ने उसके विचारों को अपने पद्य में लिखा है—

ज्ञान रूप सूर्य हंस खड्ग कूँ साधन की दिल में आई ।
मात-पिता कः हुषम न माना रह्या वो उपशम बन माँई ॥
उसी बखत में रामराज गृहि दश लक्षण दशरथ राया ।
संबर भावना राणी कौशल्या धर्म राम पुत्र जाया ॥
समकित भुमित्रा रानी दूसरी, सत लक्ष्मण की महतारी ।
धर्म दशहरा ॥ ४ ॥

शंबूक के हृदय में सूर्यहंस खड्ग को प्राप्त करने की बलवती इच्छा हुई

और उसने अपने माता-पिता से यह बात कही। माता-पिता ने इरुके लिए इन्कार किया क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए बारह वर्ष तक ओंधे लटके रहकर साधना करनी आवश्यक थी। पर शंबूक माना नहीं और उसने खड्ग की साधना के लिए एक झाड़ी में ओंधे लटककर साधना प्रारम्भ कर दी। प्रतिदिन उसकी माता शूर्पनखा उसे आहार देकर आती है और शंबूक जंगल में ही रहता है। यहाँ जंगल कौन-सा ? 'उपशम' यानी ऊपर की शान्ति।

तो शंबूक उधर तपस्या कर रहा है और इधर राजा दशरथ के पुत्र राम-चन्द्रजी को वनवास होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से दशरथ, क्षमा मादंभ, आर्जव आदि दस लक्षणों वाले धर्म को कहा गया है। जहाँ धर्मावतार राम का जन्म होगा वहाँ माता-पिता भी शुद्ध और सर्वोत्तम होने चाहिए। तो पिता दस लक्षणयुक्त धर्म और माता भानी गई है संवर भावना ! जिसे वीशल्या माता कहा जा सकता है। पाप क्रियाओं के रूकने पर संवर भावना आती है, दूसरे शब्दों में पाप-रूपी जल को रोकने के लिए पाल के समान काम करने वाली भावना संवर भावना कहलाती है। वह वहीं रहेगी जहाँ धर्म रहेगा।

दशरथ की दूसरी रानी सुमित्रा थी। सुमित्रा यहाँ हम किसे कहेंगे ? सम्यक्त्व यानी श्रद्धा को। तो इस श्रद्धारूप सुमित्रा ने सत्य रूप लक्ष्मण को जन्म दिया। जहाँ श्रद्धा होगी सत्य अवश्य होगा। यहाँ ध्यान में रखने की बात है कि जहाँ धर्म होगा वहाँ सत्य होगा और जहाँ सत्य रहेगा वहाँ धर्म अनिवार्य है। सत्य को छोड़कर धर्म नहीं रहता और धर्म को छोड़कर सत्य नहीं रह सकता। इसीलिए धर्म रूप राम के साथ ही सत्य-रूपी लक्ष्मण भी वनवास में साथ गए और साथ ही रहे।

एक बात और बताने की जो रह गई कि रामचन्द्रजी का विवाह सीता से हुआ था और यहाँ धर्मरूपी राम का विवाह किस के साथ हुआ। यह बात अगला पद्य बता रहा है—

सुमति सीता से धर्म राम का बहुत ठाट से विवाह भया ।
 एक दिवस वो पिता हुक्म से तीनों ही संयम वन में गया ॥
 सत्य लक्ष्मण वो खड्ग पकड़कर सजल संबुक का सिर धाया ।
 कुमति चन्द्रनखा कही पति सुं, खर वृषण त्रिशिरा धाया ॥
 सत्य लक्ष्मण तब चढ़े सामने, उन तीनों कुं लिया मारी—
 धर्म दशहरा...॥ ५ ॥

धर्म रूपी राम का सुमति रूपी सीता के साथ विवाह बड़े ठाट-बाट से

हुआ। पर कँकेयी के वरदानों को देने के लिए वचनबद्ध होने के कारण एक दिन धर्म-रूपी राम, सत्य-रूपी लक्ष्मण और सुमति रूपी सीता तीनों ही वन में चले गए। वन हम कौन-सा लेंगे ? संयम, रूपी, अर्थात् संयम रूपी वन में धर्म, सत्य और सुमति तीनों गये।

एक बार उस वन में विचरण करते समय लक्ष्मण की दृष्टि उस सूर्यहंस खड्ग पर पड़ी जो साधनारत शंबुक की साधना के बल पर उसी समय उसके लिए आया था।

खड्ग को देखते ही लक्ष्मण के चित्त में कौतूहल उपजा कि यहाँ ऐसी कौन-सी चमकदार वस्तु पड़ी हुई है उन्होंने उसे उठाने के लिए हाथ बढ़ाया और लक्ष्मण स्वयं भी वासुदेव के अवतार थे अतः हाथ बढ़ाते ही खड्ग उनके हाथ में आ गया। संयोग की बात थी कि उस अमूल्य वस्तु के लिए बारह वर्ष से साधना तो शंबुक कर रहा था पर वह हाथ लगा लक्ष्मण के।

खड्ग ज्योंही लक्ष्मण के हाथ में आया उन्होंने सोचा—है तो यह सुन्दर खड्ग ही पर कुछ कार्य भी करता है या नहीं ? यह देख तो लूँ। अर्थात् कहीं यह केवल गरजने वाले बादल के समान ही तो नहीं है कि चमकदार होते हुए भी इसमें धार ही न हो। इस भाव से उन्होंने सहज भाव से उस खड्ग को उभरी झाड़ी पर चला दिया जिसके अन्दर शंबुक औंधे मुह लटका हुआ था। पैर ऊपर थे और तिर नीचे। खड्ग चला और उससे झाड़ी समेत पल भर में शंबुक का मस्तक भी कट गया।

मस्तक के धड़ से अलग होते ही लक्ष्मण की दृष्टि उस ओर गई कि उनके हाथ से यहाँ अनर्थ हो गया है अर्थात् एक पुरुष मारा गया है तो उन्हें अपार खेद हुआ और अनजान स्थिति में मारे जाने वाले व्यक्ति की पहचान का प्रयत्न करने लगे कि यह कौन है ? इतने में ही शूर्पनखा पुत्र के लिये खाना लेकर आई पर उसको मृत देखते ही विलाप करने लगी तथा लक्ष्मण को नाना प्रकार से उपालम्भ देने लगी। लक्ष्मण ने अपने अज्ञान दशा में किये गये अपराध के लिये शूर्पनखा से बारम्बार क्षमायाचना की तथा आन्तरिक-खेद प्रकट किया।

किन्तु पुत्र-शोक से विह्वल शूर्पनखा महाक्रोध से भी भर गई और अविलम्ब घर जाकर अपने पति और देवर से बोली—“कौंसा राज्य करते हो तुम ? तुम्हारे राज्य में ही मेरे निरपराध पुत्र को लक्ष्मण ने मार डाला। धिक्कार है तुम्हें।”

शूर्पनखा के शब्द सुनकर खर, दूषण और त्रिशिरा तीनों भाई लक्ष्मण को मार डालने के लिए आये किन्तु वासुदेव लक्ष्मण का वे क्या बिगाड़ पाते ? वे तीनों स्वयं ही मारे गये ।

अब जरा मन की गति का चमत्कार देखिये ! शूर्पनखा का पुत्र मारा गया तथा पति और देवर भी समाप्त हुए । किन्तु मन का चमत्कार था कि शूर्पनखा लक्ष्मण का देव रूप सौन्दर्य देखकर मोहित हो गई और उनसे बोली — “लक्ष्मण ! तुम मुझे बहुत अच्छे लगे हो और मैं पूर्णतया तुम पर अनुरक्त हो गई हूँ अतः मुझे स्वीकार करो ।”

किन्तु वासुदेव के अवतार तथा उत्तम पुरुष लक्ष्मण भला किस प्रकार ऐसा अनाचार कर सकते थे ? उन्होंने उत्तर दिया—“तुम मेरे लिए माता और भाभी के समान हो । क्योंकि प्रथमतः मेरे ज्येष्ठ बन्धु श्री रामचन्द्रजी के समीप आगने प्रार्थना की है अतः मैं तुमसे कैसे विवाह कर सकता हूँ ? यह कदापि सम्भव नहीं है ।”

लक्ष्मण का यह उत्तर सुनकर शूर्पनखा जो कि कुमति का रूप थी उसकी मति फिर बदल गई । मन के विषय में सत्य ही कह है—

कबहूँ मन गगना चढ़े, कबहूँ गिरे पताल ।

कबहूँ चुपके बैठता, कबहूँ जाबें चाल ॥

मन के तो बहु रंग हैं, छिन-छिन बदले सोय ।

एक रंग में जो रहे, ऐसा बिरला होय ॥

वस्तुतः मन कभी तो ऊपर की ओर अर्थात् उत्तम विचारों की ओर अग्रसर होता है और कभी नीचे की ओर यानी अधमता की ओर गिरता है । इस प्रकार इसके अनेक रंग हैं जिन्हें वह क्षण-क्षण में बदल सकता है ।

शूर्पनखा के मन की भी ऐसी गति हुई । पुत्र के मार जाने पर पहले शोक विह्वल, फिर प्रार्थना का स्वीकार नहीं होने पर क्रोध से लाल-पीली हो गई । पति तथा देवर आदि के मारे जाने पर लक्ष्मण को देखकर काम-त्रिकार के चंगुन में जा फँसी पर उसमें भी सफल न होने से वैर की आग में जलने लगी तथा किस प्रकार अपने निरश्कार का बदला लूँ यह विचारती हुई अपने भाई महाशक्तिशाली रावण के पास पहुँची । और वहाँ जाकर क्या किया, यह अगले पद्य में बताया जा रहा है—

मिथ्यामोह रावण के पास वो सुमति सीता की करी बड़ाई ।
 सुना बहुत तब लालचवश वहाँ चल आया लंका साँई ॥
 छल विद्या का नाद सुनाकर, सुमति सीता किवी है चोरी ।
 राम लक्ष्मण जब जाना भेद ए, सोचे अब लानी है बोरी ॥
 झूठ साहस गति दृष्टि है उसकी सत लक्ष्मण की कारी ह्यारी ।

धर्म दशहरा..... ॥६॥

अब कुमति रूपी शूर्पन्खा अपने भाई मिथ्यामोह रूप रावण के समीप आई और उसके समक्ष धर्म रूपी राम की सुमति रूपी पत्नी सीता के सौन्दर्य की अत्यधिक प्रशंसा करने लगी। एक कहावत है 'करेला और नीम चढ़ा।' रावण वैसे ही महान् अहंकारी और अपनी शक्ति के नशे में चूर रहने वाला था। सोचने लगा—'संसार की सर्वोत्तम वस्तुएँ मेरे पास ही होनी चाहिए।' अगर सीता इतनी रूपवती है तो उसे मेरे ही अन्तःपुर की शोभा बढ़ानी होगी।

प्रत्यक्ष में बहून से बोला—“ऐसी बात है तो मैं सीता को बात की बात में ले आता हूँ।”

कहने के अनुसार उसने किया भी। पर राम व लक्ष्मण वासुदेव तथा बलदेव के अवतार थे, अतः महान शक्तिशाली होने पर भी उसकी दाल उनके समक्ष नहीं गल सकती थी। अतः उसने बनावटी शंखनाद किया और राम लक्ष्मण के दूर चले जाने पर पीछे से सीता को उठाकर ले गया।

जब रामचन्द्रजी और लक्ष्मण लौटे तथा सीता को अपनी कुटिया में न पाया तो भारी शोक और चिन्ता में डूब गये तथा सीता की खोज करने लगे। खोज के दरम्यान घायल जटायु पक्षी के द्वारा पता चला कि सीता को रावण उठाकर ले गया है। इसके अलावा एक और भी बड़ी बात यह हुई कि मार्ग में नकली सुग्रीव और असली सुग्रीव की लड़ाई हो रही है तथा असली सुग्रीव पर जादूती की जा रही है। तो राम ने लक्ष्मण को इशारा किया और लक्ष्मण ने नकली सुग्रीव को मारकर असली सुग्रीव को सभी प्रकार की परेशानियों से मुक्त कर दिया।

अब देखिये कि उसका क्या परिणाम हुआ ?—

सन्तोष सुग्रीव जब भया पक्ष पर बहोत रूप उसकी संगे ।

जाम, जांबुबाहन नील नलादिक सुमन मान हनुमत अंगे ॥

खबर लाया वो स्मृति सीता की बहुत जोरावर दुनिया में ।

३४६ विजयादशमी को धर्ममय बनाओ !

दान शियत्र तप भाव की सेना लेके गये लंका छामें ॥

मिथ्या रावण सुनी बात ए कि बी आपकी हुशियारी ।

धर्म दशहरा***१७॥

जब नकली सुग्रीव को समाप्त कर दिया तो असली सुग्रीव सन्मुष्ट हो गया । सन्तोष रूपी सुग्रीव जब रामचन्द्रजी के पक्ष में हो गया तो उसके साथ बौर भी बहुत से राजा उनके साथ हो गये । महाब्रह्म रूपी जम्बुवाहन नील, नल तथा सुमन हनुमान राम के पक्ष में हो जाने पर सीता की खोज और उसे वापिस लाने की आशा बँध गई । हनुमान ने लंका में जाकर सीता को राम का सन्देश दिया और लौटकर राम को सीता की दशा के विषय में बताया ।

अब केवल एक लक्ष्य ही सामने था—रावण के चंगुल से सीता को छुड़ाना । किन्तु मिथ्यामोह रूपी रावण को परास्त करना सरल बात नहीं थी उनके लिए भी तो सैन्य बल चाहिए था । पर उनके पास सेना कौन-सी थी ? केवल दान, शील, तप और भाव की चतुरंगिणी सेना लेकर वे लंका पहुँचे ।

जब रावण को इस बात का पता चला तो उसने भी भारी सैन्य तैयार कर लिया । पर उसकी सेना कौन-सी थी—

चार कषाय राक्षस दल मारी, कुष्यान ध्वजा के करवि ।

अपकीर्ति का बजे नगारा, विकथा का कड़खा गावे ॥

कुशील रथ में बँठा हुशियारी, सात-व्यसन शस्त्रा धारे ।

रत्न-द्वेष उमराव जोरावर, सहेज सुमट से नहि हारे ।

नय-नेत्रा सहाय घोष वे राम आय चढ़ तिणपारी ।

धर्म दशहरा***१८॥

रावण की सेना के विषय में बताया है—क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि चार कषाय रूपी राक्षसों की उसकी सेना है तथा सेना के आगे कुष्यान अर्थात् अस्तीव्यमान रौद्रध्यान रूपी ध्वजा फहराती है । रणांगण में लोग कड़खे गाते हैं तथा नगारे बजाते हैं । रावण की सेना में भी विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा) रूपी कड़खे गाये जाने लगे और अपकीर्ति के नगारे बज उठे ।

रावण कुशील रूपी रथ में बड़ी हुशियारी से बँठा है और सात व्यसन रूपी शस्त्रों से लैस हो गया है । राग और द्वेष उसके जोरावर उमराव हैं तथा इन सब के बल पर वह राम से लोहा लेने के लिए तैयार हो गया है ।

इधर राम भी जैसा कि मैंने अभी बताया था, दान, शील, तप और भाव की चतुरंगिणी सेना के आगे नीति की ध्वजा फहराते हुए तथा स्वाध्याय के नगारे बजाते हुए युद्ध भूमि में पहुँच गये ।

सत लक्ष्मण तब घोरज धनुष ले बैठे शील रथ के माँई ।

अरु बरु जब मिले आनकर, मिथ्या रात्रण कूँ रोस आई ॥

अज्ञान चक्र भेजा लक्ष्मण पर जोर चला नहीं लीगारे ।

ज्ञान चक्र जब भेजा हरि ने, एकदम में रावण मारे ॥

राम लक्ष्मण की जीत भई जब जग में भया जस भारी ।

धर्म दशहरा ॥६॥

सत्य रूपी लक्ष्मण अपने धैर्य रूपी धनुष को धारण करके शील रूपी रथ में सवार होकर आगे बढ़े । उधर से रावण भी सामने आ गया । दोनों का आमना-सामना हुआ । सत्य रूपी लक्ष्मण को देखकर मिथ्यामोह रूपी रावण क्रोध से भर गया और उसने अपना अज्ञान रूपी चक्र लक्ष्मण पर चला दिया । किन्तु अज्ञान-चक्र सत्य-रूप लक्ष्मण का क्या बिगाड़ सकता था ? उसका कोई जोर नहीं चला और वह लक्ष्मण जी की प्रदक्षिणा करने लगा । रावण ने पुनः उसे अपने हाथ में लेना चाहा पर वह लौटकर नहीं आया ।

शास्त्रों में वर्णन है—अरिहन्त भगवान्, चक्रवर्ती बलदेव और वासुदेव को कोई मार नहीं सकता । वे अपना समय आने पर ही चोला बदलते हैं । लक्ष्मण भी वासुदेव के अवतार थे अतः चक्र उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सका और उलटे उन्हीं के हाथ में आ गया । तारीफ की बात तो यह है कि वही अज्ञान चक्र वासुदेव लक्ष्मण के हाथ में आकर ज्ञान चक्र बन गया और फिर उसी से स्वयं रावण मारा गया । इस प्रकार राम व लक्ष्मण की जीत हुई और चारों तरफ उनका जय-जयकार होने लगा ।

उसके पश्चात् क्या हुआ ?—

सुमति सीता कूँ लेकर आए, मुक्ति अयोध्या राज्य करे ।

जन्म मरण भय दुःख मिटे, जहाँ राम राजा सो जग में सरे ॥

सम्बत उगणीसे साल अड़तिस का पेठ आंबोरी दक्षिण माँई ।

विजयादसमी दिल् कीवि लावणी, समझदार के दिल् माँई ॥

तिलोक रिख कहे सत्य रामायण धर्म पद यों सुखकारी ।

धर्म दशहरा ॥१०॥

३४८: विजयादसमी को धर्ममय बनाओ !

सुमति रूपी सीता को मर्यादा पुरुषोत्तम धर्म रूपी राम ने पुनः प्राप्त कर लिया । अब सवाल है—धर्म राजा राज्य कहाँ करेगा ? वहीं जहाँ मुक्ति रूपी अयोध्या है । जहाँ धर्म राजा राज्य करते हैं वहाँ जन्म-मरण का समस्त दुःख मिट जाता है । राम के पास सच्चाई थी, नीति थी, न्याय था और धर्म था इसलिए आज भी हम उन्हें याद करते हैं जबकि लाखों वर्ष व्यतीत हो गये हैं । पर रावण ने अधर्म और अनीति से काम लिया था जिसके कारण आज तक लोग नफरत से उसका नाम लेते हैं और बनावटी पुतला बनाकर जलाते हैं ।

बन्धुओ, अगर आप इस रामायण का आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन करेंगे तो आपके आत्मा का भी कल्याण होगा । धर्म की सदा जय होती है और अधर्म की पराजय । आपको भी धर्म का पक्ष लेना है, धर्म की आराधना करनी है । अगर धर्म पर आप पूर्ण श्रद्धा रखते हैं तो यह रामायण आपकी आत्मा को उन्नत बनाने में सहायक बनेगी ।



भारत-कु-श्रवण

आनन्द ऋषि

2014
ndir@ko.